# आधुनिक हिन्दी कविता

की

# स्वच्छन्द धारा

डॉ० त्रिभुवन सिंह

हिन्दी प्रचारक संस्थान

वाराणसी—२२१००१

प्रकाशक
विजय प्रकाश बेरी
हिन्दी प्रचारक संस्थान
पो० बॉ० नं० १०६, पिशाचमोचन
वाराणसी–२२१००१

प्रथम संस्करण : ११००
१९५६
द्वितीय संस्करण : २१००
१९६१
तृतीय संस्करण : ११००
१९७७

मूल्य : १५·००

मुद्रक
हिमालय प्रेस
के० ५८/१०३, बड़ा गणेश,
लोहटिया, वाराणसी-२२१००१

गुरुवर

स्वर्गीय डॉ० श्रीकृष्णलाल

की

पुण्य स्मृति में

त्रिभुवन सिंह

स्मृति प्रकाशन
१२४, शहराराबाग, इलाहाबाद

काव्य-कला नियति के नियम से परे है,
जिसकी लपेट में नियति भी पड़ी रहती
है। कविता समाधान की वह वाणी है,
जो कवि की गहन मौन अनुभूति को
मुखर करती है। जीवन की सम्पूर्णता
की अनुभूत अभिव्यक्ति ही कविता है।

# अपनी ओर से

कहने को तो यह पुस्तक का तीसरा संशोधित संस्करण है पर इसमें इतना संशोधन और परिवर्धन हो गया है कि इसे पिछले संस्करणों के क्रम में पहचान पाना कठिन है। स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्तियों की विवेचना प्रस्तुत पुस्तक में की गयी है। इसके अतिरिक्त इसमें यह भी स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है कि अन्य समकालीन साहित्यिक भाव-धाराओं का मेल इससे किस सीमा तक खाता है। यही कारण है कि अन्य साहित्यिक प्रवृत्तियों की भी सैद्धान्तिक विवेचना प्रस्तुत पुस्तक में करनी पड़ी है। इस पुस्तक के लिखने की मूल प्रेरणा मुझे छायावाद के सम्बन्ध में फैले भ्रम से ही मिली है। भ्रम निवारण में यदि प्रस्तुत पुस्तक कुछ सहायक हो सकी तो मैं अपना श्रम सार्थक समझूँगा।

स्वच्छन्द काव्य-धारा पर पड़े प्रभावों को स्पष्ट करने के लिए बीच-बीच में यथासंभव प्रतिनिधि रचनाओं को तो मैंने उद्धृत किया ही है, साथ ही साथ प्रत्येक उत्थान के प्रतिनिधि कवियों की स्वतंत्र व्याख्या भी कर दी है जिससे कि सभी पाठक पुस्तक के अभिप्रेत तक बेरोक-टोक पहुँच सकें। पुस्तक के आकार को देखते हुए मैंने प्रतिनिधि कवियों को ही चुना है जिससे यदि अन्य महत्वपूर्ण कवि छूट गये हों तो उसके लिए मैं उन कवियों और समीक्षकों से क्षमा प्रार्थी हूँ।

प्रस्तुत पुस्तक मेरी बात अपने आप कहेगी जिससे मैं इसके सम्बन्ध में कोई लम्बा चौड़ा वक्तव्य नहीं देना चाहता पर इतना अवश्य कहूँगा कि हिन्दी जगत् के सहृदय पाठकों का मैं हृदय से आभारी हूँ जिन्होंने कि इस पुस्तक के पिछले संस्करणों का अत्यधिक स्वागत कर मेरे उत्साह का वर्धन किया है। इस संस्करण के आलोक में विद्वान् पाठक यदि कोई सुझाव भेज सकें तो मैं उनका हृदय के आभार मानूँगा।

दुर्गाकुंड
मकर संक्रान्ति
१४ जनवरी १९७७ ई०

त्रिभुवन सिंह

# अनुक्रम

●

# आधुनिक हिन्दी कविता

की

# स्वच्छन्द धारा

# स्थापना

आरंभ में ही मैं इसे स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि 'आधुनिक हिन्दी कविता की स्वच्छन्द धारा' में प्रयुक्त 'आधुनिक हिन्दी कविता' का 'आधुनिक' विशेषण अत्यन्त व्यापक अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। हिन्दी साहित्य के इतिहास-लेखन क्रम में 'आधुनिक' शब्द अब विवाद का विषय बन चुका है और अधिकांश हिन्दी साहित्य के इतिहासों में आधुनिक शब्द का गृहीत अर्थ अब अपनी अर्थवत्ता समाप्त कर चुका है। हिन्दी साहित्य के इतिहास के काल-विभाजन-क्रम में जो आधुनिक शब्द सन् १८५० ई० के बाद लिखे गये अब तक के साहित्य के लिए प्रयुक्त होता रहा, अब उसे मानने के लिए किसी भी जागरूक पाठक को विवश नहीं किया जा सकता। आधुनिक काल के पुनर्विभाजन की बात अब प्राय: सभी विद्वान करने लगे हैं और 'आधुनिक' शब्द को इतिहास के क्रम में नया अर्थ देने के लिए लोग प्रयत्नशील हैं;[1] सन् १९४७ ई० अथवा सन् १९५० ई० से आधुनिक काल के आरंभ के औचित्य को अधिकांश लोग स्वीकार कर चुके हैं। ये तिथियाँ ऐसी हैं जो भारतीय सामाजिक, सांस्कृतिक, राष्ट्रीय एवं राजनैतिक जीवन में आए महान् परिवर्तनों की सूचना देती हैं। पराधीन भारत को स्वतंत्रता मिली और उसे गणराज्य के रूप में विश्व-पटल पर प्रकट होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। सारे जीवन मूल्य बदले और हिन्दी साहित्य में उन परिवर्तनों को व्यापक रूप में स्वीकृति मिली, कविता जिसका महत्व पूर्ण अंग है। अत: हिन्दी कविता के संदर्भ में भी आधुनिक शब्द का प्रयोग आधुनिक भारत (स्वतंत्र भारत) में लिखी गयी कविताओं के लिए ही समीचीन है, पर 'स्वच्छन्द धारा' को स्पष्ट करने के क्रम में मैं अपने को इस सीमा में नहीं बाँध पाया हूँ। आधुनिक शब्द का प्रयोग इस पुस्तक में मैंने उस काव्य धारा के लिये किया है जिसने परम्परा से

१. हिन्दी साहित्य : एक परिचय, द्वि० सं०—डा० त्रिभुवन सिंह ( विस्तृत विवरण के लिए देखिए। )

चली आ रही काव्य-भाषा, काव्य-शिल्प और विषय-बोध को नकार दिया है। काल के जिस विंदु पर आकर ब्रज भाषा की लोकप्रियता घटी और उसका स्थान खड़ी बोली ने लिया वहीं से आधुनिक हिंदी कविता का आरम्भ मानना चाहिए। ध्यान रहे कि आधुनिक कविता का आरम्भ और आधुनिक हिन्दी साहित्य के आरम्भ को एक साथ रखने की आवश्यकता नहीं है। ये दोनों दो चीजें हैं, इन्हें मिलाने का प्रयत्न समझदारी को ढँकने का प्रयत्न होगा। कालविभाजन के क्रम में उपर्युक्त तर्क का समर्थन मैं कदापि नहीं कर सकता। रीतिकालीन मरणोन्मुखी परिवेश से मुक्त जिस काव्य धारा को मैं आधुनिक काव्य धारा के रूप में प्रस्तुत पुस्तक में रखना चाहता हूँ उसका एक विशेष सन्दर्भ है जिसके माध्यम से ही हिन्दी कविता की स्वच्छन्दधारा को समझा जा सकता है। इस संदर्भ में प्रयुक्त आधुनिक हिन्दी कविता से तात्पर्य उस कविता से है, खड़ी बोली जिसके माध्यम की भाषा है। नवीन छन्दों एवं प्रवृत्तियों की लोक प्रियता, विदेशी साहित्य का किंचित प्रभाव, गीत-प्रगीत की बहुलता, छायावाद, रहस्यवाद, प्रगतिवाद, प्रयोगवाद और अस्तित्ववाद जैसी प्रवृत्तियों की स्वीकृति जिसकी सामान्य विशेषता है। मुक्तक छन्दों का प्रयोग आधुनिक कविता की सबसे बड़ी पहिचान है। वैयक्तिकता की भावना और बौद्धिकता के प्रति निरन्तर बढ़ती प्रवृत्ति आधुनिक हिन्दी कविता को मध्य कालीन अथवा उसके प्रभाव में लिखी जानेवाली हिन्दी कविता से पृथक करती है। आधुनिक हिन्दी कविता की उपर्युक्त विविधताओं में एकता के सूत्र की तलाश ही 'आधुनिक हिन्दी कविता की स्वच्छन्द धारा' का प्रतिपाद्य है।

इस ग्रन्थ द्वारा मैंने मुख्यतः यह स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है कि आधुनिक युग के स्वच्छन्दतावादी आन्दोलन ने हिन्दी कविता की सृष्टि में किस सीमा तक योगदान दिया है। आधुनिक युग की एक विशाल साहित्य-परम्परा से हिन्दी जगत 'छायावाद' नाम से परिचित है। विगत वर्षों में इस भावधारा को लेकर लिखे जाने वाले आलोचनात्मक ग्रन्थों की संख्या इतनी अधिक रही है कि उस अनुपात में श्रेष्ठ रचनात्मक साहित्य-ग्रन्थों की सृष्टि नहीं हो सकी है। अधिकांश प्रकाशित आलोचनात्मक ग्रन्थ इस भावधारा की वैज्ञानिक सत्यता प्रमाणित करने में असफल रहे हैं और इन ग्रन्थों के आधार पर जो सामान्य धारणायें बन गई हैं, यदि उन्हें कसौटी के रूप में मान लिया जाय तो बहुत सी श्रेष्ठ रचनाओं को इससे अलग कर देना पड़ेगा जिन्हें हम छायावाद के नाम से जानते चले आ रहे हैं।

किसी भी साहित्यिक भाव-धारा को संज्ञा प्रदान करने के पूर्व यह विचार कर लेना आवश्यक हो जाता है कि नामकरण द्वारा अभिप्रेत साहित्य की मूल प्रेरणा का प्रतिनिधित्व हो पा रहा है कि नहीं। इसके अतिरिक्त यदि अतीत साहित्य की भूमिका में उसका कहीं स्रोत मिल जाता है तो नामकरण उससे कुछ मिलता जुलता हो तो और भी अच्छा है। विचार करने पर जान पड़ता है कि 'छायावाद' की कोई उसकी अपनी पारम्परिक ऐतिहासिक पृष्ठ-भूमि नहीं है और उसके अन्दर वे सभी कविताएँ भी भरी पड़ी हैं जो 'छाया-वाद' के तथाकथित सिद्धान्तों के प्रतिकूल हैं। सच तो यह है कि स्वच्छन्दता-वादी प्रवृत्ति के अन्दर आने वाली सभी कविताओं को हम 'छायावाद' के नाम से जानने लगे हैं। 'स्वच्छन्दता' एक ऐसा शब्द ही है कि जिससे नवीनता का आभास होता है, जिसमें प्राचीनता के निर्मोक का त्याग और नूतनतम आकांक्षाओं के प्रति जागरूकता का उद्बोधन निहित है। 'स्वच्छन्द-तावाद' शब्द रोमांटिसिज्म की तौल पर गढ़ा हुआ शब्द है। रोमांटिसिज्म पाश्चात्य साहित्य में एक विशाल विचार धारा के रूप में व्याप्त है जो वहाँ की सामाजिक परिस्थितियों की पुकार पर उठ खड़ा हुआ था। यह एक सामा-जिक आन्दोलन के साथ हिन्दी साहित्य में आया जिससे इसने व्यक्ति के सभी सामाजिक अंगों को प्रभावित किया है। प्रस्तुत पुस्तक में मैंने इसकी क्रमिक विकास-भूमि तथा इसके द्वारा लाये गये सामाजिक मूल्यों में परिवर्तन की समुचित व्याख्या की है।

दीर्घकाल तक अंग्रेजी राज्य के शासन में रहने के कारण उनकी सांस्कृ-तिक एवं साहित्यिक रुचियों का प्रभाव भारतीय साहित्य पर भी पड़ा है। सर्वाधिक प्रभाव तो साहित्यिक अभिरुचियों पर इसलिए पड़ा कि अंग्रेजी-साहित्य का अध्ययन प्रायः अनिवार्य हो गया था। प्रभाव ग्रहण करने में बंग-देश सर्वप्रथम रहा है और प्रायः सभी प्रवृत्तियाँ देर या सबेर वहाँ अंग्रेजी साहित्य से छन कर गई हैं। ऐसा ही प्रभाव हिन्दी कविताओं ने भी ग्रहण किया है। 'छायावाद' नामक शब्द का जो प्रचलन हिन्दी साहित्य में हुआ उसकी यथार्थता पर तो मैंने अत्यधिक बल नहीं दिया है किन्तु दार्शनिक-पृष्ठ-भूमि पर छायावाद की व्याख्या करनेवाले आलोचकों को मैंने चुनौती अवश्य दी है। अब तक भी मुझे संदेह है कि 'छायावाद' नाम की किसी साहित्यिक भावधारा को हिन्दी साहित्य में स्वीकार कर लेना समीचीन होगा। मैंने स्वच्छन्दतावाद को छायावाद का एक अंग नहीं बल्कि छायावाद को

स्वच्छन्दतावाद का शैलीगत एक अंग माना है। 'रोमांटिसिज्म' शब्द के लिये मैंने स्वच्छन्दवाद तथा स्वच्छन्दतावाद शब्दों का प्रयोग किया है। 'रोमांटिक' शब्द का 'रोमांस' तथा 'रोमांटिसिज्म' आदि शब्दों के साथ पाश्चात्य साहित्य के आधार पर ऐतिहासिक व्याख्या प्रस्तुत करने का मैंने प्रयत्न किया है। जहाँ कहीं भी मैंने हिन्दी कविताओं का प्रसंग उठाया है वहाँ कभी भी मेरी प्रवृत्ति कवि-सूची उपस्थित करने की नहीं रही है, केवल उस युग की प्रतिनिधि रचनाओं से यदि काम चल सका है तो मैंने चलाने का प्रयत्न किया है।

मैं यह दावा तो नहीं कर सकता कि समस्त आधुनिक काव्य की मूल-प्रेरणा शक्ति के रूप में स्वछन्दधारा को प्रतिष्ठित कर मैंने अन्य स्वीकृत काव्य-प्रवृत्तियों के साथ पूर्णतः न्याय किया है, पर इतना अवश्य कह सकता हूँ कि ऐतिहासिक क्रम में आधुनिक हिन्दी कविता को देखने का जो मैंने प्रयत्न प्रस्तुत पुस्तक में किया है, उससे समय-समय पर काव्य जगत में परिवर्तन लाने वाली शक्तियों को स्पष्ट देख पाने में सहायता अवश्य मिलेगी। किसी भी साहित्य की मूलवृत्ति को समझने एवं उसकी आत्मा से साक्षात्कार करने के लिये जिस समझदारी की आवश्यकता होती है, उसे ऐतिहासिक दृष्टि कहते हैं। आधुनिक हिन्दी कविता की स्वच्छन्द धारा को प्रस्तुत करने में मैंने उसी ऐतिहासिक दृष्टि का सहारा लिया है कि जिससे आधुनिक हिन्दी कविता को समझने के लिये उस पर से विवादों के मलवे को हटाया जा सके। हिन्दी-कवियों को ठीक से समझने और समीक्षात्मक धरातल पर उन्हें प्रस्तुत करने के मार्ग में जो सबसे बड़ी कठिनाई है, वह यह कि उनकी रचनाओं में विषय, भाव एवं शैलीगत वैविध्य की बहुलता है। इतना ही नहीं बल्कि एक ही कवि की एकाधिक मान्यतायें एवं प्रतिपादित दर्शन के भी दर्शन उसकी रचनाओं में मिल जाते हैं। यह स्थिति केवल आधुनिक कवियों की ही नहीं है, आदिकाल से लेकर आजतक की रचनाओं में उसे सहज ही ढूँढा जा सकता है। वीर रस के कवियों ने घोर श्रृङ्गार, भक्त कवियों ने अत्यन्त लौकिक तथा श्रृङ्गारिक कवियों ने भी भक्तिपरक श्रेष्ठ रचनायें की हैं। छायावादी कवियों की रहस्य भावना और रहस्यवादी कवियों की छायावादी वृत्ति को अलग करके देख पाना सहज कार्य नहीं और कोई भी समीक्षक विश्वास के साथ नहीं कह सकता कि छायावादी अथवा रहस्यवादी कवियों में प्रगतिवाद एवं प्रयोगवाद के तत्व नहीं मिलते।

सामाजिक विकास के क्रम में जिस प्रकार परिवार का कनिष्ठतम सदस्य आगे चलकर परिवार का मुखिया और समाज का नेता बनता है, उसी प्रकार काव्य के ऐतिहासिक विकास-क्रम में किसी भी युग की महत्वहीन प्रवृत्ति आगे चलकर मुख्य धारा के रूप में प्रतिष्ठित हो जाती है। ऐसी स्थिति में उसे अलग से काटकर नहीं समझा जा सकता, जैसाकि प्रायः लोग करते हैं, उसे समझने के लिये तो उसके विकास-क्रम को समझना पड़ेगा। इसी मूल धारा को स्पष्ट करने का मैंने प्रस्तुत पुस्तक में प्रयास किया है। कुछ प्रमुख कवियों की अलग से व्याख्यात्मक चर्चा पुस्तक के अंत में इसीलिये कर दी गई है कि उनमें पाये जाने वाले वैविध्य के बीच में निरन्तर वर्तमान उस सूत्र को देखा जा सके जो देश की मनीषा एवं उसकी प्रवहमान सांस्कृतिक चेतना को अतीत से लेकर वर्तमान तक जोड़ती रहती है। स्वच्छन्दतावादी भाव धारा द्वारा लाये गये काव्यगत मोड़ों की गतिविधि का इससे सहज मूल्यांकन भी हो गया है। प्रमुख कवियों के अतिरिक्त अन्य कवियों की भी जो संक्षिप्त विवेचना अन्त में की गई है, उसके मूल में वर्तमान मेरी यही धारणा है कि इससे नवीनतम कृतियों तक स्वच्छन्द धारा के विकास-क्रम को समझा जा सकेगा। यह संभव नहीं था कि प्रस्तुत पुस्तक में प्रत्येक कवि की विस्तृत समीक्षा की जाती क्योंकि मैं इसे इतिहास-ग्रन्थ नहीं बनाना चाहता था। जिन कवियों की समीक्षा इसमें नहीं की जा सकी है उनके प्रति भी मेरे मन में आदर भाव है, पर मेरी अपनी और इस पुस्तक की कुछ सीमायें हैं, जिसके कारण ऐसा हुआ है।

●

# स्वच्छन्द धारा

कविता किसी भी साहित्य का प्रमुख अङ्ग है। आधुनिक युग में मानव-जीवन की समस्याएँ इतनी विषम हो गयी हैं, उनमें इतनी विविधता आ गयी है कि उनकी अभिव्यक्ति के कारण ही साहित्य के आज विविध रूप दिखाई पड़ते हैं। किसी भी देश के साहित्य के इतिहास पर यदि हम दृष्टि डालें तो उसका आरम्भ कविता से ही हमें मिलेगा और आज भी अनेक साहित्य-रूपों के होते हुए भी साहित्य नाम से सहसा हम कविता का ही अर्थ लगा लेते हैं। किसी भी देश का साहित्य वहाँ के जीवन और जगत का जीवित इतिहास होता है। यदि हम किसी देश के सामाजिक जीवन-जगत के विषय में ज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं, तो वह हमें उस देश के साहित्य में मिलेगा; क्योंकि साहित्य मानव-विचारों एवं अनुभूतियों की संचित निधि है। यदि साहित्य की व्याख्या करते समय उदारवादी दृष्टिकोण रखा जाय तो मानवजन्य ज्ञान-विज्ञान, धर्म, दर्शन, इतिहास, राजनीति, अर्थशास्त्र और काव्य सभी इसकी लपेट में आ जाते हैं। इतना तो अंतिम रूप से स्वीकार किया ही जा सकता है कि अधिक काल तक साहित्य और समाज एक दूसरे से अलग नहीं रह सकते। एक-दूसरे का अभिन्न सम्बन्ध है। इससे यह निर्विवाद है कि कविता के ऊपर भी मानव की तत्कालीन सामाजिक एवं राजनीतिक परिस्थितियों का प्रभाव पड़ता है। इसके साथ ही साथ कविता की कुछ स्वाभाविक दुर्वलतायें भी हैं जिसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। यही कारण हैं कि उत्तरोत्तर बढ़ती हुई मानव-समस्याओं को जब काव्य अभिव्यक्त करने में असमर्थ सिद्ध होने लगा तब युग की माँगों के अनुसार अनेक अन्य साहित्य-रूपों की उत्पत्ति हुई और आज हम देखते हैं कि गद्य साहित्य के माध्यम से ही अनेक विषम-समस्याओं के समाधान पर विचार करना सम्भव हो पा रहा है। आज के इस अत्यन्त समर्थ अंग गद्य-साहित्य के होते हुए भी जो कविता का अपना महत्व है, उसका मूल कारण है उसका आकर्षक स्वरूप तथा उसके रमाने और समस्त जीवन को अभिभूत कर देने की शक्ति।

समाज की रुचियों में जैसे-जैसे परिवर्तन होते गये, वैसे ही कविता के स्वरूप और उसके देखने की दृष्टि में भी परिवर्तन उपस्थित होता गया। यही कारण है कि आदिकाल में कविता के प्रति जो दृष्टिकोण था, वह भक्ति-काल में नहीं रहा तथा भक्तिकाल में जो रहा, वह रीतिकाल में नहीं रह पाया और जो रीतिकाल में था वह आज नहीं रह सका। समसामयिक मान्य-ताओं के अनुसार ही तत्कालीन विद्वान् कविता की परिभाषा करते रहे हैं, किन्तु इतना तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि किसी भी युग में कविता की रचना निरुद्देश्य नहीं हुई है। किसी-न-किसी रूप में हमें कविता में उस समय का समाज झाँकता हुआ अवश्य मिलेगा। इसके विरोध में यदि चाहें तो लोग कविवर तुलसीदास का मत उद्धृत कर सकते हैं कि—

'कीन्हें प्राकृत जन गुन-गाना।
सिर धुनि गिरा लगत पछिताना॥'

इस प्रकार मानव सम्बन्धी कविता, कविता की कोटि में ही नहीं आती, किन्तु बात ऐसी नहीं है। इस उक्ति को समझने के लिये हमें कवि और कविता की आत्मा को समझना होगा। महात्मा तुलसीदास जी ने जिस काल में अपनी रचनाएँ कीं वह हिन्दी साहित्य का आदि काल नहीं था जिसमें कि देश की स्वतन्त्रता अक्षुण्ण थी, भले ही आन्तरिक पारस्परिक कलह से उद्भूत रणचण्डी का नग्न ताण्डव वर्तमान था। न तो वह कवि ही था जो अपने आश्रयदाता की रुचि को उकसा कर सम्मान तथा अर्थ लाभ करता, और न तो वह समाज ही था कि ऐसी प्रवृत्तियों को प्रश्रय प्रदान करता, बल्कि तुलसीदासजी की रचनाएँ ऐसे युग की देन हैं, जिसमें देश की राजनीतिक बागडोर तुलसी की दृष्टि में विदेशी यवनों के हाथ में थी और भारतीय समाज सब प्रकार से परतन्त्र था। यह एक प्रकार की समस्या थी कि किस प्रकार सामाजिक मर्यादा और संस्कृति की रक्षा की जाय। किसी यवन आश्रयदाता की रुचि को अपनी रचना द्वारा उकसाने का अर्थ था, अपने ही हाथों अपनी संस्कृति और सभ्यता की जड़ खोदना। तुलसीदास जी ने प्राकृतजन का प्रयोग ऐसे ही व्यक्तियों के लिये किया है जिनके हाथों हम परतन्त्र थे। जब समाज में कोई ऐसा व्यक्ति सामने रह ही नहीं गया था कि जिसके पीछे हम विश्वास के साथ चल सकते तो सिवाय इसके कि एक आदर्श पुरुष की कल्पना की जाती और किया ही क्या जा सकता था। तुलसीदास जी की इस उक्ति से स्पष्ट झलकता है कि उस समय देश का नेतृत्व करने-वाला समाज में कोई ऐसा व्यक्ति नहीं था कि जिसकी स्तुति की जाती।

भक्तिकाल के समाप्त होते ही साहित्य में जब दूसरा नवीन मोड़ आया तो उस समय तक तत्कालीन परिस्थितियों से समाज समझौता कर चुका था और यवनों की छत्र-छाया में जो हास-विलास और धन-वैभव उसके हिस्से पड़ गया था, उसी में वह परम सन्तुष्ट था। यही कारण है कि कवियों की आदिकालीन प्रवृत्ति दूसरे रूप में पुनः उठ खड़ी हुई जिसमें से उस समय का अकर्मण्य कामुक विलासी समाज झाँक रहा है। जिस प्रकार समाज मौलिक-आन्तरिक एवं वास्तविक समस्याओं को छोड़कर बाहरी तड़क-भड़क के पीछे पागल हो रहा था उसी प्रकार वाह्याडम्बरों से आँखों को चौंधिया देने वाली कविता को भी साहित्य की पुण्य पीठ पर प्रतिष्ठित किया गया। एकाएक कविता स्वर्ग से धरातल पर उतर आई और यह स्वीकार किया जाने लगा कि—

**'यदपि सुजाति सुलच्छनी सुवरन सरस सुवृत्त।**
**भूषन विन न विराजई, कविता बनिता मित्त॥'**

(केशवदास)

परम पुरुष के स्थान से उतर कर कविता वनिता की कोटि में आ गई जिसके लिये उस काल का सामाजिक वातावरण उत्तरदायी है। किन्तु उस समय के लोगों ने भी इसका अनुभव किया था कि कविता वही है, जिसमें रमा देने की शक्ति के साथ-साथ सर्वग्राह्यता भी हो।

**'तंत्री नाद कवित्त-रस, सरस राग रति रंग।**
**अनबूड़े बूड़े तिरे, जे बूड़े सब अंग॥"**

(विहारी)

इसी काल में हमें कविता की उस धारा का सूत्र भी प्राप्त हो जाता है जिसका विकास आधुनिक काल की विभिन्न साहित्यिक धाराओं में हुआ है। 'घनानन्द जी ने' स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है कि—

**'लोग हैं लागि कबित्त बनावत**
**मोहिं तो मेरे कबित्त बनावत॥'**

जिसमें स्पष्ट रूप से काव्य की शास्त्रीय रूढ़ियों का तिरस्कार तथा गढ़कर कविता निर्माण की प्रवृत्ति की उपेक्षा का भाव निहित है। कविता अधिक दिनों तक परम्पराओं की शृङ्खला में वन्दिनी बनकर नहीं रह पायी और आधुनिक युग में वह समस्त अनुचित बन्धनों को तोड़ कर, युग की आवश्यकताओं तथा माँगों से बल प्राप्त कर स्वच्छन्द रूप में कवि के अन्तःकरण से फूट पड़ी, जिसमें श्रेष्ठतर जीवन की कल्पना, महत्वाकांक्षा, वैयक्तिक सम्मान तथा युग-जागरण का सम्मोहन गान निहित है।

आज जिसमें जीवन की सम्पूर्णता की अनुभूत अभिव्यक्ति का संकेत हो, वही कविता है। भावों का वह उन्मेष जो सौन्दर्य के माध्यम से तात्कालिक सुखानुभूति की सृष्टि करता है, साहित्य का सम्मानित पद प्राप्त करने का अधिकारी है। भावों के इस उन्मेष में वैयक्तिक अनुभूति की वह अपार शक्ति भर गयी है जिसके प्रवाह के वेग से शास्त्रीय परम्परित पक्के घाट टूट-फूटकर बह गये हैं और कवि भावों की पावन काव्य-सुरसरि मानव-प्रकृति के स्वच्छन्द प्रांगण में सगर-सुत सदृश वर्तमान सामाजिक तथा राष्ट्रीय विषमताओं को पूत करने के लिये प्रवाहित हो रही है। काव्य-कला नियम से परे है जिसकी लपेट में नियति भी पड़ी रहती है। कविता समाधान की वह वाणी है जो कवि की गहन मौन अनुभूति को मुखर करती है, जिसके लिये मौन अनुभूति का, जिसे चिन्तन कह सकते हैं, होना अनिवार्य है; क्योंकि यदि मौन का स्रोत सूख जाय तो वाणी निकल ही नहीं सकती। तर्क काव्य कभी नहीं हो सकता, चाहे वह महाकाव्य ही क्यों न हो; क्योंकि मर्म की वाणी ही काव्य है। कविता का जितना सम्बन्ध अनुभूति से है उतना तर्क से नहीं। वर्णन में आवरण उत्सुकता बढ़ाने का कार्य अवश्य करता है किन्तु यह ऐसा न हो कि भावों को दुर्बोध बना दे। यह आवरण ऐसा होना चाहिये जो ढंका भी हो और खुला भी; क्योंकि आवरण को हटाकर भावों को सुबोध बनाने के लिये कवि को सामने आना ही पड़ता है जैसा कि एक कवि ने कहा है—

**'पद लाख पड़ा रहे तो भी अभेद**
**के भेद को खोलना ही पड़ता है ॥**
**छिप के उर आवरणों में मुझे भी,**
**कभी-कभी बोलना ही पड़ता है ॥"**

इस प्रकार आधुनिक युग में जिस कविता द्वारा मानव-समाज की विविध समस्याओं, मनुष्यों की दैनिक अनुभूतियों तथा भावी स्वर्णिम कल्पनाओं की अत्यन्त सहज एवं स्वच्छन्द अभिव्यक्ति हो रही है, उसे हम स्वच्छन्द या स्वच्छन्दतावादी कविता के नाम से अभिहित कर सकते हैं, जो कि विभिन्न दिशाओं में विभिन्न उद्देश्यों को लेकर आगे बढ़ती दिखाई पड़ती है। इसके साथ-साथ यह स्वीकार करना ही पड़ेगा कि सहसा जो यह साहस हिन्दी-साहित्य को मिला है उसमें अंग्रेज जाति और अंग्रेजी भाषा-साहित्य का महत्त्वपूर्ण योग है।

●

# स्वच्छन्दतावाद

## रोमांस और रोमांटिक

( Romance and Romantic )

रोमांटिक सामान्य अथवा साधारण का विलोम है। स्टोडर (Stodder) का कथन है कि इस दृष्टि से इसका तात्पर्य ऐसी इच्छा के रूपान्तर से है जो सामान्य से, साधारण तुष्टि से और स्थिरता से भिन्न हो, इसके अतिरिक्त इसकी स्थिति ऐसे क्षेत्र में हो जिसमें निराधार इच्छाओं के लिये शक्तिशाली प्रयत्न होता हो।[1]

हम कह सकते हैं कि जिस साहित्य-रूप की रचना उक्त विचारधारा को सामने रखकर हुई और उससे जिस साहित्यिक परम्परा का निर्माण हुआ उसे स्वच्छन्दतावाद ( Romanticism ) के नाम से अभिहित करते हैं। स्वच्छन्द अथवा स्वच्छन्दतावाद स्टोडर ( Stodder ) के अनुसार इच्छाओं का कल्पना के क्षेत्र में अनुवाद है।[2]

रोमांटिक, शब्द के अनुरूप अर्थ नहीं रखता। यह प्रतीकों का सन्देश है और औपचारिकता से नितान्त भिन्न है।

लेटरहेज ( Laterhedge ) महत्वाकांक्षा को ही स्वच्छन्दतावाद का मूल तत्व मानता है। उसके अनुसार रोमांटिक, वैयक्तिक अभिव्यक्ति है। रोमांटिक और क्लैसिक ( स्वच्छन्द और रीति ) का वही सम्बन्ध है जो संगीत और प्लैस्टिक कला का होता है।[3]

---

1. "In the sense it means transference of desire away from common place, stay at home ordinary contentedness into region of rash attempt and vague longing".—Stodder
2. "Romanticism is translation from the probable into the fancy haunted regions of the longed for".
3. "Romantic is self reflecting; romantic relates to classic somewhat as music relates to plastic art".

प्लेस्टिक कला का सम्बन्ध बुद्धि से है, वह बुद्धिजन्य है और संगीत मानव भावों की स्वाभाविक स्वच्छन्द अभिव्यक्ति है। इस प्रकार वह स्वच्छन्दतावाद को संगीत की भाँति कवि की स्वाभाविक स्वच्छन्द अभिव्यक्ति मानता है।

'हरफोर्ड' ने इसे काल्पनिक अनुभूति का एक असाधारण विकास माना हैं।[1]

'कालरिज' ( Coleridge ) के अनुसार तो "रोमांस के लेखकों ने कल्पना के प्रभुत्व का निर्णय पर मुलम्मा किया है।"[2]

अर्थात् रोमांटिक लेखकों के साहित्यिक व्यक्तित्वों का निर्माण काल्पनिक वर्णनों के आधार पर होता है, जिन वर्णनों में न तो तर्क एवं बुद्धि का लगाव रहता है, न विचारों की एक स्थिर नियमित परम्परा मिलती है और न उनमें कोई संभावित घटना ही पाई जाती है। उसने अन्त में यह परिणाम निकला है कि स्वच्छन्द प्रवृत्तियों के अन्दर एक प्रकार का मानसिक सन्तुलन होता है जिनके द्वारा वे साधारण अनुभव के धरातल से हवा में चढ़ना चाहते हैं।[3]

इस प्रकार हम देखते हैं कि 'कालरिज' के विचार रोमांटिक काव्य के सम्बन्ध में सहानुभूतिपूर्ण नहीं थे। वह काव्य को कोरा आत्म-निवेदन नहीं मानता, क्योंकि उसका विश्वास है कि कविता आत्मनिवेदन मात्र होकर इतनी वैयक्तिक हो जायगी कि वह सार्वजनिकता के पद से च्युत हो जायगी। वह उच्चकोटि की कविता के लिए उसकी अभिव्यक्ति का एकदम परात्मक होना अनिवार्य मानता है। जब कविता बाह्य संसार से हटकर आत्मपरक होने लगती है तो वहीं से उसके अनुसार उसका पतन आरम्भ हो जाता है। किन्तु बात ऐसी नहीं है कि स्वच्छन्दतावादी कविता का बाह्य संसार से कोई सम्बन्ध ही नहीं है। स्वच्छन्दतावादी कवि अपनी वैयक्तिक काल्पनिक

---

1. "An extraordinary development of imaginative sensibility".—Herford
2- The authors of the romance have yielded to the ascendancy of imagintion over judgement.—Coleridge and his group.
3. Romances have a kind of mental balance for mounting into the air from the ground of ordinary experience."—Coleridge.

अनुभूति के माध्यम से संसार के उन अप्राप्य तथा गोप्य साधनों एवं तत्वों की अभिव्यक्ति करता है जिनके सुलभ होने से मानव-जीवन के श्रेष्ठतर होने की सम्भावना रहती है। यह सत्य है कि इस संसार में मानव की सभी इच्छाएँ पूरी नहीं होतीं, किन्तु इच्छा मात्र को समाप्त कर देने से भी कभी कोई इच्छा अपने आप पूर्ण नहीं हो सकती। जिज्ञासा एवं कामना ही मानव-जीवन के ऐसे तत्व हैं जो उसके जीवन को अधिक गतिशील रखते हैं। मानव-जीवन को गतिशील बनाना तथा प्रेरणा प्रदान करना ही स्वच्छन्दतावादी साहित्य का मूल मन्त्र है। जहाँ तक इस पर वैयक्तिकता का आरोप है, कहीं भी कोई ऐसी कविता नहीं है जो सर्वमान्य हो तथा सभी के लिये रुचिकर हो, क्योंकि संसार के सभी प्राणी एक ही रुचि के नहीं होते हैं। इसके अतिरिक्त वैयक्तिक तथा आत्मपरक होना ही स्वच्छन्दवादी कविता का एकमात्र गुण नहीं है। कवि अपनी साधना और अनुभव से निखार कर जो सबल अभिव्यक्ति करता है, वह केवल उसकी ही न रहकर सब की हो जाती है।

'फास्टर' ( Foster ) महोदय ने तो इसके सम्बन्ध में यहाँ तक कह डाला है कि यह एक साहित्यिक विचारधारा कभी बन ही नहीं सकती। 'फास्टर' का निबन्ध स्वयं अपने में ही मूल्यवान है। उसकी यह विशेषता है कि न तो उसने और न तो उसके सहयोगी समकालीन लेखकों ने इस विचारधारा के वास्तविक महत्व का अनुभव किया अथवा यह स्वीकार किया कि इसको भी अभिव्यक्ति कविता तथा आलोचना में हो सकती है। 'फास्टर' के आगे आनेवाले लेखकों की पीढ़ी ने इस विचार-धारा को विचारार्थ रखा है।

'विलियम वर्ड्स्वर्थ' के साहित्यिक जीवन के दो रूप हैं जो एक-दूसरे से केवल भिन्न ही नहीं बल्कि परस्पर विरोधी भी हैं। अपने साहित्यिक जीवन के आरम्भ का वर्ड्स्वर्थ अन्त के वर्ड्स्वर्थ' से बिलकुल भिन्न है। उसकी समसामयिक, पारिवारिक तथा वैयक्तिक परिस्थितियाँ ही ऐसी थीं जिन्होंने उसके जीवन में इतना बड़ा परिवर्तन ला खड़ा किया। आरम्भ में जो वर्ड्स्वर्थ 'एक महान्' क्रान्तिकारी तथा स्वच्छन्द विचारक था, वही जीवन के अन्त तक पहुँचते-पहुँचते परिवर्तन का विरोधी तथा शास्त्रीय कठघरों का बन्दी हो गया। आरम्भ में कविता के प्रति उसका जो दृष्टिकोण था उससे रोमांटिक काव्य के सम्बन्ध में उसके मत का ज्ञान किया जा सकता है।

उसके अनुसार 'सबल भावों के वेग की स्वाभाविक उमड़न ही कविता का रूप धारण कर लेती है।'[1]

इससे स्पष्ट हो जाता है कि उसका यही निश्चित मत था कि कि काव्यानुभूति प्रत्यक्षानुभूति कभी नहीं है और न कवि का कर्त्तव्य ही प्रत्यक्षानुभूति करना है। अत: 'वर्ड्स्वर्थ' का कहना है कि प्रत्यक्षानुभूति की दशा में काव्य का सृजन नहीं हो सकता। कविता तो सृजन है। सृजन के पीछे जो वह भावों की सबल शक्ति स्वीकार करता है वही रोमांटिक काव्य की वास्तविक प्रेरणा है। 'वर्ड्स्वर्थ' के कथन में उतना मूल्य इसलिये नहीं रह जाता कि वह अपनी इस विचारधारा को आगे नहीं बढ़ा पाता, बल्कि इसके विपरीत उसका कट्टर विरोधी हो जाता है।

जर्मन विद्वान फ्रिजस्ट्रिच ( Fritgstrich ) का मत है कि 'स्वच्छन्दतावाद मनुष्य की पूर्णता के लिये वह महत्वाकांक्षा है, जो कभी प्राप्त न हो!'[2]

इस परिभाषा से रोमांटिक काव्य की अनुपादेयता ही अधिक व्यञ्जित होती है, किन्तु अनजाने में ही उस विद्वान ने इतना तो स्वीकार कर ही लिया है कि यह एक साहित्यिक विचारधारा है जिसमें महत्त्वाकांक्षा की अभिव्यक्ति होती है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि रोमांटिक साहित्य उस मानव-समाज के लिये उस मानव-समाज द्वारा निर्मित साहित्य है जो अपनी वर्तमान परिस्थितियों से सन्तुष्ट नहीं है, उसकी बहुत कुछ ऐसी इच्छाएँ हैं जो अपूर्ण हैं और जिनको पूर्ण करने की वह इच्छा रखता है अर्थात् यह एक जीवन्त तथा गतिमान और क्रियाशील एवं कर्मठ समाज का साहित्य है।

आचार्य पं० रामचन्द्रजी शुक्ल ही एक ऐसे समीक्षक हैं जिन्होंने अपने हिन्दी साहित्य के इतिहास द्वारा सर्वप्रथम हिन्दी साहित्य की प्रवृत्तियों के क्रमिक विकास का प्रामाणिक अध्ययन प्रस्तुत किया, इसीलिये हमारे लिए आवश्यक हो जाता है कि हम स्वच्छन्दतावाद के सम्बन्ध में दिये गये उनके मत को जानें। साहित्यिक प्रवृत्तियों के परिवर्तन के सम्बम्ध में उनका दृढ़

1. Poetry is the spontanious overflow ot powerful feelings."
2. "Romanticism is man's longing for a perfection, never to be attained."

विश्वास है कि जब काव्य-धारा पण्डितों की बँधी-बँधाई प्रणालियों पर ही अधिक चलने लग जाती है और प्राकृत के पुराने रूपों से लदी होने के कारण प्रचलित देशी भाषाओं से शक्ति नहीं प्राप्त कर पाती तब उसे सजीव और चेतन प्रसार देश की सामान्य जनता के बीच बहती हुई स्वच्छन्द प्राकृतिक भावधारा के पास लेकर आना पड़ता है। "यह भावधारा अपने साथ हमारे चिर-परिचित पशुपक्षियों, पेड़-पौधों, जङ्गल-मैदानों आदि को भी समेटे चलती है। देश के स्वरूप के साथ यह सम्बद्ध चलती है। एक गीत में कोई ग्रामवधू अपने वियोग काल की दीर्घता की व्यञ्जना अपने चिर-परिचित प्रकृति-व्यापार द्वारा इस भोले ढंग से करती है—

'जो नीम का प्यारा पौधा प्रिय ने अपने हाथ से द्वार पर लगाया, वह बड़ा होकर फूला और उसके फूल झड़ भी गये, पर प्रिय न आया।'

इस भावधारा की अभिव्यञ्जना प्रणालियाँ वे ही होती हैं जिन पर जनता का हृदय इस जीवन में अपने भाव स्वभावतः ढलता आता है। हमारी भावप्रवर्तिनी शक्ति का असली भण्डार इसी स्वाभाविक धारा के भीतर निहित समझना चाहिए। जब पण्डितों की काव्यधारा इस स्वाभाविक भावधारा से विच्छिन्न पड़कर रूढ़ हो जाती है, तब वह कृत्रिम होने लगती है और उसकी शक्ति भी क्षीण होने लगती है। ऐसी परिस्थिति में इसी भावधारा की ओर दृष्टि ले जाने की आवश्यकता होती है। दृष्टि ले जाने का अभिप्राय है उस स्वाभाविक भावधारा के ढलाव की नाना अन्तर्भूतियों को परख कर शिष्ट काव्य के स्वरूप का पुनर्विधान करना। यह पुनर्विधान सामंजस्य के रूप में हो, अन्ध प्रतिक्रिया के रूप में नहीं, जो विपरीतता की हद तक जा पहुँचती है। इस प्रकार के परिवर्तन को ही अनुभूति की सच्ची नैसर्गिक स्वच्छन्दता ( True Romanticism ) कहना चाहिए, क्योंकि यह मूल प्राकृतिक आधार पर होता है।[1]

इस प्रकार हम देखते हैं कि स्वच्छन्दता के सम्बन्ध में जो मत आचार्य प्रवर ने व्यक्त किये हैं उनमें ऐसी बहुत-सी बातें सिमट कर आ गई हैं जो रोमांटिक काव्य अथवा स्वच्छन्दतावादी काव्य की प्रमुख विशेषताएँ हैं। यद्यपि 'शुक्लजी' ने परिवर्तन को, जो इस काव्य की मूल प्रेरणा है, अवश्य पकड़ा है तथापि उनके द्वारा प्रस्तुत की गई परिभाषा को हम सर्वांगपूर्ण

१. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : 'हिन्दी साहित्य का इतिहास', पृ० ६०१, सं० २००३।

नहीं कह सकते, क्योंकि शुक्लजी ने उस ओर संकेत नहीं किया कि इस काव्य की अभिव्यञ्जना पद्धति क्या है। उन्होंने इस ओर संकेत तो किया कि काव्य के अन्दर स्वाभाविक भावधारा की अभिव्यक्ति होती है, किन्तु अभिव्यक्ति के माध्यम की ओर उन्होंने संकेत नहीं किया। यदि सीधे-सीधे तत्कालीन समसामयिक प्रवृत्तियों एवं विचारों को सीधे सादे ढंग से कह दें तो उसमें इत्तिवृत्तितात्मकता आ जायेगी जिसे हम स्वच्छन्दतावादी रचना कहने के लिए कभी भी तैयार नहीं हैं। इसके साथ ही उन्होंने इस साहित्य के लक्ष्य की ओर भी ध्यान नहीं दिया, परन्तु इतना तो हम कह ही सकते हैं कि उन्होंने एक ऐसा ठोस धरातल तो दे ही दिया है कि जिस पर खड़े होकर हम उस साहित्य की व्याख्या कर सकते हैं।

आचार्य डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी का मत है कि उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ में इस दृष्टि के स्थान पर आत्मानुभूति आवेगधारा और कल्पना से ओतप्रोत जो एक अद्भुत उन्मुक्त प्रबल भावधारा अंग्रेजी साहित्य में प्रवाहित हो रही थी, उसे ही विशिष्ट दृष्टिभंगी की प्रधानता के कारण हिन्दी के विद्वानों ने जो स्वच्छन्दतावाद का नाम दे दिया है, वह उस भावधारा को पूर्णरूपेण व्यक्त नहीं कर पाता। उनके अनुसार 'रोमांटिक साहित्य वस्तुत: जीवन के उस आवेगमय पहलू पर जोर देने के कारण अपना यह रूप धारण कर सका है जो अन्तर्दृष्टि द्वारा चालित और प्रेरित करता रहता है।'[1] इस प्रकार हम देखते हैं कि द्विवेदी जी ने रोमांटिक काव्य की मूल प्रेरणा और अभिव्यञ्जना के माध्यम को पकड़ा है जिसकी शुक्लजी उपेक्षा कर गये थे। कवि की अन्तर्दृष्टि ही कल्पना के सहारे जब व्यक्त होती है तो रोमांटिक अथवा स्वच्छन्द काव्य की सृष्टि होती है। इसके अतिरिक्त इसकी प्रेरणा के मूल में जो अत्यन्त महत्व की वस्तु है, वह श्रेष्ठतर जीवन की कामना एवं कवि की महत्वाकांक्षा है जिसका संकेत द्विवेदी जी की परिभाषा में नहीं मिलता, किन्तु जहाँ तक उनका यह कहना है कि 'रोमांटिक साहित्य की वास्तविक उत्सभूमि वह मानसिक गठन है, जिसमें कल्पना के अविरल प्रवाह से घन-संश्लिष्ट निविड़ आवेग की ही प्रधानता होती है। इस पर कल्पना का अविरल प्रवाह और निविड़ आवेग दो निरन्तर घनीभूत मानसिक वृत्तियाँ ही इस व्यक्तित्व-प्रधान साहित्यिक रूप की प्रधान जननी हैं, परन्तु यह नहीं समझना चाहिए कि ये दोनों एक दूसरे से

१. डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी, "रोमांटिक साहित्य-शास्त्र", की भूमिका, पृ० १।

अलग रहकर काम करती हैं।'[1] इसमें दो मत हो ही नहीं सकते। बिना कल्पना का सहारा लिये मानसिक चिन्तन एवं आन्तरिक अनुभूतियों को प्रकट ही नहीं किया जा सकता। द्विवेदी जी रोमांटिक काव्य के मूल में विद्रोह की भावना नहीं मानते बल्कि उसके विरोधों को परिस्थिति-जन्य बतलाते हैं और उसे स्वाभाविक स्वच्छन्द भावधारा के रूप में स्वीकार करते हैं। इस सम्बन्ध में उनका कथन है कि 'व्यक्ति की स्वतन्त्र अनुभूति तो कल्पना और आवेग के माध्यम से ही प्रकट होती है और जब वह प्रकट होती है तो नीति और सदाचार के परिपाटीविहित मानों से सब समय उसका सामञ्जस्य हो नहीं पाता। कई बार उसे ऊपरी सदाचार के विरुद्ध विद्रोह करना पड़ता है। परन्तु, यह विद्रोह उसका मूल स्वर नहीं है। हिन्दी साहित्य के छायावादी उत्थान के समय भी इस प्रकार की उन्मुक्त आवेग प्रधान और कल्पना-प्रवण अन्तर्दृष्टि दिखी थी। कई कवियों में उसका विद्रोहमूलक रूप ही प्रधान हो उठा। परन्तु, यह भली-भाँति समझ लेना चाहिये कि यह विद्रोह केवल विशेष प्रकार की वैयक्तिक दृष्टि भंगी के साथ परिपाटी-विहित रसास्वादन का सामंजस्य न हो सकने का बाह्य रूप मात्र है।'[2] इस प्रकार वे इसके विरोधी रूप को बाह्य परिस्थितिजन्य बतलाते हैं, आन्तरिक नहीं। जो हो, अपनी सीमाओं के होते हुए भी यह परिभाषा अधिक निकट तक हमें पहुँचाती है जहाँ से रोमांटिक काव्य अधिक स्पष्ट रूप में दिखाई पड़ने लग जाता है।

पं० नन्ददुलारे वाजपेयी के अनुसार 'स्वतन्त्रता की लालसा और बन्धनों का त्याग रोमांटिक धारा के मूल में व्याप्त है।'[3] वे स्वीकार करते हैं कि जो धारा अत्यन्त अनियमित पद्धति, संयमरहित प्रवृत्ति को प्रोत्साहन देती है, वह रोमांटिक गति की सूचक है। काव्य में भावना के अतिरेक से जो असंयम आता है, नियमों की जो अवहेलना होती है, वह रोमांटिसिज्म के अति का परिचायक है। यदि परम्परावादी शैली में काव्य के शरीर का आग्रह अतिरेक है, तो रोमांटिसिज्म उसकी अपेक्षा अशरीरी कल्पना और अरूप एवं अनन्त की भावना में रमना है। इसके अतिरिक्त स्वच्छन्दतावादी काव्य में अभिव्यञ्जना की प्रधानता रहती है। इस प्रकार अनन्त की भावना में रमने

---

1. डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी : "रोमांटिक साहित्य-शास्त्र" की भूमिका, पृ० २।
२. डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी—"रोमांटिक साहित्य शास्त्र की भूमिका", पृ० २।
३. पं० नन्ददुलारे वाजपेयी, "आधुनिक साहित्य।"

की बात कहकर वाजपेयी ने स्वच्छन्दतावाद और रहस्यवाद पर सोचने के लिये आधार-भूमि दे दी; किन्तु स्वच्छन्दतावाद और जो कुछ हो, रहस्य नहीं। उनका कथन है कि 'रोमांटिसिज्म में वस्तु का उदात्त होना आवश्यक नहीं। साधारण-से-साधारण वस्तु में भी काव्यात्मक चित्रण बनने की क्षमता है। यह स्वच्छन्दतावादी मत है।'[1] इस प्रकार वाजपेयी जी ने स्पष्ट कर दिया है कि शास्त्रीय नुस्खों के आधार पर ही स्वच्छन्दतावादी कवि अपने काव्य की विषय-वस्तु नहीं चुनता। वह शूर-सामन्तों तथा राजा-महाराजाओं का ही यशोगान नहीं करता, बल्कि वह सर्वसाधारण लोगों से लेकर छोटी-से-छोटी वस्तुओं तक को भी अपने काव्य का विषय बनाता है। इस साहित्य के अन्दर चित्रण के योग्य वस्तुओं की कोई सीमा नहीं निर्धारित की गई है। इसमें अधिक व्यापक और भावात्मक प्रवृत्ति पाई जाती है। काव्य में प्रयुक्त होने वालों का भी कोई बन्धन नहीं है और इसके अन्दर वस्तु तथा शैली में कोई तात्विक भेद नहीं माना जाता।

आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र के मत से स्वच्छन्दतावाद का अर्थ होता है, 'सामाजिक बन्धनों को तोड़कर जीवक की स्वच्छन्द भूमि में विचरण करने की लालसा।'[2] वे यह मानते हैं कि आधुनिक काव्यधारा के आगमन के पूर्व रहस्यवाद, स्वच्छन्दतावाद और छायावाद, ये तीनों प्रवृत्तियाँ साहित्य में प्रवेश पाने के लिये उतावली हो रही थीं और अवसर पाकर एक साथ ही आयीं। तत्कालीन घुटनशील परिस्थितियों के कारण मन सांसारिक जीवन से ऊब रहा था, उसने रहस्यवाद को जन्म दिया, सामाजिक रूढ़ियों के कठोर बन्धन को अस्वीकार करने के लिये स्वच्छन्दतावाद का प्रादुर्भाव हुआ और छायावाद काव्य शैली के विद्रोह में ही उठ खड़ा हुआ है। अभिव्यञ्जना का नूतन विधान छायावाद का मुख्य लक्ष्य रहा है। शुद्ध प्रतीकात्मक और शुद्ध अभिव्यञ्जनात्मक रचनाएँ छायावाद ही कहला सकती थीं। इसलिये जहाँ तक काव्य-विषय का सम्बन्ध है, प्रमुख रूप में दो ही प्रवृत्तियाँ चल रही थीं जिनमें से एक थी रहस्यात्मक और दूसरी थी स्वच्छन्दात्मक। मिश्रजी के कथन से स्पष्ट लगता है कि रहस्यवाद, छायावाद और स्वच्छन्दतावाद का मूल उत्स एक है और साथ-ही-साथ वे उनका स्वतंत्र अस्तित्व भी स्वीकार करते जान पड़ते हैं। यदि इन तीनों मूल प्रवृत्तियों का मूल उत्स एक है, तो उनके अलग-अलग अस्तित्व स्वीकार करने की कोई आवश्यकता नहीं जान पड़ती। या

१. पं० नन्ददुलारे वाजपेयी, "आधुनिक साहित्य", पृ० ३९१।

२. पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र, "हिन्दी का सामयिक साहित्य", पृ० ५४।

तो तीनों प्रवृत्तियों को यह मान लेना चाहिये कि वे सभी एक ही वस्तु के विभिन्न रूप हैं अथवा यह स्वीकार कर लेना चाहिये कि आगे चलकर आवश्यकतानुसार एक ही प्रवृत्ति का तीन दिशाओं में स्वतन्त्र रूप से विकास हुआ। आगे चलकर जो उन्होंने इसके सम्बन्ध में अभिव्यञ्जना की बात कही है, वह इसे छायावाद से अभिन्न कर देती है; क्योंकि उन्होंने माना है कि "स्वच्छन्दतावादी अभिव्यञ्जना के वैभव का चाहे त्याग न करे, किन्तु उसमें गहरी अनुभूति के बिना जगे काव्य की प्रेरणा नहीं जगती थी। लोक-भूमि पर विश्वास के साथ फिर से उतरने वाले शुद्ध स्वच्छन्दतावादी ही दिखलाई पड़े।"[1]

डाक्टर नगेन्द्र छायावाद को रोमानी कविता से अभिन्न मानते हैं। उनके अनुसार "इसमें सन्देह नहीं कि छायावाद मूलतः रोमानी कविता है और दोनों की परिस्थितियों में भी जागरण और कुण्ठा का मिश्रण है परन्तु फिर भी यह कैसे भुलाया जा सकता है कि छायावाद एक सर्वथा भिन्न देश और काल की सृष्टि है। जहाँ छायावाद के पीछे असफल सत्याग्रह था, वहाँ रोमांटिक काव्य के पीछे फ्रांस का सफल विद्रोह था, जिसमें जनता की विजयिनी सत्ता ने समस्त जाग्रत देशों में एक नवीन आत्मविश्वास की लहर दौड़ा दी थी। फलस्वरूप वहाँ के रोमानी काव्य का आधार अपेक्षाकृत अधिक निश्चित और ठोस था, उसकी दुनिया अधिक मूर्त्त थी, उसकी आशा और स्वप्न अधिक निश्चित और स्पष्ट थे, उनकी अनुभूति अधिक तीक्ष्ण थी। छायावाद की अपेक्षा वह निश्चय ही कम अन्तर्मुखी एवं वायवी थी।"[2]

इस प्रकार हम देखते हैं कि नगेन्द्रजी ने छायावाद को रोमांटिक काव्य का ठीक-ठीक अनुवाद भले ही न माना हो, किन्तु उसे रोमांटिक काव्य के अन्दर ही स्वीकार किया है। यह सत्य भी है कि किसी भी देश की कोई भी साहित्यिक प्रवृत्ति ठीक-ठीक उसी रूप में अन्य देश में नहीं विकसित हो सकती, क्योंकि इसमें सन्देह नहीं कि भारत की भौगोलिक स्थिति, सामाजिक रहन-सहन, सांस्कृतिक मर्यादा तथा आचार-विचार आदि सभी पाश्चात्य देशों से भिन्न हैं। इसलिए पाश्चात्य साहित्य की प्रवृत्ति को विकसित होने की जो भूमि वहाँ मिल सकती है, वह भारत में मिलना कठिन ही नहीं, असम्भव भी है। अतः स्वाभाविक है कि जब कभी भी वहाँ की कोई विचार-धारा हमारे बीच आयेगी तो कुछ परिवर्तन के साथ ही।

१. पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र, "हिन्दी का समसामयिक साहित्य।"
२. डा० नगेन्द्र, "आधुनिक हिन्दी काव्य की मुख्य प्रवृत्तियाँ", पृ० १४।

# रोमांस शब्द का इतिहास

'लैटिन' के बिगड़ने अथवा उसके विभिन्न रूपों में परिवर्तित हो जाने के कारण जो बोलियाँ निकलीं उन्हें विद्वानों ने रोमांस के नाम से पुकारना आरम्भ किया। शब्द रोमांस (Romance) तथा मध्य युग के काव्यात्मक 'रोमांसेज' में से एक तत्कालीन सभ्यता और जीवन का तथा दूसरा भाषा और रस्मोरिवाज का अनुवाद था। स्टोडर ( Stodder ) ने स्वीकार किया है कि 'रोमांस दूर से लाये हुए एक शब्द का परिवर्तित स्वरूप है जो विदेशी होता है। यह उस जीवन की ओर संकेत करता है जो वर्तमान से अच्छा हो, अधिक पूर्ण हो तथा उसकी आशा वर्तमान जीवन के लिए न की जाती हो और जिसके सम्बन्ध में ज्ञान धुँधला हो; किन्तु वैसे जीवन का होना वर्तमान जीवन में कभी भी सम्भावित नहीं है।'

ऐतिहासिक दृष्टि से यदि देखा जाय तो रोमांटिक ( Romantic ), रोमांस ( Romance ) तथा रोमांटिसिज्म ( Romanticism ) यानी स्वच्छन्दतावाद अथवा स्वच्छन्दवाद का आन्दोलन तीनों तीन विभिन्न वस्तुएँ हैं। कला और साहित्य में रोमांटिक आन्दोलन निश्चित ही एक समर्थनीय घटना है। रीति तथा स्वच्छन्दता आरम्भ से ही मानव-जीवन के साथ चिपकी चली आई हैं, इतिहास इसका साक्षी है। जब हम इस शब्द की प्राचीनता की ओर ध्यान देते हैं यानी ऐतिहासिक रोमांस की ओर दृष्टिपात करते हैं तो हमें यह देखने को मिलता है कि आज जो रोमांस से हम तात्पर्य लेते हैं वह प्राचीन रोमांस से सर्वथा भिन्न है। इससे यही परिणाम निकलता है कि चाहे प्राचीनतर ( Older ) रोमांस हो अथवा कल्पना,

---

1. "A Romance is something transfered brought from afar, A Roomance is something hinting of a life better, completer, nobler than the present life, dimly known, detached from hoped for yet never expected in the present".—K. K. Sharma. "An Introduction to the Poetry of Romantic Revival",

मध्ययुगीन रोमांस हो अथवा ईसाइयत या दृश्य और निर्माण का रोमांस हो, सभी केवल एक आन्दोलनमात्र हैं।

साहित्य, विचार और कला के इतिहास में रोमांटिक आन्दोलन एक निश्चित समर्थनीय विचारधारा है। 'क्लैसिक' और 'रोमांटिक' दोनों शब्द इतिहास में मानव हृदय के सिकुड़न और फैलाव हैं। एक ओर एक हमारी व्यवस्था की आवश्यकताओं का प्रतिनिधित्व करता है, संयोग और विस्तार में समन्वय स्थापित करता है तथा भाव अथवा विचार-क्रम को एक निश्चित रूपरेखा तैयार करता है और दूसरी ओर दूसरा प्रत्येक व्यक्ति के अदृश्य विकास का सूक्ष्मातिसूक्ष्म अन्वेषण करता है। रोमांस की वास्तविक अभिव्यक्ति तब होती है जब सहित्यकार तर्क को सामने रखकर चेतन अवस्था में अपनी कल्पना, स्वप्न तथा आन्तरिक प्रेरणाओं की अभिव्यक्ति करता है। मध्ययुगीन रोमांस इसलिये रोचक नहीं है कि वह उस समय के व्यक्तियों के विचार तथा जीवन की अभिव्यक्ति करता है अथवा उन्हें सामने लाता है, बल्कि इसलिये रोचक है कि वह तत्कालीन पुरुषों के स्वप्नों का प्रतिनिधित्व करता है। साधारणतः उस शब्द अथवा साहित्य से हम रोमांटिक ( Romantic ) शब्द का बोध कर सकते हैं जिसके द्वारा रोमांस की अभिव्यक्ति होती हो।

•

# ऐतिहासिक विकास

साहित्य में रोमांटिसिज्म अथवा स्वच्छन्दतावाद जिस समय एक भाव-धारा के रूप में स्वीकृत हुआ उसके पूर्व सत्रहवीं शताब्दी के आसपास रोमांटिक शब्द का प्रादुर्भाव हो चुका था। सत्रहवीं शताब्दी में जो दृष्टिकोण अपनाया गया था उसके मुख्यतः दो रूप थे, (१) रोमांस और (२) कल्पना। रोमांटिक शब्द विशेषण होते हुए भी संज्ञा रोमांटिसिज्म (Romanticism) से अधिक प्राचीन है। इस शब्द का प्रयोग पाश्चात्य साहित्य में इसके साहित्य में प्रवेश करने से अधिक पूर्व ही होने लग गया था और सम्भवतः इसी से आगे चलकर इसका निर्माण हुआ। सत्रहवीं शताब्दी के मध्य में रोमांटिक ( Romantic ) शब्द पहली बार अंग्रेजी साहित्य में प्रयुक्त हुआ। यह शब्द रोमांटिक काल्पनिक कथाओं की विशेषता प्रकट करता था और उन्हीं मिथ्या कथाओं के आधार पर रोमांटिक ( Romantic ) शब्द को बहुत खींच-तान कर जिस अर्थ में प्रयुक्त किया जाने लगा, उसका अर्थ यही था कि वास्तविक वस्तुस्थिति के विपरीत अर्थात् काल्पनिक। इस प्रकार साधारणतः इस शब्द का प्रयोग साहित्य में बुरे एवं भद्दे अर्थों में किया जाने लगा। यह शब्द काल्पनिक यानी अमूलक, हँसी उत्पन्न करने वाले, अप्राकृतिक तथा निरर्थक बड़े-बड़े प्रयोग किये जाने वाले शब्दों के साथ जोड़ दिया गया।

इवलिन ( Evelyn ) ने सन् १६५४ ई० में अपनी एक डायरी में लिखा है कि : "There is also in the side of this hand a very romantic seat."

इस प्रकार हम देखते हैं कि सन् १६५४ ई० में रोमांटिक शब्द प्रयुक्त हुआ है। उसी समय से इस दृष्टि को सामने रखकर अनेक अद्भुत एवं असम्भावित कथाओं को महत्ता मिलने लग गई थी। यह प्रवृत्ति मुख्यतः सत्रहवीं शताब्दी के अन्त में विकसित हुई थी। इसके सम्बन्ध में पोप के विचार बड़े ही उत्तम ढंग से दो पंक्ति की कविता में प्रस्तुत किये गये हैं।[1]

1, "That is not·fancyism as, he wondered long, but stopped to truth and moralized his song."

ठीक सत्रहवीं शताब्दी के अन्त तक साहित्यिक रुचियों में एक नयी लहर उत्पन्न हुई, जिसके कारण कल्पना को प्रमुखता प्रदान करने की प्रवृत्ति धीरे-धीरे सशक्त रूप में उभड़ने लगी। यद्यपि रोमांटिक ( Romantic ) का तात्पर्य भद्दापन एवं कुरूपताओं के लिये स्वीकार किया जाता रहा, किन्तु उसके केन्द्र बिन्दु को आकर्षण मानने के कारण यह प्रवृत्ति कल्पना के लिये अत्यन्त ही उपयोगी निकली।

अठारहवीं शताब्दी में यह दृष्टिकोण थोड़े अन्तर के साथ इंगलैण्ड, फ्रांस और जर्मनी में स्पष्ट रूप में दिखाई पड़ने लगा। अठारहवीं शताब्दी के आरम्भ में इस विचारधारा का सूत्रपात इंगलैंड में हुआ किन्तु इसका स्वरूप आगे चलकर शताब्दी के मध्य में जाकर ही निर्धारित हो सका। इस समय रीतिवाद अथवा शास्त्रवाद और स्वच्छन्दतावाद को दो पर्यायवाची शब्दों के रूप में भी ग्रहण किया गया है। उसी समय जर्मनी में 'लोहाट' ( Lohat ) नामक एक स्वच्छन्दतावादी सम्प्रदाय था, जो कविता के नवजागरण के अतिरिक्त और कुछ नहीं था, बल्कि हम उसे कविता के नवीन जागरण की प्रवृत्ति कह सकते हैं। 'एडिसन' के अनुसार तो "यह ऐसा विचित्र दृश्य है कि इसने ही सम्भवतः काल्पनिक वस्तुओं को अवसर प्रदान किया है।"[1]

'ग्रे' ने बढ़ाकर इसका अर्थ यह किया है कि यह उनमें से एक है जो अत्यन्त ऐश्वर्ययुक्त, अत्यन्त विचित्र तथा अति चमत्कारिक दृश्य हैं जिन्हें मैंने अबतक नहीं देखा है। इसके अतिरिक एक अन्य आलोचक का कथन है कि जब रात्रि का गम्भीर प्रभाव अद्‌भुत दृश्यों को आच्छादित कर लेता है तो सर्वत्र स्थिरता, शान्ति तथा सन्नाटा छा जाता है।

रूसो ( Rousseau ) ने रोमांसक्यू ( Romancsque ) और पिल्टर्सक्यू ( Pilterosque ) शब्दों का प्रयोग रोमांटिक के अभिप्राय से किया। रोमांटिक से उसका तात्पर्य काल्पनिक, अमूलक तथा मनगढ़न्त कपोल-कल्पना से है अथवा रोमांसक्यू से अधिक। और 'पिल्टर्सक्यू' का प्रयोग ऐसे दृश्य के लिये किया जाता था जो आँखों को चमत्कृत कर दे तथा जिसे देखकर बरबस प्रशंसा के भाव उमड़ पड़ें। रोमांटिक का अर्थ एक मात्र अद्भुत दृश्यों से ही नहीं है बल्कि इसका तात्पर्य उस विशिष्ट भाव ( Emotion ) से भी है जो उस व्यक्ति के मन में उठते हैं, जिस पर वह

---

1. It is so romantic that it has probably given occasions to such chimerical relation."

मनन-चिन्तन करता है। इस प्रकार रोमांटिक शब्द एक भावात्मक विशेषता रखने वाला शब्द है, जो अत्यन्त ही रोचक, चित्तरंजक, मन-भावन, मोहक तथा उत्तेजक है।

आलोचना के शब्द-भण्डार में रोमांटिक शब्द के स्थान पर 'गोथिक' ( Gothic ) नामक शब्द का प्रयोग किया जाता रहा। इस प्रकार इसका प्रवेश 'गोथिक' शब्द के द्वारा रोक दिया गया था। इसके अतिरिक्त गोथिक शब्द रीतिवाद अथवा शास्त्रियतावाद ( Classicalism ) के विरोधी अर्थों में भी प्रयुक्त होता रहा है। 'गेटे' के अनुसार "रोमांटिक" तथा "क्लैसिकल" काव्य के अन्तर और साम्य को लेकर चलने वाली विचार-धारा सम्पूर्ण संसार में व्याप्त हो चुकी है। कभी-कभी ऐसे अवसर भी आ जाते हैं जब कि दो पक्षों में चलने वाला विवाद संघर्ष और झगड़े की सीमा तक उतर आता है। पारस्परिक मतभेद का हो जाना तो स्वाभाविक है, जो साधारण बात हो चली है। मूलत: "स्किलर" ( Schiller ) और 'गेटे' के विचारों में यह स्थिति विशेष रूप से पाई जाती है। 'गेटे' के अनुसार कविता की अभिव्यक्ति अधिक से अधिक वस्तुपरक होनी चाहिये, उसे मूर्त पदार्थों को छोड़कर अमूर्त का कभी भी अनुकरण नहीं करना चाहिए, परन्तु "स्किलर" के विचार इसके बिल्कुल विपरीत हैं। उसने अपनी दृष्टि से जिस प्रकार सोचा उसका पूर्ण प्रचार एवं विस्तार भी किया जिससे स्वच्छन्दतावाद और रीतिवाद को लेकर चलने वाली विचार-धाराएँ सम्पूर्ण विश्व में प्रसारित हो गईं। प्रत्येक व्यक्ति इन विवादों में आज रुचि दिखाता है, जब कि आज से पचास वर्ष पूर्व किसी ने इसके सम्बन्ध में सोचा तक भी नहीं था।

जर्मनी से यह विचारधारा लौटकर फ्रांस आयी, जिसका श्रेय मेडम 'डीशेल' को है। विक्टरह्यूगो ( Vicfor Hugo ) का कथन है कि वह पहली लेखिका है जिसने फ्रांस के साहित्य में रोमांटिक साहित्य की अभिव्यक्ति को स्थान दिया। अंग्रेजों की भाँति जर्मन और फ्रेञ्च लेखकों तथा कवियों में इसके सम्बन्ध में उतनी अराजकता नहीं थी बल्कि उनके विचार नियमबद्ध थे और उनमें यथार्थता थी। इंगलैंड में आकर इसके साथ नियम के कोई बन्धन नहीं रहने पाये, सब टूट गये और वह यथार्थता से दूर की वस्तु समझी जाने लगी, यानी वह काल्पनिक हो गयी। इसकी कोई निश्चित विचारधारा नहीं रहने पाई और न तो यहाँ के लोगों ने इस शब्द को अधिक व्यापक बनाने की चेष्टा ही की, जिससे कि इससे सम्बन्धित सम्भावित सभी साहित्यिक

प्रसंग इसके अन्दर ही आत्मसात् हो जायँ। इस प्रकार हम देखते हैं कि इंगलैण्ड में रोमांटिक शब्द की एक निश्चित तर्कपूर्ण परिभाषा नहीं बन पाई, जैसा कि फ्रांस के ब्रुनेटियर ( Brunetiere ) ने लक्षित किया था और न तो अंग्रेजी आलोचना ने इसको विस्तृत व्याख्या ही की कि जिससे इसके आस-पास एक सिद्धान्त निर्मित हो जाता। जर्मन विद्वानों ने ऐसा करने का प्रयत्न किया है, जैसा कि हम 'फिजस्ट्रिच' ( Fritgstrich ) की कृतियों में देख सकते हैं। उसके अनुसार 'रीतिवाद मनुष्य की पूर्णता की इच्छा है और स्वच्छन्दतावाद मनुष्य की पूर्णता के लिए वह महत्वाकांक्षा है जो कभी प्राप्त न हो।'[1]

उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ में अंग्रेजी कवियों में एक अद्भुत उन्मुक्त भावधारा प्रबल होकर प्रकट हुई जिसे रोमांटिसिज्म के नाम से अभिहित किया गया। इसी भावधारा को हिन्दी में स्वच्छन्दवाद अथवा स्वच्छन्दतावाद कहा गया है। अठारहवीं शताब्दी के आरम्भ में रोमांटिक शब्द के प्रति वर्ड्स्वर्थ के विचार थे कि यह शब्द अनावश्यक, आधिक्य और अवांछित भावों का सूचक है। उसने अपनी कविता को स्वच्छन्दतावाद के भीतर नहीं माना है। सम्भवतः उन्हें यह स्वीकार करने में इस प्रकार की कोई आपत्ति न होती कि उन्होंने जो कविताएँ लिखी हैं, उनमें स्वच्छन्दतावाद के विरुद्ध उनके मन में हुई प्रतिक्रिया के भाव ही निहित हैं। 'शेली' ने अपनी समस्त रचनाओं के अन्दर केवल एक बार रोमांस शब्द का प्रयोग किया है।'[2]

## स्वच्छन्दतावाद का पुनरुद्धार

इस प्रकार हम देखते हैं कि किस प्रकार वर्ड्स्वर्थ के मन में हुई प्रतिक्रिया के कारण स्वच्छन्दतावादी आन्दोलन में एक गतिरोध सा आ गया। इसके अतिरिक्त इसके उद्धारकाल में साहित्य में एक ऐसी विचारधारा चल पड़ी थी जिसका नाम था स्वच्छन्दतावादी आन्दोलन ( Romantic movement)। इस शब्द का मूल्य इसके पुनरुद्धार काल में (Romantic-revival ) सबसे अधिक युक्तिसंगत रूप में 'जोहुफास्टर' ( Johufostar ) द्वारा उसके एक प्रबन्ध ( On the application of the epethet romantic ) रोमांटिक प्रयोग की विशेषता में आँका गया था। इसका

1. "Classicism is man's desire for completion and romanticism is man's longing for perfection never to be attained.
2. "Oh ! antique verse and high romance" – Shelley

प्रकाशन सर्वप्रथम १८०८ ई० और संशोधन १८२३ ई० में हुआ था। परन्तु इसकी व्याख्या जिस दृष्टिकोण से प्रस्तुत की गयी है उसके भीतर तत्कालीन समसामयिक साहित्यिक प्रयोग, जो कि स्वच्छन्दतावाद को लक्ष्य करके लिखे जा रहे थे, नहीं लाये जा सकते, यद्यपि वह प्रसिद्ध कवि 'कालरिज' और उसके समर्थकों का मित्र था। 'कालरिज' के अनुसार तो 'रोमांस के लेखकों ने कल्पना के प्रभुत्व का निर्णय पर मुलम्मा किया है।'

अंग्रेजी काव्य-साहित्य में मुख्यत: सात ऐसे युग हैं जिनमें अंग्रेज जाति की भिन्न-भिन्न परिस्थितियों ने उन्हें भिन्न-भिन्न ढंग से सोचने के लिए बाध्य किया है तथा उनकी मन:स्थिति को परिवर्तित किया है। इन्हीं सातों युगों में दूसरे युग को रोमांस युग कहते हैं जिसके विकास और विस्तार की विस्तृत ऐतिहासिक व्याख्या ऊपर कर दी गई है।

'ग्रियर्सन' का कथन है कि 'मेरे विचार से रोमांटिक शब्द, जिसे हम इन महान् साहित्यिक युगों तथा महान् कवियों के लिये प्रयुक्त करते रहे हैं, की मुख्य विशेषता यही है कि वह हृदय, कल्पना तथा प्रत्यक्ष दिखाई देने वाली वस्तुओं के भेद को स्पष्ट करते हुए अनुसरण के लिए तर्कसंगत मार्ग का निर्देश करे, किन्तु ऐसा तर्क नहीं जिसने तत्वों की खोज की है, वल्कि ऐसे सामाजिक तर्क जिसमें मनुष्य रहता है तथा ऐसे तर्क जो अनुमान पर आधारित हैं, ऐसे नहीं जो विश्वास को एक निश्चित स्वरूप दे सके हैं। एक महान रोमांटिक यही समझता है कि वह विश्वास पर ही जी रहा है, तर्क पर नहीं।'[1]

उसके अनुसार रोमांटिक एक आन्दोलन है जो एक दृष्टि से दार्शनिक और आध्यात्मिक आन्दोलन भी है, जिसने प्राचीन रूपों को अस्वीकार कर दिया और जो नवीन प्रयोगों में अपनी विशेष रुचि रखता है। जहाँ तक भाषा और मात्रा का प्रश्न है, यह उन सभी शास्त्रीय पद्धतियों का, जिसमें

1. "I think the real essence of the word romantic as we apply in to the literature of these great periods and great poets this conscious contrast of what heart and the imagination envisage and beckon us to follow and reason which has thought out the matter and attained conviction but reason in the sense of the society in which a man lives a man lives reasonable."—Grierson.

एक निश्चित विश्वस्त रूप, स्पष्टता, संतुलित भावना, पूर्व निर्मित नियम जो अपनी ही ओर देखते हैं, होते हैं, का तिरस्कार करता है। यह नवीनतम, अद्भुत, विचित्र सौन्दर्ययुक्त विचारों, दृष्टिकोणों तथा लय की अभिव्यक्ति करता है। नपी-तुली पिटी-पिटाई लकीरों पर चलना इसे स्वीकार नहीं और न शास्त्रीय सिकिंजों में विश्राम करना ही इसे पसन्द है। इसके अन्दर हमें भाषा के प्रयोग में वृद्धि, किन्तु प्रयोग में प्रतीकात्मकता, न कि एक निश्चितता, रंगीनियों से भरी हुई जिन्दादिली, उद्देश्यों से पूर्ण किन्तु स्पष्ट जिससे अर्थों की पूर्ण रूपेण व्याख्या की जा सके, पर कविता की लयता में भावों के सशक्त प्रवाह को व्यक्त करने के लिये उपयुक्त विस्तार की क्षमता मिलेगी, जिससे आन्तरिक विचारों एवं अनुभूतियों की वास्तविक अनुभूति हो सके।

# ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

सही अर्थों में स्वच्छन्दता की प्रवृत्ति किसी भी जाति और जातीय साहित्य की जीवन्तता का लक्षण है। प्रतिभा अनावश्यक बन्धनों का सदैव से तिरस्कार करती चली आई है। इतिहास के विकास क्रम में कोई भी व्यवस्था स्थायी नहीं होती और जब वह अप्रासंगिक होकर अपनी उपयोगिता समाप्त कर लेती है तो एक जड़ता की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। जड़ता को जो देश, जाति और साहित्य नहीं तोड़ पाता, वह सामयिक सन्दर्भों से कट जाने के कारण जीवित रहने का अधिकार खो बैठता है। तोड़ने का कार्य प्रतिभाएँ ही करती हैं, न कि यथास्थिति से सन्तुष्ट रहने वाले वे लोग जो किसी न किसी प्रकार जीवन के शेष दिन काट ले चलने में विश्वास रखते हैं। इतना ही नहीं बल्कि हर अच्छे परिवर्तन को शंका की दृष्टि से देखने और उसकी निस्सारता की घोषणा करने वालों की संख्या हर युग में अच्छी खासी रही है। इतिहास इन्हें भूल जाता है और उन्हीं को याद रखता है जो सबकी उपेक्षा सहकर भी नयी जमीन तोड़ते हैं। कल्पना शक्ति के द्वारा ही जड़ता का बोध और परिवर्तन की प्रक्रिया की सार्थकता का आभास मिलता है। अत: स्वच्छन्दता की भावना के मूल में कल्पना विद्यमान रहती है और कल्पना शक्ति के द्वारा ही स्वच्छन्दता एक प्रक्रिया का रूप ले पाती है। यह प्रक्रिया शाश्वत है जिसे पकड़ने वाला व्यक्ति चाहे वह राजनेता हो, समाजनेता हो अथवा साहित्यकार हो, युग पुरुष होता है। किसी भी देश का साहित्य क्यों न हो यदि आज वह जीवित है तो इसी स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति के कारण। संस्कृत साहित्य जैसा गौरवपूर्ण साहित्य इसी स्वच्छन्दता की भावना के अभाव में जड़ता का शिकार हुआ। आधुनिक हिन्दी साहित्य के पीछे विकास की जो एक लम्बी प्रक्रिया है और आज भी जो वह उत्तरोत्तर विकासोन्मुख है उसके मूल में उसकी स्वच्छन्दतावादी प्रकृति ही कार्य करती रही है। यह दूसरी बात है कि स्वच्छन्दतावाद का जो प्रयोग आज रूढ़ अर्थों में होने लगा है, वह स्वच्छन्दतावाद आप को वहाँ न मिले, पर समयानुसार अपने को ढाल लेने की अद्भुत क्षमता हिन्दी

साहित्य में रही है जिससे उसका विकास कहीं किसी भी विन्दु पर रुकने नहीं पाया। स्वच्छन्दतावाद की जो भावना परिवर्तन को जन्म देती है, उसका प्रभाव कविता के स्वरूप, भाव और भाषा सभी अंगों पर पड़ता है। हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखक साहित्य की जो कालगत सीमा निर्धारित करते हैं, उसके अन्दर आने वाले समूचे साहित्य के माध्यम की भाषा खड़ी बोली नहीं रही जो आधुनिक हिन्दी कविता की एक मात्र माध्यम की भाषा है। खड़ी बोली तक हिन्दी कविता को पहुँचने में समय लगा है, उसे अवधी तथा व्रज जैसी भाषाओं के बीच से विकसित होना पड़ा है। यदि हिन्दी साहित्य भाषागत जड़ता का शिकार हुआ होता तो आज उसकी क्या स्थिति रहती कहना कठिन है। भाव के धरातल पर तो उसकी उदारता सर्वविदित है, जिसने उसके शिल्प को निरन्तर गतिशील रखा है। प्रवन्ध काव्यों की रूढ़िगत परम्परा को मुक्तकों और मुक्तकों की शास्त्रीय नीरसता को प्रगीतों ने तोड़ा है, हिन्दी साहित्य का इतिहास साक्षी है। जिस विन्दु पर पहुँचकर भाषा की ताज़गी चुकने लगी है हिन्दी साहित्य ने भाषा की भंगिमा बदल ली है। उसी का परिणाम है कि जब हम हिन्दी साहित्य का इतिहास सामने रखते हैं, तो वह केवल खड़ी बोली का ही इतिहास नहीं होता, बल्कि सधुक्कड़ी, डिंगल, पिंगल, व्रज, अवधी और खड़ी बोली आदि में लिखे साहित्य का इतिहास होता है। विषय और स्वरूपगत जड़ता के लिये विख्यात उत्तर मध्य कालीन ( रीतिकालीन ) काव्य की मज़बूत जकड़ को तोड़ने का कार्य घनानन्द ऐसे स्वच्छन्दतावादी कवियों ने किया जिससे आगे चलकर आधुनिक हिन्दी साहित्य में स्वच्छन्द काव्य-धारा के विकास का मार्ग प्रशस्त हुआ। अतः अनुचित न होगा यदि यह कहें कि हिन्दी साहित्य को देश के जिस भूभाग की मिट्टी से शक्ति मिलती है, उसकी प्रकृति ही नेतृत्व उत्पन्न करने की ओर रही है, जिसका यह परिणाम रहा कि उसकी प्रासंगिकता कभी समाप्त नहीं होने पायी। प्रासंगिकता को बनाये रखने वाला साहित्य सदैव विद्रोही अथवा स्वच्छन्दतावादी होता है। इस प्रकार आधुनिक हिन्दी कविता को स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति इतिहास से दाय के रूप में मिली है जो समानुसार नूतन कलेवर धारण करती रही है।

आधुनिक हिन्दी साहित्य के अन्दर नवीन विचार-धाराओं की दिशा में जितने भी विकास हुए हैं उन पर यदि पाश्चात्य साहित्य का पूर्ण रूपेण प्रभाव नहीं है तो उनके विकास में उसका महत्वपूर्ण योग अवश्य है। भारत

में अंग्रेजी राज्य के कारण देश की राष्ट्रीयता तथा संस्कृति को जितनी क्षति पहुँची है उससे कम वह उसके माध्यम से नवीन सभ्यता के वरदान विज्ञान के निकट आकर लाभान्वित नहीं हुआ है। विदेशी सत्ता यदि एक ओर भारत के लिये अभिशाप रही है, तो दूसरी ओर अवश्य ही वह वरदान सिद्ध हुई है। अनजाने अंग्रेजों ने बहुत से ऐसे कार्य कर डाले जिनके कारण पददलित भारतीय जनता में जागरण लाने का महत् कार्य अपने आप हो गया। भारत में शिक्षित मध्यवर्ग के उदय का कारण अंग्रेजी राज्य की सत्ता ही है। अंग्रेजी राज्य को दृढ़ करने एवं आफिसों में कार्य करने वाले बाबुओं को तैयार करने के लिये खोले गये स्कूल और कालेजों ने भारतीयों को पाश्चात्य साहित्य के सम्पर्क में लाया, जिससे उनकी आँखों के सामने फ्रांस की राज्यक्रांति तथा इंग्लैंण्ड का नवीन जागरण-युग अत्यन्त स्पष्ट होकर नाचने लगा। लोगों ने स्वच्छन्दवादी साहित्य का अध्ययन किया, वर्डस्वर्थ आदि जैसे स्वतन्त्र विचारकों की रचनाएँ पढ़ीं, जिसमें उन्हें अपनी हेयता का धीरे-धीरे ज्ञान होने लगा। भारतवर्ष का यह मध्यवर्ग सबसे चिन्त्य वर्ग है किन्तु किसी भी देश में कोई भी आन्दोलन चलाने का श्रेय इसी वर्ग को होता है और यहाँ का भी रहा। सबसे पहले इसने ही पश्चिम के नवीन प्रकाश को ग्रहण किया और तत्पश्चात् इसके माध्यम से आलोक की यह किरण भारतीय साहित्य के प्रांगण में जागरण की ज्योति जगाने लगी।

हिन्दी साहित्य के अन्दर स्वतन्त्र भावना के विकास का प्रारम्भ सन् १८७० के आस-पास हुआ। इस परिवर्तन की प्रक्रिया को क्रमिक विकास की दृष्टि से तीन चरणों में विभाजित कर सकते हैं—(१) इसका प्रारम्भ भारतेन्दु काल में हुआ, (२) इसके विकास में पं० श्रीधर पाठक ने महान योग प्रदान किया और (३) महावीरप्रसाद जी द्विवेदी तक आते-आते इसका व्यापक प्रसार हो गया। भारतेन्दुकालीन कविता में ही भारतीय जन-समाज का क्षीण निश्वास-प्रश्वास सुनाई देने लग गया था, परन्तु उस युग का कवि समाज की दीन-हीन दशा पर केवल क्षुब्ध था, करुणा के आँसू गिराता तथा आर्तवाणी में अपनी असमर्थता प्रकट करता था, उसके अन्दर वह स्तर अथवा साहस नहीं आ सका था कि वह अपनी तत्कालीन जकड़ने वाली शृंखलाओं को तोड़कर समाज को मुक्त करने का सन्देश देता।

इसमें सन्देह नहीं, कि आधुनिक हिन्दी साहित्य को सर्वप्रथम मार्ग भारतेन्दु जी ने ही दिखाया। यदि आचार्य पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी को प्रधान

पोषक रूप में तो भारतेन्दु जी अवश्य ही उसके जन्मदाता थे। काव्य—क्षेत्र में द्विवेदी जी ने ही आधुनिक कविता के स्वरूप को प्रतिष्ठित किया। इन्होंने जिस साहित्य को प्रेरणा-प्रदान की है वह उपदेशगर्भित तथा सुधारवादी था। भारतेन्दु जी ने जनता को उसकी दुर्बलताओं एव विशेषताओं से परिचित कराया जिससे उसने संगठन के जर्जर वन्धन एवं रूढिग्रस्त विवशताओं को भली-भाँति पहचाना। इस समय लोक-कल्याण एवं सुधारवादी भावनाओं का स्वप्न प्रधान होने लग गया था। इसके साथ-साथ राष्ट्रीयता के भाव की प्रवल भूमिका तैयार होती जा रही थी, जनता के अन्दर अन्धरूढ़ियों एवं मिथ्या विश्वासों के प्रति विरोधी उग्र भाव उत्पन्न होने लग गये थे जिससे उसमें अनास्था के भाव जागने जा रहे थे। इस युग में प्राचीन गौरव की दुहाई अवश्य थी किन्तु सबके मूल में वर्तमान दम घुटा देने वाली प्रस्तुत व्यवस्था का तिरस्कार था। रीतिकालीन श्रृंगार के विरुद्ध उठी हुई तिरस्कार की भावना ने साहित्यिकों के चेतन मन को इस प्रकार आच्छन्न कर लिया था कि वे इसका ध्यान आते ही सहम पड़ते थे।

इसी समय राष्ट्रीयता एवं समाज सुधार की भावना से प्रेरित हो देश के अन्दर अनेक समाज-सुधारक संस्थाएँ तत्परता के साथ प्रचार कार्य कर रही थीं जिनमें वंगदेश सबसे आगे था। इसका मुख्य कारण यही था कि देश के अन्य भागों की अपेक्षा वह अंग्रेजों और उनकी सभ्यता के सम्पर्क में सबसे पहले आया। अंग्रेजों के सम्पर्क में आने के पश्चात् हिन्दू-समाज के पढ़े-लिखे लोगों ने उन समस्त नाना कुरीतियों एवं बुराइयों को पहचाना जो दीर्घ काल से समाज की जड़ें काट रही थीं। समाज का मस्तिष्क, जिसका निर्माण पाश्चात्य शिक्षा-लोक में हुआ था, उसके परिष्कार के लिए प्रयत्नशील हो उठा। देश की परतन्त्र जनता का शोषण और समाज की हीन एवं पतितावस्था से देश के विवेकशील मस्तिष्क विक्षुब्ध हो उठे। पर साथ ही उन्हें यह ज्ञात था कि लम्बी निन्द्रा से जगाने का श्रेय भी अंग्रेजों को ही है। उनके नाना ज्ञान-विज्ञानों से ही हमें विवेक बुद्धि का ऐसा आलोक मिल सका जिसके द्वारा हम अपनी वास्तविक स्थिति की परीक्षा करते हुए अपनी दुर्बलताओं से पूर्णतया परिचय प्राप्त कर सके हैं, और उनके सुधार में तत्पर हुए हैं।

'अंग्रेजों के राज्य-स्थापन की विधि भी ऐसी नीति-पूर्ण रही कि आरम्भ में वे हमारे हृदय में क्रूर और आक्रामक के रूप में नहीं अंकित हुए बल्कि

मुसलमानों की क्रूर एवं अव्यवस्थित शासन-प्रणाली के विरुद्ध प्रारम्भ में हमने अँग्रेजी शासन को एक आशीर्वाद समझा।'[1] भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने 'परदा' शीर्षक लेख में लिखा था कि 'हम लोगों को चाहिए कि सब के सब एक स्वर होकर अँग्रेज बहादुर का गुणानुवाद करें कि जिसकी शिक्षा से हमको साहस हुआ कि अपने देश की प्राचीन और बुरी रीतियों को त्याग करने में श्रम करते हैं।[2] इसमें सन्देह नहीं कि इस काल के कवियों ने समाज का यथार्थ दिखाने में बड़ा निर्मम और आदर्श की ओर इंगित करने में सतर्क तथा जागरूक दृष्टिकोण अपनाया है। सामान्य मानव के जीवन और अनुभूतियों का चित्रण पहली बार इस काल के कवियों ने किया है। नवीन ज्ञान के विकास में आधुनिक विज्ञान का भी महत्वपूर्ण योग है।

वस्तुतः पाश्चात्य वैज्ञानिक-बुद्धिवाद का ही यह फल था कि हम लोगों का विवेक इतना सजग हो पाया जिसके कारण अज्ञानान्धकार के स्थान पर समाज-सुधार की भावना प्रबल हुई। उन्नीसवीं शताब्दी में विज्ञान ने मानव-जीवन के ही नहीं बल्कि प्रगति के नाना क्षेत्रों में क्रांतिकारी परिवर्तन उपस्थित किया। जितनी भी प्राचीन मान्यताएँ शुद्ध कल्पना एवं रूढ़ि के बल पर टिकी थीं उन पर से लोगों का विश्वास डिगने लगा और मानव समाज ऐसे स्थल पर आकर खड़ा हो गया जहाँ से वह किसी भी वस्तु को केवल इसलिये ही मानने को तैयार नहीं था कि वह हमारे लिए मान्य एवं अनुकरणीय है क्योंकि वेदों द्वारा उसे मान्यता प्राप्त है। किसी भी वस्तु को स्वीकार करने के पूर्व मानव-समाज उसकी सम्भावनाओं और उपयोगिताओं की ओर देखने लगा, जिससे यहाँ पर आकर मानव जीवन के पुराने नियमों, आदर्शों तथा मान्यताओं में आमूल परिवर्त्तन ही नहीं हुआ बल्कि उसके प्रतिकूल समाज में प्रतिक्रियात्मक उग्र विरोधी भाव भी उत्पन्न हो गये, जिससे समस्त रूढ़ियों एवं अन्ध परम्पराओं का जीवन के सभी क्षेत्रों में तिरस्कार किया गया, वह चाहे साहित्य हो अथवा सामाजिक व्यवस्था।

यह ऐसा काल था जब कि देश के अन्दर राष्ट्रीय जागरण की लहर एक छोर से दूसरे छोर तक प्रवाहित हो रही थी। समाज के प्रत्येक क्षेत्र में सुधार-वादी आन्दोलन चलाने की चेष्टा की जा रही थी। सुधारक के लिए स्वच्छन्दतावादी होना तो नितान्त आवश्यक ही है क्योंकि रूढ़िवादी या

१. डॉ० शितिकंठ मिश्र, 'खड़ी बोली का आन्दोलन', पृ० २६९।

२. हरिश्चन्द्र, 'परदा', 'कवि वचनसुधा', सम्वत १९२७।

परम्परावादी किसी नवीनता का चाहे वह आवश्यक हो या अनावश्यक, स्वागत ही नहीं कर सकता। साथ ही उसे वास्तववादी और आदर्शवादी होना भी आवश्यक है। स्वच्छन्दतावाद ही एक ऐसी प्रवृत्ति है जो नवीनता को जन्म देकर उसे आगे बढ़ा सकती है। समाज सुधार के साथ-साथ देश के सामने जो सबसे बड़ी समस्या थी, वह थी स्वतन्त्रता को प्राप्त करने की। जब सारे देश के अन्दर परतन्त्रता की बेड़ी को तोड़कर स्वतन्त्रता के मुक्त आकाश में सांस लेने की बात चल रही हो तो ऐसी स्थिति में उस देश का कवि, जो युग और समाज का स्रष्टा और द्रष्टा है यदि परिस्थिति से मुख मोड़कर प्रेम और विरह के गान गाये अथवा नायिका की भाव-भंगियों में खोकर 'कला-कला के लिये' के सिद्धान्त को अपनाकर अश्लील एवं कुरुचिपूर्ण साहित्य की सृष्टि करे तो वह अशोभन ही नहीं, साहित्य और समाज के लिये अभिशाप भी है। कोई भी साहित्य अधिक दिनों तक सामाजिक भावनाओं की उपेक्षा करके जी नहीं सकता, साहित्य से समाज और समाज से साहित्य के प्रभावित होने का शाश्वत क्रम सृष्टि की ऐतिहासिक चिरन्तन प्रवहमान धारा है, इसलिये तत्कालीन कवियों के लिये यह आवश्यक था कि समाज के अन्दर जो स्वच्छन्दतावादी आन्दोलन की प्रबल माँग बढ़ रही थी उसके साथ अपने कण्ठ-स्वर मिलाता रहे।

राष्ट्रीय आन्दोलन का नेतृत्व जब महात्मा गाँधी के हाथ आया उसके पूर्व ही साहित्य का सामाजिक तथा राष्ट्रीय मूल्य तो आँका जा चुका था किन्तु एक व्यवस्थित क्रान्ति का रूप तो वह उनके प्रवेश से ही पा सका। सामाजिक कवियों में सर्वप्रथम पं० श्रीधर पाठक और राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' ने अपनी सौम्य और उदात्त वाणी में समाज की दुर्बलताओं को चित्रित किया। हिन्दी साहित्य के अन्दर हमें सर्वप्रथम स्वच्छन्दवादी प्रवृत्ति का उदय पं० श्रीधर जी पाठक की कविताओं में ही प्राप्त होता है। हरिश्चन्द्र के सहयोगियों में काव्य धारा को नए-नए विषयों की ओर मोड़ने की प्रवृत्ति तो दिखाई पड़ी, पर भाषा व्रज ही रहने दी गई और पद्य के ढाँचों, अभिव्यञ्जना के ढंग तथा प्रकृति के स्वरूप निरीक्षण आदि में स्वच्छन्दता के दर्शन न हुए। इस प्रकार की स्वच्छन्दता का आभास पहले पहल पं० श्रीधर पाठक ने ही दिया। उन्होंने प्रकृति के रूढिबद्ध रूपों तक ही न रहकर अपनी आँखों से भी उसके रूपों को देखा। 'गुनवंत हेमंत' में वे गाँवों में उपजनेवाली मूली-मटर ऐसी वस्तुओं को भी प्रेम से सामने लाये जो परम्परागत

ऋतु-वर्णनों के भीतर नहीं दिखाई पड़ती थीं।[1] पं० श्रीधर पाठक ने जिस स्वच्छन्दतावाद का प्रवर्तन किया उसने वस्तुगत, शैलीगत तथा छन्द-सम्बन्धी सभी परम्परित नियमों की उपेक्षा की। उन्होंने खड़ी बोली पद्य के लिये सुन्दर लय और चढ़ाव उतार के कई नये ढाँचे भी निकाले। अन्त्यानुप्रास-रहित बेठिकाने समाप्त होने वाले गद्य के से लम्बे वाक्यों के छन्द भी ( जैसे अँग्रेजी में होते हैं ) इन्होंने लिखे हैं। 'अटन' का यह छन्द देखिये—

**विजन वन प्रान्त था, प्रकृति मुख शान्त था।**
**अटन का समय था, तरणि का उदय था॥**
**प्रसव के काल की लालिमा में लसा।**
**बाल-शशि व्योम की ओर था आ रहा॥**

साहित्य की यह स्वच्छन्द धारा अप्रतिहत वेग से आगे प्रवाहित नहीं हो पाई, क्योंकि बीच में ही पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी से प्रभावित साहित्यिक युगधारा व्यवधान के रूप में आकर उपस्थित हो गयी। द्विवेदी जी ने अपनी अधिक से अधिक शक्ति परिष्कार में ही व्यय की, यद्यपि उनके शिष्यों द्वारा जो काव्य की धारा निकली उसके मूल में भी स्वच्छन्दतावादी धारा कार्य कर रही थी। मैथिलीशरण गुप्त तथा रामचरित उपाध्याय आदि ने धार्मिक तथा सामाजिक परम्पराओं को पोषित करने के लक्ष्य से जो काव्य-रचना की उन्हें छोड़कर जितनी रचनाएँ राष्ट्रीय भावनाओं से प्रेरित होकर की गयी हैं उनके अन्दर महत्वाकांक्षा तथा स्वर्ण-युग के निर्माण की प्रबल कामना ही निहित है। यही कामना तथा वर्तमान परिस्थितियों को बदल देने की भावना ही स्वच्छन्दतावादी साहित्य की मूल प्रेरणा है। गुप्त जी ने कुछ स्थलों पर प्रकृति को आलम्बन रूप में जो चित्रित किया है, वह न तो किसी ऋतु-वर्णन के भीतर आता है और न तो किसी शास्त्रीय विधान के ही। कवि का मन जिन स्थलों पर प्रकृति की रमणीयता की ओर आकृष्ट हुआ है उसका उसने चित्र उतारा है।

**'चारुचन्द्र की चंचल किरणें।**
**खेल रही थीं जल थल में॥**
**स्वच्छ चाँदनी बिछी हुई थी।**
**अवनि और अम्बर तल में॥**

---

१. पं० रामचन्द्र शुक्ल-हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ६०३

पुलक प्रकट करती थी धरती।
हरित तृणों की नोकों से।।
मानो तरु भी झीम रहे थे।
मन्द पवन के झोंको से।।'

( पंचवटी से )

इस प्रकार हम देखते हैं कि स्वच्छन्दवादी विचार धारा एक शास्त्रीय रूप में तो नहीं किन्तु आंशिक रूप में द्विवेदीयुगीन साहित्यकारों को भी प्रभावित कर रही थी। पं० रामनरेश जी त्रिपाठी के अन्दर आकर हमें पुनः स्वच्छन्दवादी प्रवृत्ति के दर्शन स्पष्ट रूप से होने लगते हैं। त्रिपाठी जी अपनी रचनाओं के द्वारा हमें स्वच्छन्दतावाद के प्रकृत पथ पर दिखाई पड़ने लग जाते हैं :

**सिंधु-विहंग तरंग-पंख को फड़काकर प्रतिक्षण में,**
**है निमग्न नित भूमि-अंड के सेवन में रक्षण में।।**

( पथिक )

द्विवेदी युग में ही 'जयशंकर प्रसाद' जैसी प्रतिभाएँ विद्यमान थीं जिन्होंने उनके प्रभुत्व को अस्वीकार कर 'छायावाद' के नाम से एक अलग शैली का निर्माण किया। हमने इसकी पूर्व में ही चर्चा कर दी है कि 'छायावाद' स्वच्छन्दतावाद से कोई अलग साहित्यिक विचार-धारा नहीं है बल्कि उसके अन्दर अन्तर्निहित एक विशिष्ट शैली मात्र है। प्रसाद जी की कविताओं का स्वतन्त्र रूप से विकास हुआ है और यहाँ तक कि उन्होंने अपने अमर महाकाव्य 'कामायनी' तक में भी महाकाव्य के शास्त्रीय नियमों का पालन नहीं किया है। 'निराला' जी ने तो काव्य के समस्त वाह्य नियमों का विरोध किया ही है इसीलिये उन्हें हिन्दी के विद्रोही कवि के नाम से पुकारा जाता है। ये हिन्दी कविता में वाह्य कला की स्वच्छन्दता के सूत्र-धार हैं। 'पंत जी' ने प्रकृति को अपनी रुचि के अनुसार देखा है और महादेवी जी तो उसे अपनी भावनाओं के साथ-साथ चलती पाती हैं। जिस प्रकार प्रबन्ध काव्य और महाकाव्य का साहित्य मुक्तक और प्रगीतों में आ गया उसी प्रकार स्वच्छन्दतावादी विचारधारा भी साहित्य के अनेक रूप में अभिव्यक्ति पाने लगी है जिसे कभी-कभी पहचानना भी कठिन हो जाता है। आधुनिक हिन्दीकाव्य के स्वरूपों में जो आज अव्यवस्था व्याप्त है उसके मूल में एक मात्र स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति ही है।

## रोमांस और कल्पना

स्वच्छन्दतावादी, भावपरक तथा महत्वाकांक्षा से पूर्ण और वैयक्तिक अनुभूतियों से व्यंजित जो कविता होती है उसका आधार-विन्दु कल्पना है। कल्पना के ही आधार तथा माध्यम से रोमांटिक काव्य की अभिव्यक्ति होती है। 'प्लेटो' के शब्दों में 'काव्य के स्थिर नियमों, एकता और व्यवस्था में अनेकरूपता तथा अव्यवस्था का प्रवेश मस्तिष्क की जिस आन्तरिक शक्ति द्वारा होता है उसे कल्पना कहते हैं।'[1]

कला और नीति के सम्बन्ध में 'प्लेटो' ने अपने जो विचार व्यक्त किये हैं यदि उनका अध्ययन करें तो स्पष्ट हो जायगा कि काव्य किस प्रकार किसी वस्तु की वास्तविक वस्तुस्थिति को पाठकों के सामने रख देता है, जिसको अपनाना और अस्वीकार कर देना उसका काम है। कला और नीति के सम्बन्ध में युगों से प्रतिवाद चला आ रहा है जिससे आज हम यह जानते हैं, और हमारे लिए जानना आवश्यक है कि कला और नीति में परस्पर कोई मौलिक विरोध नहीं है, यदि अन्तर है तो केवल उनके लक्ष्य में। नीति का कार्य है उपदेश देना, परन्तु कला उपदेश देने का प्रयत्न नहीं करती। नीति यह दृढ़तापूर्वक स्वीकार करती है कि मानव-जीवन कैसा होना चाहिये और कैसा नहीं तथा आदर्श जीवन की क्या रूपरेखा है, परन्तु कलाकार का कथन है कि थोड़े में सत्य तो यह है कि मेरा कार्य यही है कि मैं किसी भी वस्तु का मूल्यांकन उसी प्रकार कर दूँ जैसी कि वह है, उसे यदि आप चाहें तो ग्रहण करें अथवा त्याग दें तथा आप उनसे किसी भी प्रकार की शिक्षा ले सकते हैं जैसी चाहें। यदि वे प्रमाण रूप में आपके लिये कुछ मूल्य रखती हैं अथवा शिक्षाप्रद हैं तो उनका प्रयोग कीजिये, परन्तु ऐसा करने के लिए वाध्य करना मेरा कार्य नहीं है। मैंने अपनी रचना आपके सामने प्रस्तुत कर दी। अपना मूल्य, अपनी दृष्टि, अपनी कल्पना, अपना स्वप्न और अपनी माया प्रस्तुत कर दी; आप उसे जिस नाम से चाहें पुकार लें। यदि उनमें कोई शिक्षा है तो उसको प्राप्त करना आपका कर्तव्य है न कि मेरा। साहित्य के क्षेत्र पर यदि व्यापक दृष्टि से विचार किया जाय तो नीति भी साहित्य की सीमा

---

1. In the Plato's language is changing manifold and deorderd-a permanence, anunity and order introduced in to it by that faculty of the mind which we call imagination. ( Plato ) ( R. A. Scott James, The making of literature ).

के अन्दर आ जाती है क्योंकि बहुत से ऐसे नीतिकाव्य हैं जिन्हें साहित्य की अमूल्य निधि मानते हैं। किन्तु नीति की अपेक्षा साहित्य कला के अधिक निकट है, जैसा कि आधुनिक विद्वानों का मत है। रोमांटिक काव्य तो कला के इतने निकट है कि कहीं-कहीं दोनों समानान्तर होकर चलने लग जाते हैं। कला के माध्यम से जो रचना प्रस्तुत की जाती है यदि वह वस्तुपरक अथवा बाह्य संसार का चित्र है तो कलाकार का कार्य अपेक्षाकृत अत्यन्त सरल है क्योंकि वह इस प्रकार अपने कार्य की आधी मंजिल पर ही पड़ाव डाल देता है। उसकी मञ्जिल तब तक पूरी नहीं हो सकती जब तक कि वह आत्मापरक तथा रहस्यमय संसार की झाँकी नहीं दिखा देता और यह तब तक सम्भव नहीं है जब तक कि कवि अथवा कलाकार कल्पना का सहारा नहीं लेता।

'प्लेटो' के अनुसार कलाकार का सम्बन्ध केवल आकार प्रकार से ही है। वह अपनी कला के द्वारा सम्भावनाओं का चित्र उतारता है अथवा यों कहें कि वह आकृति की भी आकृति से यानी प्रतिकृति से सम्बन्ध रखता है। वह ऐसे संसार का चित्रण करता है जिसे हम आँखों से देखते हैं, या कानों से सुनते हैं, ऐसे संसार का चित्रण करता है जिसमें वस्तुएँ आती और विलीन हो जाती हैं, कभी छोटी दिखाई पड़ती हैं तो कभी महान, ऐसे संसार का चित्रण करता है जो परिवर्तनशील है, बदलता रहता है अथवा काल्पनिक है किन्तु जिसकी वह प्रतिकृति तैयार करता है, यानी यथार्थ वस्तु अपरिवर्तनीय रहती है। जिस स्थान पर कला के सामने सम्भावनाओं के चित्र उतारने का प्रश्न आता है वहीं पर कलाकार या कवि के सामने कल्पना की आवश्यकता उठ खड़ी होती है। बहुत सी ऐसी सम्भावित वस्तुएँ हो सकती हैं जिन्हें आँखों से तो नहीं देखा जा सकता किन्तु उनका अनुभव किया जा सकता है अथवा स्वप्निल अवस्था में वे कल्पना के नेत्रों के सामने मँडराती हैं जिनको कला अथवा काव्य के माध्यम से हम स्वरूप देना चाहते हैं। ऐसी स्थिति में कल्पना को छोड़कर दूसरी कोई ऐसी वस्तु नहीं है जो हमारे व्याकुल मन की कामना पूरी कर सके।

अनेक आकृतियाँ हैं जिन्हें हम लाल रंग की वस्तुएँ कहते हैं, किन्तु एकमात्र लालिमा की भावना जो वस्तु के पीछे छिपी है, बहुत-सी आकृतियाँ ऐसी हैं जिन्हें हम सुन्दर वस्तुएँ कहते हैं किन्तु सौन्दर्य की एकपूर्णता ही जिसका वास्तविक प्रभाव मस्तिष्क स्वीकार करता है, यथार्थ है। इस प्रकार

एक कलाकार आकृतियों की ही अनुकृति तैयार करता है किन्तु कवि कल्पना के ही माध्यम से वास्तविकता को, जो अमूर्त है, मूर्तरूप देने का प्रयत्न करता है। कुर्सी या चारपाई जिन्हें बढ़ई तैयार करता है, एकमात्र आकृतियाँ हैं वे यथार्थ नहीं कही जा सकतीं। यथार्थ वस्तु संसार में एक होती है, एक से अधिक नहीं। यदि एक से अधिक हुई तो वे पूर्व-कल्पित रूप होंगे जिसके पीछे एक वास्तविक वस्तु की धारणा छिपी होगी। बढ़ई केवल वास्तविक वस्तु की नकली वस्तु ही तैयार करते हैं इसके अतिरिक्त कुछ नहीं और पेंटर जो वस्तु तैयार करता है वह नकली वस्तु की भी नकल होती है अतः उसका कार्य अनुकरण का भी अनुकरण करना है। ठीक ऐसी ही स्थिति कवि की भी होती है। यद्यपि वह रंग आदि का प्रयोग नहीं करता फिर भी पेंटर की भाँति ही वह अपनी रचना के संज्ञा, क्रिया और मात्राओं आदि का प्रयोग करता है, अन्तर केवल इतना है कि पेंटर की कृतियाँ चक्षु-ग्राह्य होती हैं और कवि की कृतियाँ कर्ण-ग्राह्य। पेन्टर अपने काल्पनिक भावों को कभी-कभी चित्रों द्वारा व्यक्त करता है और कवि अभिव्यक्ति के माध्यम से। 'प्लेटो' का दृढ़ विश्वास है कि 'कवि का अनुकरण एक दुर्बल एवं अपूर्ण अनुकरण ही हो सकता है क्योंकि वह नकल की ही नकल तैयार करता है। कवि के विषय और ढंग सब झूठे होते हैं। वह अपनी भावुकता के द्वारा ही संचालित होता है तर्क के नहीं। वह हृदय की सबसे हेय भावना एवं गन्दे अंगों को ही उत्तेजित, संतुष्ट और दृढ़ करता है। वह ऐसी चित्तवृत्तियों को उकसाता है, तथा ऐसी अव्यवस्थित इन्द्रियों को उभाड़ता है कि साधारणतः हम जीवन में उनके अनुसार कार्य करने में लज्जा का अनुभव करेंगे। जहाँ तक प्लेटो यह कहता है कि कलाकार अथवा कवि की अभिव्यक्ति सत्य यानी यथार्थ से घटकर ही होती है, वह पूर्णतः सही है, किन्तु यह भी सत्य है कि वह सत्य से बढ़कर भी चित्रण करता है। वह कौन-सा अस्त्र कवि को मिल गया है कि वह नकल की भी नकल उतारते समय असल से भी श्रेष्ठतर सृष्टि कर जाता है। कवि की कल्पना ही उसका एकमात्र ऐसा साधन है जिस पर उड़ान लेकर वह अपनी अभिव्यजनाशक्ति के माध्यम से सौन्दर्य की ऐसी अभिव्यक्ति कर जाता है जो वास्तविकता से भी श्रेष्ठतर एवं लुभावनी होती है। वर्तमान से श्रेष्ठतर एवं आनन्दपूर्ण जीवन की महत्वाकांक्षा से संगठित भावाभिव्यक्ति को ही जब हम रोमांटिक काव्य की संज्ञा देते हैं तो कल्पना से विरक्त होकर ऐसा काव्य, जीवित रहने को कौन कहे, प्रादुर्भूत भी नहीं हो सकता।

कवि कल्पना के ही द्वारा अपने चित्र में भाव, अनुभव, अन्तर्ज्ञान तथा कुछ विशिष्ट आवश्यक गुणों की भी सृष्टि करता है। उसका लक्ष्य यही रहता है कि वह जीवन को उससे अधिक सुन्दरतर ढंग से सामने उपस्थित करे जैसा कि वह वास्तव में है। कल्पना का ही स्पर्श कर भाव अपने पंख पसारते हैं और जब उन्हें उपयुक्त भाषा का आकाश मिल जाता है तो वह जीवन की डाल-डाल पर गान-मुखर विहंग की भाँति फुदकने लगते हैं, पत्ते को राग-रणित चंचु से चूमने लगते हैं और ठोस तिनकों के नीड़ बनाकर सुख-शयन का ही नहीं, दृश्य-अदृश्य के परे जाने वाली अनन्त वायवी तरंगों का भी मधुपान करने लगते हैं। जहाँ तक संसार की दृश्य वस्तुओं का सम्बन्ध है वे क्लैसिक काव्य की एकमात्र वर्ण्य वस्तु है किन्तु जहाँ तक अदृश्य और वायवी वस्तुओं का सम्बन्ध है उन्हें रोमांटिक साहित्य के द्वारा ही वर्ण्यवस्तु के रूप में स्वीकार किया गया है। जो वस्तुएँ अदृश्य एवं वायवी होती हैं वे कल्पना की आँखों द्वारा ही देखी जा सकती हैं। यदि रोमांटिक कवि अपनी कल्पना की आँखें बन्द कर लेता है तो वह पूर्णतः रोमांटिक काव्य की सृष्टि कर ही नहीं सकता और कल्पना के अभाव में वह जो करेगा, उसकी वह सृष्टि अधूरी होगी और उसके आगे बहुत कुछ करना शेष रह जायगा। "कल्पना कवि की बहुत बड़ी शक्ति है, भाव तो किसी न किसी मात्रा में सब में उठते-मिटते रहते हैं, अनुभूतियों के तार सबमें यथा-वसर गुंजित होते हैं, किन्तु जब इन भावानुभूतियों को कल्पनास्पन्दन प्राप्त होता है, तभी अन्तश्चक्षुओं के सामने कला की परम्परा अवतरित होने लगती है। वाक् से अर्थ, अर्थ से वाक् का यही मधुमय मिलन कवि की साधना का साध्य होता है।"[1]

कवि के जीवन में आशा-निराशा सभी उसी प्रकार आती हैं जैसे एक साधारण व्यक्ति के जीवन में, क्योंकि वह भी एक सामाजिक प्राणी है। वह अपने अनुभव जीवन के विभिन्न क्षेत्रों से एकत्र करता है। जिन परिस्थितियों में वह रहता है उनके द्वारा प्राप्त अच्छे और बुरे अनुभव तथा अभावों की पीड़ा से प्रेरित होकर ही काव्य की सृष्टि करता है। जीवन में हुए पिछले अनुभवों को वह कल्पना की ही सहायता से अपने रचना-काल में सामने रख पाता है क्योंकि भोगकाल में भुक्तभोगी उसमें इस प्रकार डूबा होता है कि ममत्व एवं अहं की संकुचित सीमाओं में उसकी विशाल दृष्टि धुँधली पड़

१. प्रो० प्रेम, रोदन की भूमिका।

जाती है, किन्तु भोग के पश्चात् जब कल्पना उन मधुर विषयों को पुनः अन्तश्चक्षुओं के सामने उपस्थित करती है तब वह उनसे ऊपर उठकर, तटस्थ रहकर या उनके चारों ओर घूमकर अपेक्षाकृत पूर्णतर रूप में देख पाने की स्थिति में आ जाता है और तब उसकी वाणी केवल उसके ही भूखे-प्यासे अहं के स्वरों को हिलाकर नहीं रुक जाती वरन् जन-जन के हृदय-स्वरों के साथ प्रतिध्वनित हो उठती हैं। कवि की वाणी की यही बहुहृदय-स्पर्शिता उसकी कृति की सबसे बड़ी विभूति है। जिस काव्यकृति में भावों को जगाने एवं रमाने की क्षमता नहीं, वह और चाहे जो कुछ हो कविता नहीं। काव्यकार का कार्य केवल वस्तुओं का संग्रह करना नहीं बल्कि कल्पना के द्वारा सजीवता उत्पन्न करना होता है। रोमांटिक काव्य चाहे जितने भी असंतोष, अभाव एवं क्रांतिकारी भावों की अभिव्यक्ति क्यों न करे वह तब तक उच्चकोटि का साहित्य नहीं हो सकता जब तक कि कल्पना के माध्यम से कोई समाधान नहीं प्रस्तुत करता है जो कि विश्वास को अपनी ओर आकर्षित कर सके।

आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी का मत है कि कल्पना कवि की अपनी प्रतिभा का परिणाम होता है अतएव वह अपने मूल रूप में व्यक्तिगत है। परन्तु कवि द्वारा सृजन किया गया कल्पना का जगत ऐसा नहीं होता कि दूसरे उसका अनुभव न कर सकें। कवि कल्पना की यह सार्वजनिकता काव्य को व्यक्तिगत परिधि से बाहर ले जाकर सबके लिये सुखकर बना देती है। काव्य यद्यपि कवि की अपनी कल्पना का परिणाम है, परन्तु उसका उत्कर्ष सार्वजनिक बन जाने में ही प्रकट होता है। रोमांटिसिज्म के आरम्भिक युग में व्यक्तिवाद की प्रमुखता हो रही थी और काव्य के भाव-जगत को सार्वजनिक वस्तु स्वीकार करने में कठिनाई हो रही थी। परन्तु 'गेटे' और 'कालरिज' जैसे कई और समीक्षकों की चेष्टा से काव्यगत अभिव्यंजना को व्यक्तिगत भूमि से ऊपर उठाकर लोक-सामान्य भूमि पर ले जाने में सहायता मिली। इस प्रकार अनेकमुखी उद्योगों द्वारा साहित्य में अभिव्यञ्जना सिद्धान्त की प्रतिष्ठा हुई। कल्पना के ऊपर जो वैयक्तिकता के आक्षेप आरम्भ में लगाये गये उनके लिये अधकचरे और अकुशल कवियों की लेखनी ही जिम्मेदार है न कि कल्पना।

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने तो कल्पना को रोमांटिक काव्य का अभिन्न अङ्ग ही माना है। उनके अनुसार 'रोमांटिक' साहित्य की वास्तविक

भूमि वह मानसिक गठन है जिसमें कल्पना के अविरल प्रवाह से घन-संश्लिष्ट आवेग की ही प्रधानता होती है। इस कल्पना का अविरल प्रभाव और निविड़ आवेग ये दो निरन्तर घनीभूत मानसिक वृत्तियाँ ही व्यक्तित्व-प्रधान साहित्य-रूप की प्रधान जननी हैं परन्तु यह नहीं समझना चाहिये कि ये दोनों एक-दूसरे से अलग रहकर काम करती हैं।'[1]

इस प्रकार हम देखते हैं कि रोमांटिक काव्य और कल्पना को हम एक-दूसरे से अलग कर ही नहीं सकते।

प्रकृति में दो प्रकार की शक्तियाँ निरन्तर कार्य किया करती हैं, एक है विवेक और दूसरी कल्पना। विवेक का कार्य है विश्लेषण करना, वह वस्तुओं को तोड़फोड़ कर अन्तिम इकाई तक उसकी वास्तविकता का ज्ञान करना चाहता है और कल्पना यदि वस्तुओं को तोड़ती है तो उन्हें जोड़ती भी है। 'इस कल्पना के व्यापार का सच्चा और प्रकट स्वरूप कविता में दिखलाई पड़ता है। जीवन के किसी महत्तम क्षण में एक समवेदनशील प्राणी ने, जिसे कवि कहते हैं, किसी ज्योति की झलक देखी, मानो किसी अज्ञात लोक की वास्तविकता ने उसके सामने अपना हृदय खोलकर रख दिया है। इसकी कोई विशिष्ट रूपरेखा नहीं, आकार-प्रकार नहीं, यह निर्गुण और निराकार है। कल्पना को मानो इससे सन्तोष नहीं। वह चुपके से उसके पास पहुँचती है, एक जीवनी शक्ति लेकर उसमें प्रवेश करती है और तत्सम्बन्धी भावनाओं के विविध क्षेत्र में इसका विस्तार करती है।'[2]

इस प्रकार हम देखते हैं कि रोमांटिक काव्य के भीतर कल्पना प्राणवायु की भाँति व्याप्त है जिसके अभाव में इसका जीना ही असम्भव है।

●

१. डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, 'रोमांटिक साहित्यशास्त्र की भूमिका', पृष्ठ २।
२. श्री देवराज उपाध्याय-रोमांटिक साहित्य शास्त्र, पृष्ठ ७८।

# स्वच्छन्दता और अभिव्यञ्जनावाद

कवि अपनी अनुभूतियों एवं भावों को जब कविता के माध्यम से प्रकट करता है तो उस प्रकटीकरण के ढंग को ही साधारण भाषा में हम अभिव्यंजना कहेंगे। इस शैलीगत विशेषण को सर्वप्रथम शास्त्रीय रूप प्रदान करने वाले इटली के क्रोचे महोदय हैं, जिसे अभिव्यंजनावाद (Expressionism) कहते हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार किसी बात के कहने का ढंग ही सब कुछ है। कलाएँ आत्मा के सौन्दर्य को अभिव्यक्त करती हैं। आत्म-सौन्दर्य से सम्पन्न अभिव्यंजना ही काव्य है और अभिव्यंजना को इस सिद्धान्त के अनुसार काव्य तथा कला का लक्ष्य माना जाता है और सौन्दर्य को उसके अनिवार्य गुण के रूप में स्वीकार किया जाता है। आचार्य 'लेसिंग' के अनुसार भावाभिव्यञ्जना कला का उद्देश्य है जिसे 'विकलमैन' ने और भी आगे बढ़ाया। आचार्य 'रामचन्द्रजी शुक्ल' इसे हिन्दी में 'अपने यहाँ के पुराने वक्रोक्तिवाद का विलायती उत्थान मानते हैं।' उनके अनुसार 'अभिव्यञ्जना के ढंग का अनूठापन ही सब कुछ है, जिस वस्तु या भाव की अभिव्यञ्जना की जाती है वह क्या है, कैसा है, यह सब काव्य-क्षेत्र के बाहर की बात है।'[2] क्रोचे का कहना है कि अनूठी उक्ति की अपनी अलग सत्ता होती है, उसे किसी दूसरे कथन का पर्याय न समझना चाहिये। बात यह है कि अभिव्यंजनावाद भी 'कलावाद' की तरह काव्य का लक्ष्य बेल-बूटे की नक्काशीवाला सौन्दर्य मानकर चला है, जिसका मार्मिकता या भावुकता से कोई सम्बन्ध नहीं। और कलाओं को छोड़ यदि हम काव्य ही को लें तो इस अभिव्यंजनावाद को 'वाग्वैचित्र्यवाद' ही कह सकते हैं और इसे 'अपने यहाँ के पुराने 'वक्रोक्तिवाद' का विलायती उत्थान मान सकते हैं।'[1] यदि

१. आ० रामचन्द्र शुक्ल—'हिन्दी साहित्य का इतिहास', पृ० ४९६।

इस प्रकार की व्याख्या हम अभिव्यंजनावाद की करें तो रीति सिद्धान्त को छोड़कर अभिव्यंजनावाद और कुछ नहीं है क्योंकि अभिव्यंजनावाद की भाँति रीति अथवा शास्त्रीयकाव्य की भी सारी समस्याएँ शैलीगत हैं। रीति-काव्य, काव्य के बाह्य तत्व पर ही अधिक जोर देता है आन्तरिक तत्व पर नहीं। यह स्वरूप (Form) को ही काव्य का सर्वस्व मानता है आत्मा (Spirit) को नहीं। हिन्दी का रीतिकालीन साहित्य हमारे सामने है, हम देख सकते हैं कि किस प्रकार उस समय के कवियों ने एक ही विषय पर अनेक ढंग की कलाबाजियाँ दिखलाई हैं।

इनके अतिरिक्त सौन्दर्यशास्त्रीय आलोचना का मूल सिद्धन्त है अभि-व्यंजनावाद। अभिव्यंजनावाद का महत्व तो अपने आप में पूर्ण है, यह कोई नवीन उद्भावना नहीं है। यूनानी-रोमी आलोचकों के ग्रन्थों में इसके अनेक संकेत मिलते हैं। परवर्ती काव्यशास्त्र में 'आर्नल्ड' से पहले ही 'विक्टर ह्यगो' इस तथ्य की घोषणा कर चुके थे कि 'काव्य में अच्छे-बुरे विषय नहीं होते, अच्छे-बुरे कवि ही होते हैं। यह देखिए कि रचना किस प्रकार की गयी है, यह नहीं कि किस पर और क्यों ?'

साहित्य में स्वच्छन्दवादी विचारधारा के विकास ने साहित्य के शास्त्रीय मूल्यों को आमूल परिवर्तित कर दिया और पहले जो यह विश्वास था कि हमारा समस्त ज्ञान तथा प्रतिभा एक निश्चित शास्त्रीय पद्धति पर चलकर ही अपना चमत्कार दिखा सकती है, उसके स्थान पर यह भावना प्रबल होने लगी कि ज्ञान और प्रतिभा के लिये श्रेयस्कर है कि वह अपनी सुविधा के लिये शास्त्रीय नियमों का स्वयं विधान करे तथा श्रेयस्कर यही होगा कि वस्तुएँ हमारे ज्ञान के अनुकूल हों। शैली की समस्या वहाँ भी थी किन्तु शैली की समस्या वहाँ यह थी कि केवल एक ही अद्वितीय शब्द, वाक्यांश, वाक्य, अनुच्छेद, निबन्ध या गीत कुछ भी हो, उसका मन की छवि या मन के चित्र के साथ पूर्ण तादात्म्य हो। इस प्रकार जो पूर्व में सीमित दृष्टि-कोण था कि उक्तिवैचित्र्य में चमत्कार होना आवश्यक है, भले ही मन के भावों के साथ उसका पूर्ण तादात्म्य न हो सके क्योंकि परम्परावादी अथवा रीतिवादी काव्यों की विशेषता थी कि काव्य का बहिरंग शास्त्र-संमत होना आवश्यक है। परन्तु स्वच्छन्दतावादी कवियों के द्वारा जब काव्य के अन्तरंग पर बल दिया जाने लगा तो अभिव्यंजना का रूप भी बदला। इन कवियों ने विषय को प्रधानत दी न कि शैली को। इन लोगों का विश्वास है कि यदि विषय हमारे पास है तो शैली अपने आप तदनुरूप आ जायेगी, पहले कहने

को तो कुछ हो। ऐसी कविताओं में उक्तिवैचित्र्य नहीं, युग की आत्मा बोलती है जिसके पीछे कवि की वैयक्तिक अनुभूति छिपी होती है। इस प्रकार अलंकार, शाब्दिक चमत्कार तथा अन्य प्रसाधन जो अभिव्यंजना के अभिन्न अंग थे, भिन्न माने जाने लगे क्योंकि उनका पृथक् अस्तित्व है और वे वास्तव में शैली का कोई उपकार नहीं करते बल्कि उनके द्वारा उसकी मूलभूत एकता ही नष्ट हो जाती है। 'शब्द का औचित्य वहीं सिद्ध होता है; जहाँ वह अर्थ के साथ तदाकार हो जाता है।'

अभिव्यंजनावाद और रीतिवाद में साम्य के स्थान पर वैषम्य अधिक है। यद्यपि दोनों ने ही उक्ति को महत्व दिया है किन्तु दोनों की आत्मा में बड़ा भेद है। साम्य केवल उक्ति को महत्व देने में है क्योंकि अभिव्यंजनावाद उक्ति के अतिरिक्त अर्थ का अस्तित्व ही नहीं मानता और रीतिवाद रीति को महत्व देता है जिसके मूल में उक्ति है। दानों में वैषम्य इस दृष्टि से है कि रीति केवल उक्ति ही नहीं है बल्कि वह विशिष्ट पदरचना भी है और इसमें इसी पर अधिक बल दिया जाता है परन्तु अभिव्यंजनावाद उक्ति और अभिव्यंजना में भेद नहीं करता। उसका तो एक ही रूप है। वह सफल-असफल का भेद नहीं मानता क्योंकि असफल अभिव्यंजना तो अभिव्यंजना है ही नहीं। रीति का आधार रचना की विशिष्टता है जो गुणों से युक्त तथा दोषों से मुक्त होती है, परन्तु अभिव्यंजनावाद गुण, अलंकार, दोष आदि को अप्रासंगिक तथा मिथ्या कल्पना मात्र मानता है। अभिव्यंजना अखण्ड है उसे गुण तथा अलंकार आदि से खण्डित नहीं किया जा सकता। उसके सौन्दर्य की पूर्णता अपने में ही है। इस प्रकार रीति के सम्पूर्ण तत्व अभिव्यंजनावाद के अनुसार व्यर्थ हो जाते हैं। रीतिवाद वस्तुपरक सिद्धान्त है, अभिव्यंजनावाद शुद्ध आत्मपरक। उक्ति के स्थान पर दोनों एक रंगमंच पर से बोलते अवश्य हैं परन्तु दोनों के रास्ते दो हैं। इस प्रकार रीतिवाद और अभिव्यंजनावाद का यह वैषम्य उनके साम्य से कम मौलिक नहीं, बल्कि और भी गहरा है।

जिस प्रकार अभिव्यंजनावाद शुद्ध आत्मपरक है, उसी प्रकार स्वच्छन्दतावाद भी। स्वच्छन्दतावादी कवि भी सौन्दर्य की अभिव्यक्ति करना चाहता है परन्तु रीतिवादी कवि और उसमें यही भेद है कि स्वच्छन्दतावादी कवि का सौन्दर्य अधिक मानसिक है और रीतिवादी का अधिक ऐहिक। स्वच्छन्दतावाद इसका हामी है कि सौन्दर्य के माध्यम से भावों का वह उन्मेष जो

तात्कालिक सुखानुभूति की सृष्टि करता है, काव्य है। भावों की स्थिरता कभी भी स्वीकार नहीं की जा सकती, उसके परिवर्तित होते रहने की सम्भावना अधिक है और तात्कालिक सुख का भी कोई एक निश्चित दृष्टिकोण नहीं स्वीकार किया जा सकता। ऐसी स्थिति में निश्चित शैली को एकरूपता प्रदान कर देना कठिन तो है ही, उपयुक्त भी नहीं है। यद्यपि 'क्रोचे' ने इस अभिव्यंजनावाद का समर्थन जिस ढंग से किया है वह तद्वत् अभी तक हिन्दी साहिय में आया नहीं और न सम्भव ही है। किसी भी साहित्य एवं परम्परा के लिये अपने देश-काल की एक निश्चित सीमा होती है। ऐसी स्थिति में हमें इस परिभाषा को अत्यधिक व्यापक बनाना पड़ेगा। यदि अभिव्यंजनावाद को व्यापक दृष्टि से देखें तो इसकी सबसे अधिक अभिव्यक्ति स्वच्छन्दवादी कवियों के द्वारा हुई है। जिन भावों तथा अनुभूतियों की अभिव्यक्ति रीतिकाल का समृद्ध साहित्य कभी भी नहीं कर सका उसे भी स्वच्छन्दतावादी कवियों ने कल्पना की सहायता से प्रस्तुत कर दिया और इसे भी हम अस्वीकार नहीं कर सकते कि अभिव्यंजना की पूर्णता ही अभिव्यंजनावाद का मूल मन्त्र है जो स्वच्छन्दतावादी कवियों द्वारा सम्भव हो सका।

अभिव्यंजनावाद को स्वच्छन्दतावाद का ही एक अङ्ग या स्वरूप मानना चाहिये। इसमें सन्देह नहीं कि यह इसी विचार धारा के अन्दर अन्तर्भुक्त है। यों तो अभिव्यंजना को काव्य का एक स्वतन्त्र सिद्धान्त ही माना गया है, जिसके अन्दर अभिव्यंजना को ही काव्य की आत्मा के रूप में स्वीकार किया जाता है। यह सिद्धान्त हिन्दी कविताओं के अन्दर स्वतन्त्र रूप में नहीं आ पाया। स्वच्छन्दतावादी विचार-धारा के अन्दर ही यह अपना विस्तार और प्रभाव दिखाता रहा है और कम से कम उसकी व्याख्या उसी के अन्दर करनी चाहिये। यह नितान्त मौलिक रूप से पश्चिमी सिद्धान्त है और नाम भी वहीं से लिया हुआ है। अतः स्वतन्त्र रूप से उस विचार करने की विशेष आवश्यकता नहीं है। फिर भी इसकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का ज्ञान कर लेने से भ्रान्ति का निवारण अवश्य हो जायेगा। अभिव्यंजनावाद और कलावाद ( arts for arts sake ) पाश्चात्य समीक्षा-साहित्य में शैली को महत्व देने वाले दो प्रमुख वाद हैं। अभिव्यंजनावाद को शास्त्रीय स्वरूप देने का सर्वप्रथम श्रेय आचार्य 'क्रोचे' को है।

सत्रहवीं शताब्दी तक योरप में प्राचीन ग्रीक कला के आकर्षण का प्रभाव समाप्त हो चला था। धीरे-धीरे साहित्य-समीक्षक समसामयिक जीवन की

प्रेरणा से उद्भूत कविता के मर्मों को जानने के लिये जिज्ञासु हो रहे थे। यही साहित्य का वह ऐतिहासिक विन्दु है जहाँ से समीक्षाशास्त्र में स्वच्छन्दतावाद का प्रभाव बढ़ना आरम्भ हो गया। जर्मनी में लेसिंग, विकलमैन और इङ्गलैण्ड में शेली, कीट्स और वर्डस्वर्थ जैसे विद्वान् समीक्षक और कवि नयी धारा का उन्नयन कर रहे थे। प्राचीन ग्रीक कला का नया विश्लेषण करने वालों में 'लेसिंग' और 'विकलमैन' मुख्य आचार्य हैं। लेसिंग ने प्राचीन ग्रीक-कला की नये युग की पृष्ठभूमि पर व्याख्या की। उसका सिद्धान्त प्रायः सौन्दर्य-सिद्धान्त कहा जाता है, जिसके अनुसार काव्य और कलाएँ आत्मा के सौन्दर्य की अभिव्यक्ति करती हैं, आत्मसौन्दर्य से सम्पन्न अभिव्यंजना ही काव्य है। अभिव्यञ्जना ही काव्य तथा कला का वह लक्ष्य है जिसका अनिवार्य गुण सौंदर्य है। सौन्दर्यविहीन अभिव्यञ्जना निम्नकोटि की होती है। विकलमैन ने 'लेसिंग' के उपरोक्त सिद्धान्त का विस्तार के साथ स्पष्टीकरण किया तथा उसके विविध भेदों को उद्घाटित किया। आगे चलकर कान्ट ने कलात्मक प्रेरणा के वास्तविक रूप को और भी अधिक स्पष्ट किया। उसने विशुद्ध, व्यावहारिक और अनुभूतिजन्य ज्ञान की तीन श्रेणियाँ स्वीकार कीं और कला को इन तीनों ज्ञानों का समन्वित स्वरूप माना है। उसने कलाको विशुद्ध व्यावहारिक ज्ञान के मध्य में मानकर उसमें अनुभूति नामक तत्त्व की स्थापना की। कान्ट की इस व्याख्या के फलस्वरूप स्वच्छन्दतावादी धारा को और भी गति मिली। परिणामस्वरूप बाहरी नियमों और आंगिक सौंदर्य को छोड़कर रचनासम्बन्धी आंतरिक प्रक्रिया और अन्तरंग नियमों का महत्व बढ़ गया। उसी समय विद्वान 'कालरिज' ने यह बड़े जोरदार शब्दों में स्वीकार किया कि सौंदर्य के माध्यम से तात्कालिक सुख के लिये भावों का उन्मेष ही साहित्य है। उसने भावोन्मेष के लिए जिस सौंदर्य को माध्यम माना है वह अभिव्यंजना का ही सौंदर्य है, कला का बाह्य या आंगिक सौन्दर्य नहीं। बाह्यजगत या वस्तुजगत का कोई भी स्थान उसकी दृष्टि में नहीं है। कवि की मानसिक प्रक्रिया के अन्तर्गत ही वस्तुजगत का अस्तित्व है और उसकी मानसिक चेष्टा ही कलानिर्माण का एकमात्र आधार है। जिस मानसिक चेष्टा को वह कला का मूलाधार स्वीकार करता है वही मानसिक चेष्टा स्वच्छन्दवादी काव्य की जन्मदात्री है। मानसिक चेष्टा को अभिव्यक्त करने की प्रबल कामना ही ने तो सभी शास्त्रीय बन्धनों का तिरस्कार कर स्वच्छन्द अभिव्यंजना शैली को काव्याभिव्यक्ति का प्रमुख साधन स्वीकार किया है।

प्रारम्भ में तो कल्पना और आत्मानुभूति का रूप व्यक्तिगत था, किन्तु 'गेटे' ने काव्य के इस व्यक्तिमुखी रूप को सार्वजनिक बनाने का प्रयत्न किया, उसने कहा कि यद्यपि काव्य कवि की अपनी कल्पना का परिणाम है परन्तु उसका उत्कर्ष सार्वजनिक बन जाने में प्रकट होता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि 'क्रोचे' के समय तक अभिव्यंजना-सिद्धान्त की साहित्य में व्यापक रूप से प्रतिष्ठा हो चुकी थी। क्रोचे ने इस सिद्धान्त को शास्त्रीय रूप में उपस्थित किया और यह काव्य-कला का एकमात्र सिद्धान्त घोषित हुआ है।

क्रोचे ने आत्मा की दो क्रियाएँ मानी हैं, एक विचारात्मक दूसरी व्यवहारात्मक। विचारात्मक क्रिया के भी दो भेद माने हैं, स्वयंप्रकाश-ज्ञान, जो कल्पना द्वारा कला का उत्पादक है एवं तर्क की क्रिया, जिससे दर्शन और विज्ञान आदि का उदय होता है। व्यवहारात्मक क्रिया का भी उसके अनुसार दो रूप हैं, एक आर्थिक और दूसरा नैतिक। आत्मा का स्वयंप्रकाश-ज्ञान बौद्धिक ज्ञान से स्वतंत्र है, वह एक प्रकार की अलौकिक शक्ति है और उसका सम्बन्ध मन से है। कवि के मन पर जब दृश्यजगत् की नाना वस्तुओं की छाया पड़ती है तब यही अलौकिक शक्ति उन्हें अपनाकर नये बिम्ब के रूप में साकार और सुन्दर रूप दे देती है, यही आकार देने की क्रिया अभिव्यक्ति कहलाती है जो स्वभावतः शास्त्रीय बन्धनों एवं रूढ़िग्रस्त परम्पराओं तथा पिटे-पिटाये नियमों को स्वीकार करना नहीं चाहती, क्योंकि यह आन्तरिक होती है और आन्तरिक अभिव्यक्ति मूलतः स्वच्छन्दवादी साहित्य की नियामिका है। क्रोचे मन की ही प्रक्रिया को महत्व अवश्य देता है क्योंकि वह दृश्य-जगत की कोई सत्ता स्वीकार ही नहीं करता, उसके अनुसार यही मानसिक प्रक्रिया उस दृश्य-जगत को स्वरूप देती है जो मूलतः कल्पना पर आधारित है। मन की अव्यक्त सक्रिय अवस्था में वस्तु-जगत का जो प्रभाव कवि के ऊपर प्रतिबिम्बित होता है काव्य और कला उसी की ही अभिव्यंजना है। इसमें सन्देह नहीं कि मन की अव्यक्त सक्रिय अवस्था में आये हुए उद्गार बाहर आने के लिए अपना अलग मार्ग ढूँढेंगे जो मूलतः नियमों और परम्पराओं की अवहेलना करके निकाला हुआ स्वच्छन्द मार्ग होगा, क्योंकि कावात्मक अभिव्यंजना का संवेदन मनोमय तभी हो सकता है जबकि उसका स्वाभाविक प्रवाह निर्बन्ध तथा उन्मुक्त हो। काव्य का मनोमय होना उतना ही आवश्यक है जितना कि जीवन के लिए प्राणतत्व का होना। यह मनोमयता दृश्य-वस्तुओं की अभिव्यक्ति में नहीं आ सकती क्योंकि दृश्य-

वस्तुओं का इन्द्रिय-संवेदन निष्क्रिय होता है, जिससे काव्य की सृष्टि नहीं हो सकती, यही कारण है कि क्रोचे ने कला के वास्तविक रूप को आन्तरिक माना है। कलाकार या कवि के लिए यह आवश्यक नहीं कि वह अपनी आन्तरिक अनुभूति को शब्दों और रेखाओं का स्वरूप दे। वास्तविक कला और काव्य तो वह अनुभूति-जन्य अभिव्यञ्जना ही है जो मूलत: आध्यात्मिक होती है, जो या तो विशुद्ध और परिपूर्ण होगी या कला होगी ही नहीं, दोनों की मध्यवर्ती कोई स्थिति नहीं होती। इस प्रकार हम देखते हैं कि अभिव्यञ्जनावाद के प्रवर्तक आचार्य क्रोचे ने काव्य को वैयक्तिक महत्व दिया है और यह काव्य की वैयक्तिक साधना स्वच्छन्दतावादी विचार-धारा की मूल प्रेरक शक्ति है। क्रोचे के इस अभिव्यंजनावाद को जो एक प्रकार का वक्रोक्तिवाद कहा गया है, वह तर्कसंगत नहीं है, क्योंकि वक्रोक्तिवाद और अभिव्यञ्जनावाद में दो प्रमुख अन्तर हैं। वक्रोक्तिवाद की प्रकृति अलंकार की तरफ विशेष दिखाई देती है और उसमें स्वाभाविकता के लिये कोई स्थान नहीं है, किन्तु इसके विपरीत अभिव्यञ्जनावाद का वाह्य रूप से अलंकार के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है, उसमें उन स्वभावोक्तियों के लिये भी स्थान है जो मनोहर विम्ब रूप में किसी दृश्य को ग्रहण कर सकें। इसे कभी भी न भूलना चाहिए कि क्रोचे ने उक्ति को प्रधानता दी है, उक्ति-वैचित्र्य को नहीं। इसलिये अभिव्यंजनावाद और वक्रोक्तिवाद में समानता नहीं है। अभिव्यंजनावाद में स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति का कोई भेद नहीं। उक्ति केवल एकही प्रकारकी हो सकती है जिसमें पूर्ण अभिव्यक्ति सम्भव हो। इस दृष्टि से अभिव्यंजनावाद स्वच्छन्दतावाद के अधिक निकट है।

●

# रोमांस और यथार्थ

यदि हम पाश्चात्य साहित्य के क्रमिक विकास पर विहंगम दृष्टि डालें तो हमें ज्ञात होगा कि देश की जिन सामाजिक एवं राजनीतिक परिस्थितियों ने साहित्य में यथार्थ अथवा यथार्थवाद को जन्म दिया उन्हीं परिस्थितियों ने रोमांस अथवा रोमांटिक साहित्य को भी उत्पन्न किया। यदि इन दोनों विचारधाराओं में कोई अन्तर है तो केवल अभिव्यंजना शैली में अन्यथा दोनों का सामाजिक लक्ष्य प्रायः एक सा है। उनमें से एक यदि वास्तविकता को सामने रखकर वर्तमान की निस्सारता प्रकट करना चाहती है तो दूसरी कल्पना के माध्यम से सम्भावित श्रेष्ठतर परिस्थितियों का ज्ञान। १९ वीं और २० वीं शताव्दी के मध्य में यूरोप के अन्दर सामाजिक एवं राजनीतिक परिस्थितियों में अनेक मोड़ उपस्थित हुए जिनके परिणाम-स्वरूप साहित्य की विचारधाराओं में भी अनेक प्रकार के परिवर्तन आये। युग की आवश्यकताओं ने ही यथार्थवाद और स्वच्छन्दतावाद को जन्म दिया। १९ वीं शताब्दी में विश्वसाहित्य धीरे-धीरे मानव की दैनिक समस्याओं, उसके वास्तविक जीवन तथा एक विशेष विकासशील दिशा के निकट आया जिसका निर्माण पश्चिमी यूरोप के ऐतिहासिक यथार्थवाद के द्वारा हुआ। इसके अतिरिक्त १९ वीं शताब्दी के अन्त में हुई फ्रान्स की राज्यक्रान्ति ने यूरोप की प्रायः सभी पुरानी संस्कृति को ही बदल दिया जिससे एक नवीन दृष्टिकोण का उदय हुआ। इस महान् परिवर्तन की प्रेरणा से जो एक अभिनव कला परिपाटी का जन्म हुआ उसे ही स्वच्छन्दतावादी कला ( Romanticism ) के नाम से पुकारा गया। 'इस काव्य परिपाटी में सामयिक परिवर्तनों का प्रभाव प्रमुख रूप से व्याप्त था। कवियों की कल्पना सारी पूर्व-परम्परा का अतिक्रमण कर अत्यन्त नवीन रूप में व्यक्त हुई।'[1]

---

१. आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, 'आधुनिक साहित्य।'

नवीनता की कामना ने ही किसी वस्तु को देखने के लिये जो अनेक ढंग उपस्थित किये उन्हीं के कारण परम्परा के प्रति आये विद्रोही भाव अनेक दिशाओं में विभिन्न शैलियों में अभिव्यक्त हो उठे और यथार्थवाद तथा स्वच्छन्दतावाद दोनों वैसी ही साहित्यिक शैलियाँ हैं जो वास्तविकता, असंतोष तथा अभाव को व्यक्त करती हुई परिवर्तन तथा महत्वाकांक्षा की ओर प्रेरित करती हैं। फ्रांस की राज्यक्रान्ति से समाज की जो रूपरेखा बनी उसने पढ़े लिखे लोगों की महत्वाकांक्षा, साहित्य और उनके समय की जनता में विग्रह उत्पन्न कर दिया। इस काल में वही लेखक महान् बन सकता था जो नवीनतम समस्यायें लेकर दैनिक जीवन को चित्रित करता। इसके अतिरिक्त अन्य नूतन ज्ञान-विज्ञानों के प्रभावों ने मानव समाज के सामने सोचने की ऐसी भूमि तैयार कर दी कि जिसके आधार पर वह सोचने लगा कि वर्तमान जो उसके सामने है वही अन्तिम सत्य नहीं है और जो जिन्दगी वह जी रहा है न वही उसकी एकमात्र जिन्दगी है जिसे उसे जीना है। इस प्रकार साहित्य ने जीवन अथवा जगत की वास्तविकता को उसके नग्न रूप में उपस्थित किया, उसे तो साहित्य में यथार्थवाद के नाम से पुकारा गया और जिसने सम्भावित श्रेष्ठतर जीवन अथवा जगत की झाँकी दी उसे स्वच्छ-न्दतावादी विचारधारा के नाम से अभिहित किया गया। किन्तु दोनों के मूल में प्रेरणा श्रेष्ठतर जीवन की कल्पना ही है।

आधुनिक युग में हम यथार्थवाद को रोमांसवाद से बिल्कुल भिन्न वस्तु समझने लग गये हैं, पर रोमांटिक युग के विचारकों की विचारधारा ऐसी नहीं थी। रोमांटिक विचारधारियों की उत्पत्ति ही कृत्रिमता, असत्यता और झूठ के विरोध में हुई थी, अतः वे स्वाभाविकता से यथार्थता के पक्षपाती थे। उनके मत में यथार्थता रोमान्सवाद की सार वस्तु है। 'बायरन' ने सत्य के महत्व का उद्घोष करते हुए कहा था कि ( Truth is always stranger than fiction ) अर्थात् सत्य सदा ही विचित्र होता है, कथा कहानी से भी अधिक विचित्र। 'हैजलिट' ने एक बार कहा था 'कि मौलिकता की परीक्षा और विजय इसमें नहीं है कि वह हमें ऐसी वस्तु दिखाये जो कभी घटी नहीं है और जिसकी हम आसानी से कल्पना भी नहीं कर सकते पर इसमें है कि वह हमें उस बीज को दिखाये जो हमारी आँखों और पैरों के तले हो फिर भी अपनी प्रतिभा और मस्तिष्क की दृढ़ पकड़ के अभाव में उसके अस्तित्व की कल्पना भी हम नहीं कर सकते। 'वर्डस्वर्थ में इस

रोमांसवाद और यथार्थ के सम्मिश्रण के बारे में अधिक कहने की आवश्यकता नहीं, वह एकदम स्पष्ट है जिसे कोई भी आसानी से देख सकता है।"[1] इस प्रकार हम देखते हैं कि आरम्भ से ही ये दोनों साहित्यिक प्रवृत्तियाँ स्वरूप में भिन्न होते हुये भी एक ही प्रेरणा से उद्भूत हैं।

"साहित्य में वह सभी यथार्थ है जिसके पीछे साहित्यकार की अपनी अनुभूति है, और जिसे वह दूसरों को अनुभूत करा सकता है। मानव अनुभूति के विषय असीम और असंख्य हैं। इनकी सीमा के निर्धारण का प्रयत्न कोरी विडम्बना होगी। साहित्यकार के लिये एक नियन्त्रण स्वीकार किया जा सकता है, वह है उसके साहित्य का लोक-कल्याणकारी रूप। उसे समाज का अकल्याण करने का कोई भी अधिकार नहीं है। उसे कदापि ऐसे यथार्थ का चित्रण नहीं करना चाहिये, जिससे कि पाठकों की कुरुचि-पूर्ण, कुत्सित, पशु-वृत्तियों को प्रोत्साहन मिले। परन्तु स्वस्थ रोमांस मानव-जीवन में ताजगी लाने तथा उसे गतिशील बनाये रखने के लिए अति आवश्यक है। साहित्य के क्षेत्र में 'रोमांस' भी उतना ही यथार्थ है, जितना रोटी-कपड़ा।"[2]

'लोगों की सामान्य धारणा है कि 'रोमांस' विलासी जीवन की क्रोड़ में फलता फूलता है और उसकी सुकुमारता संघर्ष-रत मानवजीवन के ताप को पाकर मुरझा जाती है। कहा जाता है कि आज का संघर्षरत मानव किसी प्रकार की रोमानी भावनाओं में दिलचस्पी नहीं ले सकता। जो रोटी कपड़े के लिए, अपने अधिकारों के लिये, अपने जीवन के लिये शोषकों से लड़ रहा है, उसे प्रेमकहानी पसन्द आयेगी? किन्तु यह तथ्य नहीं है। शोषित और संघर्षरत व्यक्ति भी मानव है, 'आटोमैट' नहीं जो सदा एकही बात सोचता रहेगा। पेट की भूख के अतिरिक्त मानसिक भूख उसे भी लगती है, इसका अकाट्य प्रकार प्रत्येक देश के लोकगीत और लोककथायें हैं। लोकगीत और लोककथायें बुर्जुआ वर्ग की रचनायें नहीं हैं, ये प्रत्येक देश और काल के शोषितों की, सर्वहारा वर्ग की रचनायें हैं। कोई नहीं कह सकता कि ये रचनायें यथार्थ का चित्रण नहीं हैं। इनमें हमें जन-जीवन की सच्ची झाँकी देखने को मिलती है। यह कट्टर से कट्टर प्रगतिवादी भी स्वीकार करेगा कि लोकसाहित्य में केवल संघर्ष और रोटी-कपड़े की ही बातें नहीं हैं। मानव

---

१. श्री देवराज उपाध्याय, रोमांटिक साहित्य शास्त्र, पृ० १४५।

२, कल्पना-सम्पादकीय अक्टूबर १९५२, पृ० ७४३।

जीवन में प्रेम-तत्व का पाया जाना चिरन्तन सत्य है, फलस्वरूप साहित्य के अन्दर रोमांस उतना ही शाश्वत है जितना कि साहित्य में मानव ।'[1]

मैंने इसकी चर्चा अन्यत्र की है कि कल्पना और रोमांटिक काव्य का परस्पर कितना गहरा सम्बन्ध है । यथार्थवाद जो कि एक प्रकार के काल्पनिकता के विरोधी अर्थों में प्रयुक्त किया जाता है, यदि उसे भी हम गम्भीरता-पूर्वक विचार करें तो वह भी कहीं-कहीं कल्पना का दामन नहीं छोड़ पाता । अँग्रेजी साहित्य में आजकल यथार्थवाद का स्वरूप बहुत कुछ बदल गया है । वह अब कल्पनामय और रहस्यमय हो गया है और उसमें बहुत सी ऐसी वस्तुयें प्रवेश पा गई हैं, जो कि सत्य से बहुत दूर और असम्भव तथा अविश्लेष्य मालूम पड़ती हैं । परन्तु यथार्थवाद के समर्थक अब भी यही कहते हैं, कि हमने सत्य के अन्वेषण के लिए अपने क्षेत्र को और अधिक विस्तृत कर लिया है जिसमें साहित्य की पुरानी लीक पर चलने की कोई आवश्यकता नहीं । मायर्स ने अनुसार तो वास्तववाद ने ही अपने नग्न, निकृष्ट और नीरस वाग्विस्तार को अधिक से अधिक अर्थ-गर्भित बनाने के लिए प्रतीकवाद का रूप धारण कर लिया है ।

कितने वास्तववादी लेखक आगे चलकर स्वयं प्रतीकवादी बन गये हैं । प्रभाववादी कवि उस घटना का वर्णन करते हैं जो निरपेक्ष दृष्टि से उनके हृदय पर अपना प्रभाव डालती है; जबकि यथार्थवादी उसका तद्वत् वर्णन कर देता है । वह प्रभाववादियों की भाँति हृदय पर पड़े हुए प्रभावों के अनुसार नहीं करता । 'चित्रकार जब चित्र बनाने बैठता है तब वह तथ्य का सम्वाद देने नहीं बैठता । वह तथ्य को उसी हद तक स्वीकारता है, जिस हद तक उसको लक्ष्य करके किसी एक सुषमा का छन्द विशुद्ध रूप में मूर्त हो उठता है । यह छन्द विश्व का नित्य पदार्थ है । इस छन्द के ऐक्य सूत्र में ही हम तथ्यों के सत्य का आनन्द पाते हैं । इस विश्व छन्द के आलोक में बिना उद्भासित हुए तथ्य का हमारे लिये कोई मूल्य नहीं ।'[2]

यथार्थवादी लेखक जैसे 'बालज़ाक' या 'टालस्टाय' अपनी रचना की अन्तिम प्रश्नावली को समाज की सबसे महत्वपूर्ण तथा नवीनतम समस्या से चुनते हैं और वहीं से उनकी रचना का आरम्भ भी होता है । जन-समुदाय की कठिनाई जो उस समय तीव्रतम रूप में सामने रहती है,

---

१. हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद, पृ० १६, १७ ।

२. रवीन्द्रनाथ ठाकुर, रवीन्द्रसाहित्य, भाग २४, अनु० हंसकुमार तिवारी, पृ० ४३, ४४ ।

उसी के प्रति सहानुभूति एवं उदारता दिखलाने के लिये वे अपने साहित्य की सृष्टि करते हैं। यही कठिनाइयाँ तथा दर्द उनके अनुराग अथवा घृणा का स्वरूप निश्चित करते हैं और इसी भावुकता के द्वारा ही उनकी कल्पनात्मक दृष्टि का निर्माण होता है, तथा उसी से पता चलता है कि उन लोगों ने इसे किस प्रकार और कैसे देखा है। यही देखने की दृष्टि की विशिष्टता ही यथार्थवाद और स्वच्छन्दतावाद के स्वरूप में अन्तर डालती है। जो लोग इसका प्रयोग विरोधी अर्थों में करते हैं उनका दृष्टिकोण नितान्त भ्रमात्मक है। उनका यह कहना कि यथार्थवादी साहित्य अपनी विषय-वस्तु काल्पनिक संसार से न लेकर वास्तविक संसार से लेता है, कोई मूल्य नहीं रखता क्योंकि यथार्थवादी लेखक अपनी कल्पनात्मक प्रतिभा के बल पर बाह्य पदार्थों का यथातथ्य चित्र उपस्थित करने का भी प्रयत्न करता है अथवा भौतिक तत्वों का चित्रण करते समय अपनी भावुकता तथा अपनी अनुभूतियों को बाधक नहीं होने देता और यही कल्पना, भावुकता तथा कवि की अनुभूतियाँ ही रोमांटिक काव्य को जननी हैं। जब हम यह स्वीकार करने में नहीं हिचकते कि 'यथार्थवाद यथार्थता की आधारभूमि पर जीवन का नूतन चित्र है'[1], तो हमें यथार्थवाद और स्वच्छन्दतावाद के पारस्परिक सम्बन्ध को स्वीकार करना ही होगा।

●

---

१. लेखक का हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद, पृ० ७।

# रीतिवाद और स्वच्छन्दतावाद

भ्रान्तियाँ—पाश्चात्य साहित्य के अन्दर दो परस्पर विरोधी शब्द 'क्लैसिक' और 'रोमांटिक' बहुत दिनों से प्रयुक्त होते आ रहे हैं। दार्शनिक अथवा चिन्तक चुपके से इन दोनों शब्दों के प्रयोगों की अवहेलना कर जाते हैं। परन्तु ये शब्द दोषरहित तर्कों के साथ विद्वानों के सामने उसी प्रकार मँडराया करते हैं जैसे प्रेत-भावना। प्रेत-भावना की भाँति, न चाहते हुये भी हठात् उनका प्रवेश हो ही जाता है, जिनको शब्दों में बाँधना अत्यन्त कठिन है; और उसके साथ ही साथ वे अत्यन्त थका देने वाले होते हैं तथा किसी भी प्रकार से उनसे पीछा नहीं छुड़ाया जा सकता। व्याकरण-विशेषज्ञों ने साहित्य में इनको उपयुक्त स्थान दिलाने का प्रयत्न किया है तथा जहाँ तक हो सका है इनके निश्चित स्थान को निर्धारित करने का भी प्रयत्न किया है और उनकी श्रेणी निश्चित करने तथा एक निश्चित परिभाषा देने की भी चेष्टा की है। विद्वानों के स्तुत्य अथक प्रयत्नों के बाद भी उन्हें एक प्रकार से असफलता ही मिली है और वे इन शब्दों की स्पष्टता घोषित नहीं कर पाये। अन्त में विद्वानों ने अथक प्रयत्न करने के पश्चात् यह परिणाम निकाला कि वे भ्रान्ति से अब तक छाया को एक ठोस पदार्थ समझते रहे हैं।

प्रोफेसर एलन ( Ellon ) इन्हें विचारों को घबड़ा देने वाले ( Thought confounding words ) शब्द कहा है। क्लैसिकल की अधिकांश परिभाषायें अनेक अवसरों पर रोमांटिक के साथ प्रयुक्त हुई हैं और स्वच्छन्दतावाद (Romanticism) की अधिकांश परिभाषायें कुछ उद्दण्डता-पूर्ण अपवादों के साथ रीतिवाद ( Classicism ) के लिये प्रयुक्त हुई हैं। इन शब्दों को लेकर विवाद इस सीमा तक पहुँच गया है कि क्लैसिकल और रोमांटिक शब्दों की परिभाषा एक दूसरे के विरोधी अर्थों में ही नहीं बल्कि विचित्र तथा निरर्थक विचारों के लिये भी की जा रही है।

प्राचीन तथा विभिन्न अवसरों पर उठे इन शब्दों के विवादों की पुनरावृत्ति करना उचित नहीं क्योंकि इस विषय की व्याख्या विभिन्न विरोधी रूपों में अनेक प्रकार से की जा चुकी है। अल्फ्रेड डी मुसेट (Alfred de muset) नामक विद्वान ने सन् १८३६ ई० में इसकी व्याख्या अत्यन्त ही चपलतापूर्ण चातुरी के साथ की है जिसके अनुसार रोमांटिक शब्द का प्रयोग केवल ड्रामा के लिये ही होना चाहिए। उसने शेक्सपियर को रोमांटिक माना है क्योंकि उसने परंपरागत सीमा का उल्लंघन किया और उसके पात्र चमत्कारिक ढङ्ग से १५ मिनट में ही लन्दन से एथेन्स तथा अलेक्जेन्डरिया की लम्बी यात्रा समाप्त कर आते हैं। परन्तु शीघ्र ही वह यह भी स्वीकार कर लेता है कि रोमांटिक और क्लैसिकल कवितायें तथा उपन्यास और संगीतमय छोटी कवितायें भी थीं। इस प्रकार की कठिनाई 'डी सुमेंट' तक ही नहीं सीमित है। जे० जे० राबर्टसन् ने १९२३ में एक अत्यन्त महत्वपूर्ण गम्भीर रचना 'स्टडी इन दी जेनेसिस आफ रोमांटिक थियरी इन दी एटीन्थ सेन्चुरी' (Study in the genesis of the romantic theory in the eighteenth century) नाम से यह दिखलाने के लिए प्रस्तुत किया कि स्वच्छन्दतावाद का आरम्भ इंग्लैण्ड में अठारहवीं शताब्दी में हुआ जिसे इंग्लैण्ड के विद्वानों ने एक मात्र इटली के एक छोटे से आलोचक सम्प्रदाय से प्राप्त किया था। उसी वर्ष बोलोगन में 'टाफेनिन' ने एक रचना प्रस्तुत की जिसमें उसने सुझाव रखा कि उपरोक्त इटली के आलोचक समुदाय को क्लैसिक भी कहा जा सकता है। अत: स्वभावत: यह प्रश्न उठ खड़ा होता है कि वे आलोचक किस वर्ग के थे ? वे स्वच्छन्दतावादी थे अथवा रीतिवादी, उन्हें क्लैसिक कहा जाय अथवा रोमांटिक ?

इस प्रकार हम देखते हैं कि क्लैसिकल और रोमांटिक के सम्बन्ध में जो विवाद उठता रहा है वह केवल इसके पारस्परिक विरोधी अर्थों को लेकर ही नहीं बल्कि इस सीमा तक भी उतर आया है जो विचित्र तथा निरर्थक तर्कों का भी रूप ग्रहण करता रहा है। रीतिवादी परम्परा को स्वीकार करने का अर्थ होता है एक निश्चित नियमों, निश्चित प्रकारों तथा अभिप्राय को स्वीकार करना। रीतिवादी परम्परा के आदर्श भी निश्चित होते हैं। साहित्य में रीति सम्प्रदाय पुरातनवादियों का सम्प्रदाय है। इसके अतिरिक्त स्वच्छन्दतावाद का अभिप्राय स्वीकार करना नहीं बल्कि बहिष्कार करना होता है। यह शाब्दिक अर्थ का आविष्कार तथा सांकेतिक अर्थों की खोज करता है और

दृश्य छोड़कर अदृश्य की ओर कल्पना करता है तथा यह परंपरागत निश्चित नियमों के असन्तोष से उद्भूत है। एक ओर जहाँ संस्कृत नियमों को स्वीकार कर लेना ही रीतिवाद है, वहीं दूसरी ओर स्वच्छन्दतावाद असंस्कृत अथवा प्राकृतिक इच्छा का नाम है।

राल्फ इ० सी० हाटन ( Ralph E. C. Houghton ) के अनुसार 'सभी महान साहित्य की साधारणत: एक ही विशेषता है, वह है सौन्दर्य, चाहे वह रीतिवादी हो अथवा स्वच्छन्दतावादी। सौन्दर्य की खोज में सामान्यत: सत्य तथा रूप की पूर्णता पर रीतिवाद अत्यधिक ध्यान देता है किन्तु स्वच्छन्दतावाद चटकीलेपन, संकेत और रहस्य पर अधिक ध्यान रखता है।'[१] रीतिवाद हमें अनावश्यक विवरण नहीं देता और यह आशावाद तथा निराशावाद के अधिक्य से परे है, इसके प्रतिकूल स्वच्छन्दतावाद में सभी बातें पाई जाती हैं।

अंग्रेज कवि कीट्स, जिसकी गणना स्वच्छन्दतावादी कवियों में की जाती है, काव्य के सौन्दर्य पर अधिक बल देता है और उसके अनुसार 'कविता के लिये आवश्यक है कि वह सौन्दर्याधिक्य से हमारा रंजन करे।'[२]

वह रीतिवाद की सुन्दरता का समर्थक था जो उन पहाड़ी चोटियों की सुन्दरता के समान है जिसमें वैभवशाली उपत्यकायें भी हों।

## क्लैसिक और रोमांटक में भेद

क्लैसिकल अथवा शास्त्रीय साहित्य काव्य की शैली तथा प्रकार पर अधिक बल देता हैं। इसके मूल में केवल साहित्य-रूप की सुन्दरता ( Beauty of form only ) विद्यमान रहती है। उपरोक्त शब्द केवल यही अर्थ नहीं रखता क्योंकि साहित्य में तो इसका प्रयोग होता ही है, इसके अतिरिक्त कला में चित्रोपमता लाने के लिये तथा संगीत आदि में भी यह प्रयुक्त होता है। परन्तु इसका वास्तविक महत्व काव्य रूप के लिये ही है। जे० सी० फिलमन, जिसने शास्त्रीय संगीत के सम्बन्ध में अपनी रचनायें प्रस्तुत हैं, के अनुसार

---

1. "The common quality of all great literature whether Classic or romantic is beauty, but in seeking beauty classicism looks more to truth, simplicity and perfection, of Form, romanticism to colour suggestion and mystery. ( Rolph E. C. Houghton )
2. "Poetry should delight us by a fine excess" ( Keats ).

इसमें प्रकार ( Form ) अथवा रूप मुख्य है और वर्ण्यविषय उसके आश्रित है। किन्तु रोमांटिक साहित्य भावुकताप्रधान होता है और उसमें वर्ण्यविषय की प्रधानता होती है और रूप अथवा प्रकार उसके आश्रित है। हृदय के वेग भरे उमड़न से ओत-प्रोत होकर जब प्राणों की आकुलता कवि की वाणी के माध्यम से बरबस फूट निकलती है तो उससे जिस साहित्य की सृष्टि होगी वह रोमांटिक अथवा स्वच्छन्दतावादी साहित्य होगा। इसके अन्दर अभिव्यक्ति का इतना प्रबल वेग होता है कि शास्त्रीय साहित्य की लौह दीवारें इसे रोक न सकने के कारण छिन्न-भिन्न हो जाती हैं। और स्वच्छन्दतावादी साहित्य की कविता-कामिनी निर्बन्ध रूप से कल्पना-प्रांगण में विचरण करने लग जाती है। जिसके अन्दर स्वच्छन्दता होगी और जो सबसे महत्वपूर्ण वस्तु होगी वह कवि की आन्तरिक अनुभूति है जो प्रत्येक महान् कविता अथवा साहित्य का मूल तत्व है।

क्लैसिक अथवा शास्त्रीय साहित्य की सारी समस्यायें शैली की समस्या हैं। आधुनिक क्लैसिक कविताओं से हमारा तात्पर्य उन कविताओं से है जिनका एक निश्चित स्वरूप है तथा एक निश्चित शैली है और वे शास्त्र-विहित नियमों की कसौटी पर खरी उतरती हैं। परन्तु रोमांटिक कविताओं में आंतरिक प्रेरणा महत्वपूर्ण है, वह शैली के सम्बन्ध में एक भी शास्त्रीय बन्धन स्वीकार करने के लिये तैयार नहीं है। अनुभूति और कल्पना को जिस प्रकार श्रेष्ठतम अभिव्यक्ति मिल सके स्वच्छन्दतावादी साहित्य की वही विहित शैली है जिससे यह साहित्य एकरसता और एकरूपता को दूर से ही नमस्कार करता है। इसका अपना एक अनिश्चित सौन्दर्य जो परिवर्तित होते रहने के कारण सदैव ताजा रहता है, जूठा होता ही नहीं, इसके अतिरिक्त इसमें ऐसा असाम्य पाया जाता है कि जिसे स्वीकार तथा पसन्द करने का लोभ छोड़ा ही नहीं जा सकता।

'गेटे' शास्त्रीय तथा स्वच्छन्दतावादी को एक दूसरे से भिन्न नहीं मानता उसके अनुसार दोनों में परस्पर गहरा सम्बन्ध है। रोमांटिक आन्दोलन ने साहित्य के इतिहास में एक नवीन सुन्दर काव्य-शैली का प्रादुर्भाव किया है और यह भी बिल्कुल निश्चित है कि केवल शैली के आधार पर रची कविता को क्लैसिकल अथवा शास्त्रीय कविता नहीं कहा जा सकता। गेटे की उक्ति में सत्य का विशेष अंश देखा जाता है क्योंकि सुन्दर से सुन्दर आकर्षक शव निष्प्राण होने के कारण आकर्षण की वस्तु नहीं बन सकता और वह आकर्षक

तभी हो सकता है जब दोनों, यानी प्राण और रूप, का समन्वय हो। कोई भी कविता शैली की सुन्दरता के कारण ही आकर्षक नहीं बन सकती यदि उसमें सजीवता नहीं है।

आचार्य वामन ने रीति को काव्य की आत्मा माना है, 'रीतिरात्मा काव्यस्य'। जो सम्बन्ध शरीर का आत्मा के साथ है, वही शब्द-अर्थ-रूप काव्य-शरीर का रीति के साथ है। रीति का अर्थ है 'विशिष्ट पदरचना रीतिः'। विशिष्ट का अर्थ है गुणयुक्त 'विशेषोगुणात्मा'। इस प्रकार रीति का अर्थ हुआ—गुणसम्पन्न पद रचना और 'रीतिरात्मा काव्यस्य' का अर्थ हुआ, 'गुणसम्पन्न पदरचना काव्य की आत्मा है।'[1]

इस प्रकार वामन ने काव्य में रीति ( शैली ) को ही प्रधानता दी है। शैली कविता का बाह्य स्वरूप है, वह कविता की आत्मा अथवा कविता की सर्वस्व नहीं हो सकती। यह काव्य का ऐसा उपादान है जिसके द्वारा काव्य का सौन्दर्य निखरता है। सौन्दर्य के प्रति समाज का दृष्टिकोण स्थान, काल तथा सभ्यता के अनुसार बदलता रहता है। जिस प्रकार सभ्यता के विकास के साथ साथ मानव अपने शृंगारसम्बन्धी साधनों में परिवर्तन लाता गया उसी प्रकार काव्य सौन्दर्य के प्रति परिवर्तन की पुकार आवश्यक ही है। यदि काव्य के स्वरूप के सम्बन्ध में दृष्टिकोण बदल जाता है तो आधुनिकतम स्वीकृत काव्य-रूप को हमें शैली का स्थान देना ही पड़ेगा, उसके लिए नाम की व्यवस्था हम चाहें जो कर लें। चाहे हम उसे नवीन शास्त्रवाद कह लें अथवा स्वच्छन्दतावाद या नवीनतावाद। कविता 'जीवन के व्यापक और साधारण सत्यों को विशिष्ट रूप देकर इस तरह से अभिव्यक्त करती है कि वे हर एक के लिए प्रेषणीय और ग्रहणीय हो जाते हैं। पर इन सत्यों को हम किस प्रकार प्राप्त करते हैं और किस ढङ्ग से उन्हें अभिव्यक्त कर प्रेषणीय बनाते हैं इसमें अन्तर हो सकता है। अतः इस अन्तर के कारण विभिन्न कवितायें हो सकती हैं।[2] यही कारण है कि जब साहित्य शास्त्र के बन्धन समय से पीछे पड़ जाते हैं तो उनकी सीमा अखरने लगती है और युग की पुकार उस बन्धन को तोड़ डालने के लिए वास्तविक उद्‌गारों को आमन्त्रित करती है।

---

१. डा० नगेन्द्र, हिन्दी काव्यालंकार सूत्र की भूमिका, पृ० ९।

२. श्री देवराज उपाध्याय, रोमाण्टिक साहित्य शास्त्र।

कालानुसार परिवर्तन क्रम अपनी स्वाभाविक गति से चलता रहता है जिसे हम तत्क्षण देख नहीं पाते और यह परिवर्तन देशकाल की सीमा से परे होता है। 'अठारहवीं शताब्दी के अन्त तक पहुँचते-पहुँचते अनेक आध्यात्मिक तथा आधिभौतिक कारणों से काव्य-दर्शन में भी मौलिक परिवर्तन आरम्भ हो गया। कान्ट, फिक्टे, शेलिंग आदि जर्मन दार्शनिकों ने दृष्टि को वस्तु से हटाकर आत्माभिमुख कर दिया। इन दार्शनिकों के प्रभाव से काव्य में विवेक और रीति के स्थान पर अन्तःप्रेरणा, अन्तर्दृष्टि, अन्तर्प्रकाश, कल्पना, आनंदातिरेक आदि का प्राबल्य घोषित हुआ। बाह्यरूप का वस्तुगत सौन्दर्य केवल छाया सौन्दर्य रह गया। इस प्रकार इस युग में रीति सिद्धान्त पर सबसे अधिक घातक प्रहार हुआ। आत्मा के इस अग्निद्रव में कविता के बाह्य अलंकरण शृङ्गार अनायास ही भस्म हो गये। परन्तु इस युग की कविता अलंकृत है—यह बात नहीं है।'[1]

यह विश्वास बहुत दिनों से चला आ रहा है कि हमारा सारा ज्ञान वस्तु के अनुरूप होना उचित है परन्तु अब इस बात पर विचार करने का अवसर आ गया है कि क्या मानव की उन्नति के लिये इसके प्रतिकूल यह धारणा श्रेष्ठतर नहीं है कि वस्तु को हमारे ज्ञान के अनुकूल होना चाहिये। काव्य का स्वयं अपने में कोई स्वरूप नहीं है उसकी अभिव्यञ्जनशक्ति ही उसको वास्तविक स्वरूप प्रदान करती है। अभिव्यञ्जना का महत्व अपने आप में कोई नवीन उद्भावना नहीं है वह बहु कुछ समय तथा समाज के सुसंस्कृत विचारों पर आधारित है। काव्य की सामाजिक उपादेयता जिस रूप में अक्षुण्ण रहे वही काव्य का सर्वोत्तम स्वरूप और वही काव्य का श्रेष्ठ शास्त्रीय रूप अथवा प्रकार है। इस दृष्टि से काव्य को परखने अथवा देखने से हमें जर्मन विद्वान गेटे की पूर्वोक्तियाँ अक्षरशः सत्य लगती हैं कि रीति अथवा शास्त्रीयवाद तथा स्वच्छन्दतावादी अथवा रोमांटिक साहित्य का एक दूसरे से परस्पर गहरा सम्बन्ध है।

क्लैसिकल अथवा शास्त्रीय काव्य के लिये जो शैली की समस्या प्रधान मानी गयी है उसके सम्बन्ध में अंग्रेज विद्वान् 'फ्लाबर्ट' का मत अत्यन्त उदारवादी है और यदि काव्य में शैली की समस्या उसकी दृष्टि से मानी जाय तो रूप को लेकर स्वच्छन्दवादी साहित्य और रीतिवादी साहित्य में जो कटु विरोध चलता रहता है किसी अंश तक समाप्त हो सकता है। फ्लाबर्ट

१. डा० नगेन्द्र, हिन्दी काव्यालंकार सूत्र की भूमिका।

के अनुसार 'शैली की समस्या वहाँ यह थी कि केवल एक ही अद्वितीय शब्द, वाक्यांश, वाक्य, अनुच्छेद, निबन्ध या गीत—कुछ भी हो उस कामना की छवि या मन के चित्र के साथ पूर्णतः तादात्म्य हो।' इस प्रकार यदि मन की छवि स्वतन्त्र रूप में यदि शास्त्रीय शैली के माध्यम से सम्भव हो सके तो क्लैसिकल काव्य और रोमांटिक काव्य में अन्तर ही क्या रह जाता है। इसीलिये अलंकार, शाब्दिक चमत्कार तथा अन्य प्रसाधन जो अभिव्यञ्जना के अभिन्न अङ्ग नहीं हैं—जिनका पृथक् अस्तित्व है, शैली का वास्तव में उपकार नहीं करते। वे उसकी मूलभूत एकता को नष्ट कर देते हैं। 'शब्द का औचित्य वहीं सिद्ध होता है जहाँ वह अर्थ के साथ तदाकार हो जाता है।' 'वामन' के अनुसार गुण और अलङ्कार दोनों सौन्दर्य के अङ्ग हैं। गुण काव्य के आन्तरिक एवं अविच्छेद्य अंग हैं, अलङ्कार वाह्य तथा विच्छेद्य। यही धारणा 'रैले' की अलङ्कार तथा प्रसाधन के सम्बन्ध में है।

सच तो यह है कि 'रैले' का अलङ्कार हमारे काव्य-शास्त्र की वक्रता के और भी निकट है। उक्ति की वक्रता को ही उसने अलङ्कार की संज्ञा दी है और अप्रस्तुत विधान को प्रसाधन की। और यही अप्रस्तुत विधान 'छायावाद' का मूलमन्त्र है जिसे हम स्वच्छन्दतावाद से भिन्न नहीं कह सकते। छायावाद और स्वच्छन्दतावाद की चर्चा हम अन्यत्र अवसर आने पर करेंगे जिससे यहाँ इतना कह देना ही पर्याप्त होगा कि यदि दोनों अभिन्न नहीं हैं तो भिन्न भी नहीं कहे जा सकते। भ्रांतिवश रोमांटिक और क्लैसिक शब्द जो एक दूसरे के विरोधी अर्थों में प्रयुक्त होते चले आ रहे हैं यदि इस पर गम्भीरतापूर्वक विचार किया जाय तो यह परिणाम निकलेगा कि ऐसा असावधानी के कारण हुआ है तथा काव्यगत रूढ़ियों के प्रति अन्धविश्वास की भावना ही इसके लिये उत्तरदायी है।

कौन सी वस्तु सुन्दर है और कौन सी वस्तु असुन्दर, इसका कोई ठोस परिमाण नहीं है और न कुछ निश्चित ऐसे नियम ही हैं जिनके आधार पर हम सुन्दर और असुन्दर का निर्णय कर दें। इस प्रकार के निर्णय में वैयक्तिक तथा सामाजिक रुचियाँ महत्वपूर्ण कार्य किया करती हैं। एक स्थान और एक समय में ही ऐसे व्यक्ति सरलता से मिल जायेंगे जिनकी रुचियाँ भिन्न हो सकती हैं। जो वस्तु किसी एक व्यक्ति के लिये सर्वोत्तम होगी वही दूसरे के लिये सुन्दर भी नहीं हो सकती। कहते हैं, लैला सुन्दर को कौन कहे कुरूप थी किन्तु मजनूँ की निगाह में वह खुदा से भी बढ़कर थी। यदि किसी को

शृङ्गारिक कविता अधिक पसन्द है तो उसी समय दूसरे को वीर रस की कविता अधिक अच्छी लग सकती है। उदाहरण के लिये हम हिन्दी साहित्य अथवा किसी भी साहित्य के इतिहास को ही ले सकते हैं। हिन्दी साहित्य के अन्दर प्रवृत्तियों के आधार पर जितने कालों का नामकरण हुआ है उन सबों में यदि देखा जाय तो सम्पूर्ण रचनायें एक प्रकार की ही नहीं हुई हैं बल्कि हमें सभी प्रकार की कविताओं के नमूने मिल सकते हैं। वीरगाथा काल में भक्ति और शृङ्गार, भक्तिकाल में वीर और शृङ्गार तथा रीति काल में वीर और भक्ति रस की रचनाएँ प्रचुर मात्रा में मिल सकती हैं। इससे स्पष्ट है कि रुचि वैभिन्य का होना अनिवार्य है जिससे इसमें भी सन्देह नहीं कि सौन्दर्य के प्रति सबका दृष्टिकोण भी भिन्न हो सकता है चाहे वह शैली का सौन्दर्य हो अथवा काव्यगत अभिव्यक्ति का।

किसी वस्तु को सुन्दर और असुन्दर हम अपने देखने के अभ्यास से कहते हैं और इसी आधार पर सम्भवतः कालविशेष में सुन्दर काव्य के स्वरूप की रूपरेखा निश्चित की गयी होगी। पाश्चात्य साहित्य के अन्दर अरस्तू के पूर्व साहित्य की विशेषताओं की विवेचना करने की कोई सामान्य कसौटी नहीं थी जिस पर कसकर यह कहा जा सका हो कि अमुक काव्य सुन्दर अथवा अमुक असुन्दर है। अपनी रुचिविशेष के कारण ही विद्वान किसी भी कविता पर रीझ कर उसकी प्रशंसा कर दिया करते थे और यदि कविता उन्हें अच्छी नहीं लगी तो उसे असुन्दर घोषित कर देते थे। इस प्रकार हम देखते हैं कि काव्य के सम्बन्ध में जो निर्णय दिये जाते थे वे पूर्णतः वैयक्तिक थे और आज का कवि जिसे हम रोमांटिक कहते हैं, वह भी कविता को पूर्णतया वैयक्तिक अनुभूति मानता है। यह बात दूसरी है कि कवि की साधना की प्रौढ़ता के कारण उसकी वैयक्तिक अनुभूति वैयक्तिक न रहकर सर्व-साधारण की अनुभूति बन जाय। तुलसीदास जी ऐसे मर्यादावादी कवि भी कविता को 'स्वातःसुखाय' मानते थे। 'अरस्तू' के सामने यह एक समस्या थी कि किस प्रकार पूर्ववर्ती विद्वान बिना आधार के अपना निर्णय जोरदार शब्दों में सुना दिया करते थे। इसे देखकर उससे न रहा गया और काव्य के सम्बन्ध में उसने कुछ सिद्धान्तों का प्रतिपादन करना चाहा। "उसका मनोवैज्ञानिक दिमाग बहुत सुलझा हुआ था और उसने सोचा कि बिना कारण के कार्य नहीं हो सकता। क्यों कोई रचना हमारे मर्म को स्पर्श कर हिला देती है और क्यों दूसरी रचना हमारे ऊपर ही ऊपर निकल

जाती है; छूती तक नहीं, इसके उचित कारण अवश्य होने चाहिये—उसने देखा कि सब कला-कृतियों में चाहे और कुछ न भी हो पर इस रूपविन्यास और आंगिक संगठन की ओर उदासीनता कभी नहीं दिखाई गई है। मूर्तिकला को देखने से तो यह और भी स्पष्ट हो जाता है ········उसने एक बात अनिवार्य रूप से पाई। वह थी अनेकत्व ( Unity in diversity )। किसी वस्तु को देखने का हमारा एक अभ्यास होता है जिसका एक सन्तुलन होता है, जैसे मनुष्य का शरीर ही है। मनुष्य भिन्न प्रकार के होते हैं पर उनकी निश्चित रूपरेखा होती है जिससे हमें किसी भी मनुष्य को मनुष्य कहने में कठिनाई का अनुभव नहीं होता।"[1]

रोमांटिक या स्वच्छन्द शैली आधुनिक युग की काव्य धारा का मूलाधार है। इसके विपरीत क्लैसिक या रीतिवादी शैली पुरातन काव्य-रचना-विधान की समर्थक है। यद्यपि उस पर भी युग की बदलती हुई परिस्थितियों का प्रभाव पड़ा है। १५ वीं १८ वीं शताव्दी तक यूरोप में प्राचीन ग्रीक कला की बाहरी रूपरेखा का त्याग उसकी आत्मा या मूल प्रेरणा को ग्रहण करने की प्रवृत्ति बढ़ती गई। उसी नवीन कला-आन्दोलन ने क्लैसीसिज्म को न्यू-क्लैसीसिज्म का नाम दे दिया। १८ वीं शताब्दी की फ्रांसीसी राज्यक्रांति ने इस कलावादी आन्दोलन को और भी गति दी। प्राचीन परम्परा गत संस्कारों की इतिश्री के साथ ही साथ साहित्य में भी परिवर्तन हुआ, जिससे एक अभिनव कला-परिपाटी का जन्म हुआ, जिसे ही स्वच्छन्द कला के नाम से पुकारते हैं। इस नवीन स्वच्छन्दतावादी शैली के कवियों ने पूर्व परम्परा का अतिक्रमण किया और उनकी कल्पना नवीन दृष्टिकोण एवं नवीन स्वतन्त्र रूपों के आधार पर व्यक्त हुई। रोमांटिक काव्य शैली में परम्परा के प्रति विद्रोह था। इंगलैण्ड में शैली और कीट्स, फ्रांस में रूसो और जर्मनी में गेटे एवं वीकेलमैन इस नवीन स्वच्छन्दधारा का उन्नयन कर रहे थे। विपरीत ग्रीक कला के समर्थक लेसिङ्ग जैसे विद्वान परम्परावादी शैली का समर्थन कर रहे थे। परम्परावाद या रीतिवाद काव्यधारा कला के व्यक्त सौन्दर्य-प्रसाधनों का आग्रह करके चलती है। काव्य के आन्तरिक सौन्दर्य पर इसका ध्यान कम रहता है और बाह्य सौंदर्य अर्थात् शब्दों और आकृतियों पर अधिक। काव्यगत भावों की उपेक्षा और उसके बाह्य रूप की सूक्ष्माति-सूक्ष्म पाबन्दी इसका अतिवादी छोर है। क्लैसिस्ट कवि रूप का प्रेमी होता

---

१. श्री देवराज उपाध्याय, रोमांटिक साहित्य शास्त्र, पृ० ९।

है। वह अपने काव्य में परिपूर्णता की कल्पना साकार मूर्ति के सौन्दर्य में करता है।

रीतिवादी शैली के अन्तर्गत केवल बाह्य रूपों और नियमों का अन्धानुकरण आता है। इसके विपरीत स्वच्छन्दतावादी शैली, रीतिवादी शैली के विरुद्ध एक विद्रोह है। इस शैली के ऊपर फ्रांसीसी राज्यक्रान्ति और तत्कालीन जागरण युग का बड़ा प्रभाव पड़ा है। जिस प्रकार फ्रान्स की राज्यक्रान्ति ने सामन्तवादी समाज के प्राचीन रूढ़िवद्ध रूप को समाप्त करके एक नवीन समाज की रचना की, ठीक उसी प्रकार इस शैली के कवियों ने प्राचीन ग्रीक कला के बाह्य सौन्दर्य और रूढ़िगत नियमों को समाप्त करके एक अभिनव कला-परिपाटी को जन्म दिया। उस शैली के अन्तर्गत नवीन स्वच्छन्द काव्य प्रेरणाओं ने विद्रोहात्मक और अराजकतापूर्ण काव्यपद्धति का निर्माण किया है। आधुनिक युग की काव्य धारा का आधार यही रोमांटिक शैली है। यह काव्यधारा अत्यन्त अनियमित पद्धति एवं संयम-रहित प्रवृत्ति को प्रोत्साहन देती है। काव्य में भावना के अतिरेक से जो असंयम आता है, नियमों की जो अवहेलना की जाती है, काव्य के शरीर पक्ष की जो उपेक्षा की जाती है, वही रोमांटिक कविता का अतिवादी छोर है। रोमांटिक कवि क्लैसिक कवि की भाँति बाह्य सौन्दर्य एवं रूप का प्रेमी नहीं होता। उसकी प्रेरणा आन्तरिक होती है। वह रूप और अनन्त में रमता है। क्लैसिक कवि कला की परिपूर्णता साकार मूर्ति के सौन्दर्य में देखता है किन्तु रोमांटिक कवि अज्ञात परिपूर्णता का अभिलाषी होता है।

स्वच्छन्दतावाद में रीतिवाद अथवा परम्परावाद की भाँति वस्तु का उदात्त होना आवश्यक नहीं। साधारण वस्तु ही उसके अन्दर काव्यात्मक चित्रण बनने की क्षमता रखती है। इस काव्य-पद्धति के अनुसार काव्य में प्रयुक्त होनेवाली भाषा और छन्दों का भी कोई बन्धन नहीं माना गया है। स्थिति और भाव के अनुरूप भाषा और छन्द भी विभिन्न रूपों वा साँचों में ढाले जा सकते हैं। आकृति का सौन्दर्य काव्य या कला की श्रेष्ठता की माप-रेखा नहीं उनके अन्तरगत भावाभिव्यञ्जना का भी महत्वपूर्ण स्थान है। यही रोमांटिसिज्म का आधारभूत सिद्धान्त है।

●

# छायावाद और स्वच्छन्दतावाद

लोक प्रचलित भावों तथा शब्दों के वैभिन्न्य के कारण रहस्यवाद, छायावाद तथा स्वच्छन्दतावाद का नाम पर्याय रूप में न लेकर थोड़े-थोड़े अन्तर के साथ लिया जाता है यद्यपि उन्हें यदि एक काव्यधारा के रूप में देखा जाय तो नितान्त एकरूपता दिखलाई पड़ेगी। इन तीनों शब्दों की यद्यपि साहित्यक प्रेरणा एक है फिर नाम भेद के कारण आये हुए अन्तर के मूल में कौन सी वस्तु है इसको जानने के लिये इनके परिस्थितिजन्य विकास को जानना अति आवश्यक है। हिन्दी साहित्य के लिये रहस्यवाद शब्द छायावाद से प्राचीन है यद्यपि 'निराला जी' छायावाद की उत्पत्ति का सूत्र पुराणों से जोड़ते हैं किन्तु छायावाद नाम से जानी जाने वाली साहित्यिक विचारधारा पूर्व में नहीं थी, जब कि रहस्य-वाद के नाम पर जानी जानेवाली अनेक धाराएँ हमें पूर्व के साहित्य में मिल जाती हैं, भले ही उनका वह रूप न रहा हो जो हमारे सामने है। आज के रहस्यवाद शब्द से जो जाना जाता है पूर्व में नहीं जाना जाता था। पहले भक्त या संत इसे पराविद्या कहते थे परन्तु यदि आज के अर्थ में देखा जाय तो वह पराविद्याभक्ति से भिन्न है। वह तो रहस्यवादी कविता में ही मिलती है। इसमें प्राय: प्रतीक अपनाए जाते हैं। जैसे परम सत्ता को पारस कहा गया है। जायसी ने और आज के कवियों ने भी इस प्रतीक को यथावत् ग्रहण कर लिया है। कबीर ने उस परम सत्ता के लिये हीरे का रूपक बाँधा है। आज भी हीरे को परम सत्ता के स्वरूप में देखा जाता है। असीम को ससीम में सभी बाँधना चाहते हैं। मनुष्य पूर्णता

चाहता है। यह भावना पहले भी थी, आज भी है और आगे भी रहेगी। किन्तु रहस्यवाद शब्द से आज जो अर्थ हम लेते हैं वह मूलतः आधुनिक काव्यधारा है, जिसका अस्तित्व १९२० के पूर्व हिन्दी साहित्य में नहीं था। 'शुक्ल' जी ने तो काव्य में रहस्यवाद माना ही नहीं है और हजारीप्रसाद-द्विवेदी ने तो कबीर तक में भी रहस्यवाद नहीं माना है। यह शब्द आरम्भ में उन कविताओं के लिये प्रयुक्त हुआ जिनमें अज्ञात सत्ता की झलक मिलती थी, जिसका चित्रण प्रतीकों के द्वारा होता था, जिसे कभी छायावाद के नाम से पुकारा गया। सन् १९३० तक जाते-जाते अंग्रेजी साहित्य का (Mysticism) शब्द हिन्दी रहस्यवाद के लिये रूढ़ि हो गया और रोमांटिसिज्म के लिये छायावाद शब्द प्रयुक्त होने लगा। छायावाद शब्द का प्रयोग जिन अर्थों में हुआ वह एक बहुत बड़ी काव्यधारा है जिसमें रहस्यवाद एक प्रवृत्ति या मनोवृत्ति या मनोवृत्ति विशेष है।

जिस रोमांटिसिज्म के लिये हिन्दी साहित्य में छायावाद शब्द का प्रयोग हुआ वह नामकरण अत्यन्त भ्रामक है क्योंकि वह नाम इसके समर्थकों का नहीं बल्कि विरोधियों का दिया हुआ है, जो इसे केवल आडम्बर तथा कुछ चुने चुनाए शब्दों का झूठा व्यापार मानते थे। यह प्रवृत्ति बंगला साहित्य में हिन्दी साहित्य से पहले आई जिसकी छाया आगे चलकर हिन्दी साहित्य पर पड़ी। इसके अतिरिक्त इस प्रकार की कविताओं में कुछ कल्पना, रहस्य तथा छाया आदि की ऐसी अस्पष्ट अभिव्यक्ति पाई जाती थी कि इसे लोगों ने तदनुकूल नाम से सम्बोधित करना आरम्भ कर दिया और वह छायावाद के नाम से एक विशिष्ट साहित्यिक विचार-धारा बन गई। इस शब्द के सम्बन्ध में सभी विद्वान एक मत नहीं हो पाए हैं। कुछ विद्वानों का कथन है कि छायावाद आध्यात्मिक भूमि पर क्रीड़ा करता है जिससे रहस्यवाद के साथ इसका अभेद दिखाई पड़ता है। रामचन्द्र शुक्ल इसे चित्र भाषा शैली मानते रहे। इस प्रकार इसे यदि शैली मात्र मान लिया जाय तो इसका सम्बन्ध रहस्यवाद तथा स्वच्छन्दतावाद किसी के साथ भी जोड़ा जा सकता है। छायावाद मुख्यतः भाव प्रबलता से प्रेरित कल्पनाप्रवण अन्तर्दृष्टि है जो वास्तविक को नहीं बल्कि छाया को ग्रहण करती है। यह रूढ़ियों से ऊपर उड़ान भरने का अवसर प्रदान करता है। यह उन्मुक्त उड़ान भरने वाला साहित्य है जो वर्तमान से अतीत और भविष्य तथा धरती से आकाश की ओर ले जाता है और साथ ही एक सुनहले भविष्य की कल्पना भी करता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि जिस उद्देश्य को लेकर स्वच्छन्दतावादी

विचारधारा का हिन्दी साहित्य में जन्म हुआ था उसकी किसी न किसी अंश में पूर्ति छायावाद के द्वारा होती है। छायावाद, शैली तथा कोमलता को अत्यधिक महत्व देने के कारण स्वच्छन्दतावादी साहित्य के सम्पूर्ण क्षेत्र को तो नहीं समेट पाता किन्तु अपने क्षेत्र में यह अत्यन्त सच्चा और ईमानदार समर्थक है।

स्वच्छन्दतावादी शैली ने एक विद्रोहात्मक और अराजकतापूर्ण काव्य-पद्धति का निर्माण किया है। यह अत्यन्त अनियमित पद्धति एवं संयम रहित प्रवृत्ति को प्रोत्साहन देती है। काव्य में भावना के अतिरेक से जो असंयम आता है, नियमों की जो अवहेलना की जाती है, काव्य के शरीर पक्ष की जो पूर्ण उपेक्षा की जाती है वही स्वच्छन्दतावाद का अतिवादी छोर है। उसके सम्पन्न होने में छायावाद का महत्वपूर्ण योग है क्योंकि इसका जन्म 'द्विवेदी जी' की इतिवृत्तात्मक शैली के प्रतिक्रिया-स्वरूप हुआ था। इस प्रकार यह शब्द बराबर रहस्यवाद और स्वच्छन्दतावाद से टकराता रहता है। यदि हम इसका निर्णय कर लें कि छायावाद की वास्तविक भाव-भूमि लौकिक है अथवा अलौकिक तो समस्या कुछ सरल अवश्य हो जाएगी। छायावाद को रहस्यवाद से सम्बद्ध करना कहाँ तक उचित है और कहाँ तक अनुचित और अगर उचित है तो क्या यह रहस्यवादी प्रवृत्ति कबीर और जायसी की परम्परा का अनुसरण है अथवा पाश्चात्य (Mysticism) की गूँज मात्र। छायावाद के सम्बन्ध में दो मत प्रचलित हैं। जो मत आध्यात्मिक व्याख्या का पक्षपाती है उसने छायावाद को रहस्यवाद का प्रथम सोपान माना है और दोनों की अभिन्नता का इस सीमा तक सांगोपांग प्रतिपादन किया है कि सहसा विश्वास ही नहीं हो पाता। इस मत को गम्भीरतापूर्वक स्थापित करने का सबसे अधिक श्रेय महादेवी जी को है। उन्होंने अपने विवेचनात्मक गद्य में पग-पग पर इसका समर्थन ही नहीं किया है वरन् शास्त्रीय आधार लेते हुए एक सुदृढ़ परम्परा तथा व्यापक जीवन दर्शन निर्मित करने का भी प्रयास किया है। उन्होंने माना है कि 'अलौकिक रहस्यानुभूति भी अभि-व्यक्ति में अलौकिक ही रहेगी। अलौकिक आत्म-समर्पण को समझने के लिये भी लौकिक का सहारा लेना होगा।' इसके अतिरिक्त महादेवी जी ने इसे निराशा एवं दुख की मनोवृत्ति को व्यक्तिगत असफलताओं से उत्पन्न विषय मात्र न मानकर उस करुणा की कोटि में स्थित कर दिया है जहाँ वह सर्वात्मवाद बन जाती है, जिससे 'छायावाद को दुखवाद का पर्याय समझ लेना सहज हो गया है। जहाँ तक दुख का सम्बन्ध है उसके दो रूप हो

सकते हैं—एक जीवन की विषमता की अनुभूति से उत्पन्न करुण-भाव, दूसरा जीवन के स्थूल धरातल पर व्यक्तिगत असफलताओं से उत्पन्न विषाद।' व्यक्तिगत सुख-दुख की मार्मिक अभिव्यक्तियों का आकर्षण ही उसे इतना लोकप्रिय बना सका है, सर्वात्मवाद तथा परा विद्या का घटाटोप नहीं। आगे चलकर जब महादेवी जी यह भी स्वीकार कर लेती हैं कि 'छायावाद तत्वतः प्रकृति के बीच में जीवन का उद्‌घोष है' तो इसकी अलौकिकता कहाँ रह जाती है। अभिव्यक्ति के लिये वर्ण्य वस्तु को प्रधानता न देकर प्राकृतिक तत्वों में मानवीय चेतना का आरोप करना तथा उनसे साहचर्य का भाव स्थापित करना हिन्दी साहित्य के लिये स्वच्छन्दवादी काव्यधारा की ही देन है। जब महादेवी जी अन्त तक जाते-जाते यह स्वीकार ही कर लेती हैं कि जिस सूक्ष्म छायावाद ने अभिव्यक्ति प्रदान की वह स्थूल से बाहर अपना कहीं अस्तित्व नहीं रखता तब यह स्थूल व्यक्त सत्य के अतिरिक्त और कुछ नहीं है और जब छायावाद के अन्दर अव्यक्त सत्य की अभिव्यक्ति होती है तो उसके अन्दर कुछ होने की भावना छिपी रहती है और यही होने की भावना, जिसके मूल में वर्तमान के प्रति असन्तोष तथा विरोध है, स्वच्छन्दतावादी काव्य का केन्द्र बिन्दु है।

छायावाद की परिभाषा करते हुए जब डा० रामकुमार वर्मा यह कहते हैं कि 'छायावाद वास्तव में हृदय की एक अनुभूति है। वह भौतिक संसार के क्रोड़ में प्रवेश कर अनन्त जीवन के तत्व ग्रहण करता है और उसे हमारे वास्तविक जीवन से जोड़कर हृदय में जीवन के प्रति एक गहरी संवेदना और आशावाद प्रदान करता है। कवि को ज्ञात होता है कि संसार में परिव्याप्त एक महान् और दैवी सत्ता का प्रतिबिम्ब जीवन के प्रत्येक अङ्ग पर पड़ रहा है और उसी की छाया में जीवन का पोषण हो रहा है। एक अनिर्वचनीय सत्ता कण-कण में समाई हुई है। फूल में उसी की हँसी, लहरों में उसका बाहुबन्धन, तारों में उसका संकेत, भ्रमरों में उसका गुंजार और मुख में उसकी सौम्य हँसी छिपी हुई है। इस संसार में उस दैवी सत्ता का दिग्दर्शन कराने के कारण ही इस प्रकार की कविता को छायावाद की संज्ञा दी गयी।'[1] तो यह स्पष्ट हो जाता है कि डाक्टर साहब रहस्यवाद और छायावाद में भेद नहीं मानते। सृष्टि की हरएक गतिविधि में जब वे दैवी सत्ता का अनुभव करते हैं तो उसे रहस्यवाद के अन्दर ही स्वीकार करना चाहिये। उनके अनुसार यदि रहस्यवाद का नाम ही छायावाद है तो छायावादी साहित्य के

---

१. डा० रामकुमार वर्मा, विचारदर्शन, पृ० ७२।

अन्दर आनेवाली सभी रचनाओं को दैवी सत्ता से सम्बन्धित मानना चाहिये अथवा रहस्यवाद को ही पराविद्या के पद से सम्बन्धित कर देना चाहिए। शुद्ध रहस्यवाद को न तो हम लौकिक कह सकते हैं और न तो छायावाद को हम नितान्त अलौकिक। ऐसी स्थिति में लौकिकता और अलौकिकता को लेकर काफी भ्रम उत्पन्न हो जाता है। डा० वर्मा ने जिस साहित्य को रहस्यवाद के अन्दर स्वीकार किया है वह कबीर और जायसी का रहस्यवाद नहीं बल्कि वह आधुनिक रहस्यवाद है जिसके द्वारा कवि वर्तमान परिस्थितियों के प्रतिकूल खुला विद्रोह न करके रहस्यात्मक संकेतों द्वारा युग की आवश्यकताओं तथा वैयक्तिक अनुभूतियों को लोगों की आँखें बचाकर सामने रखता है। इस प्रकार यदि रहस्यवाद और छायावाद की अभिन्नता स्वीकार कर ली जाय तो इसके लौकिक होने की सन्दिग्धता समाप्त हो जाती है और जब इसकी लौकिकता प्रमाणित हो जाती है तो इसे शास्त्रीय नियमों की उपेक्षा करने के कारण स्वच्छन्दवादी साहित्य के नाम से अभिहित ही करना पड़ेगा।

छायावादी साहित्य के अन्दर व्यक्ति के दैनिक जीवन को अत्यधिक महत्व दिया गया है। साहित्य में जग-जीवन की महत्ता एवं इस लोक में ही स्वर्ग प्राप्ति की कामना को बल सर्वप्रथम स्वच्छन्दतावादी कवियों द्वारा ही मिला, क्योंकि श्रेष्ठतर जीवन की कल्पना तथा परिस्थितियों के प्रति असन्तोष की भावना से प्रेरित होकर समस्त शास्त्रीय एवं सामाजिक बन्धनों के तिरस्कार का उद्घोष करनेवाला साहित्य प्रस्तुत करने का कार्य इन्हीं कवियों द्वारा हुआ। यह भावधारा कवि की सामर्थ्य तथा रुचियों के अनुसार रंग-रूप बदलकर आगे बढ़ती रही है जिसे कहीं रहस्यवाद और कहीं छायावाद के नाम से पुकारा गया है किन्तु सबके मूल में प्राचीनता के ऊपर नवीनता का आरोप तथा वर्तमान हीनतर बन्धनों से मुक्त होकर श्रेष्ठतर स्वच्छन्दाकाश में विचरण करने के भाव विद्यमान हैं।

प्रसाद जी के स्वर में स्वर मिलाकर यदि हम कहें कि 'कविता के क्षेत्र में पौराणिक युग की किसी घटना अथवा देश-विदेश की सुन्दरी के बाह्य वर्णन से भिन्न जब वेदना के आधार पर स्वानुभूतिमयी अभिव्यक्ति होने लगी, तब हिन्दी में उसे 'छायावाद' के नाम से अभिहित किया गया।' तो स्पष्ट हो जाता है कि छायावादी काव्य की सृष्टि रीतिकालीन शृंगारिक कविताओं के प्रतिक्रिया-स्वरूप हुई थी। किन्तु प्रमुख छायावादी कविताओं को देखने से लगता है कि प्रतिक्रिया शृंगारिकता के विरुद्ध नहीं हुई बल्कि रचना-प्रक्रिया के विरुद्ध हुई। इस रचना-प्रक्रिया का विरोध करने का श्रेय एकमात्र

छायावादी काव्यधारा को ही नहीं है बल्कि महावीरप्रसाद द्विवेदी की प्रेरणा से जो समसामयिक भावधारा को लेकर काव्य का आन्दोलन चला था उसको भी है। इन काव्यों में अश्लील श्रृंगार की उपेक्षा अवश्य की गयी है क्योंकि इन कविताओं में न तो नायिकाओं की शारीरिक नाप-जोख ही है और न तो वैयक्तिक मानसिक वेदना का ऊहापोह ही। इसका मुख्य कारण यही है कि इस खेवे के कवियों ने तत्कालीन सामाजिक वातावरण, राजनीतिक जागरण तथा सुधारवादिता की आवश्यक माँगों से आँखें नहीं मूँदी हैं बल्कि अपनी रचनाओं द्वारा समुचित योग प्रदान किया है। किन्तु श्रृंगारिकता की शाश्वत भावनाओं को अनिश्चितकाल तक दबाए रखना भी सम्भव नहीं और न तो यही सम्भव था कि जब स्वतन्त्रता की वेदी पर बलिदान होने के लिए सपूतों का आह्वान किया जा रहा हो, देश के शीर्षस्थ नेता तथा सुधारक राष्ट्र और समाज को एक नवीन स्वरूप प्रदान करने के लिए प्राणों की बाजी लगा रहे हों तथा सारे देश के अन्दर क्रांति की लहर व्याप्त हो रही हो, तो ऐसे युग का कवि कोने में बैठकर वैयक्तिक वासना से उद्भूत मानसिक वेदना की कसक और पीर की कहानी कहकर समाज के सामने मुँह दिखाता। किन्तु वह श्रृंगारी भावना कविताओं में अपना रङ्ग-रूप बदलकर नवीन श्रद्धा के साथ प्रकट हुई जिसमें रीतिकालीन नायक-नायिकाओं के स्थान पर कवि स्वयं प्रेमी बनकर मैदान में उतर पड़ा, वह दर्शक अथवा द्रष्टा नहीं रह गया। ऐसी ही कविताओं को छायावाद का मूलाधार माना गया है जो वास्तव में वैयक्तिकता के आग्रह की अपेक्षा और कुछ नहीं है। इतना अवश्य है कि इनका विद्रोह सर्वोन्मुखी न होकर व्यक्तिवादी हो उठता है। इस प्रकार यदि काव्य की स्वच्छन्दधारा के अङ्ग विशेष का ही इनसे पोषण होता है तो उन्हें स्वजातीय होने से रोका नहीं जा सकता बल्कि उन्हें विशेषज्ञ होने का सा समादर मिलना आवश्यक है। यदि रीतिकाल का कवि नायक के माथे पर लगे हुए सिन्दूर और बिन्दी का वर्णन करके घोर श्रृंगारी कहा जा सकता है तथा पलकों में पान की पीक तथा होंठों में काजल की कालिख का चित्रण करके अश्लील कहा जा सकता है तो क्या श्रम-सीकरों से सफेद चादर भिगो देने वाला कवि अश्लील नहीं है—

थक जाती थी सुख रजनी
मुख चन्द्र अङ्क में होता।
श्रम सीकर सदृश नखत से
अम्बर पट भींगा होता॥

—आँसू : जयशंकर प्रसाद

अन्तर इतना ही है कि रीतिकालीन कवि को वह साहस नहीं मिला था जो कि आधुनिक कवि को मिला है। वह अपनी भावनाओं को व्यक्त करने के लिए नायक-नायिकाओं का सहारा लेता था किन्तु आज का कवि अपनी भावनाओं को खुलकर व्यक्त करने में जरा भी नहीं हिचकता। इसका एक-मात्र कारण समाज में बढ़ती हुई वैयक्तिकता की भावना ही है जिससे वर्तमान स्वच्छन्दतावादी साहित्य ओतप्रोत है।

'प्रसाद जी' ने यद्यपि अपने काव्य में अनेक स्थलों पर रहस्यात्मकता का आश्रय लिया है परन्तु सिद्धान्ततः छायावाद को उन्होंने न रहस्यवाद से सम्बद्ध किया है, न प्रकृतिवाद से, बल्कि उनमें उनका व्यक्तित्व ही अधिक उभरा हुआ दिखाई पड़ता है। छायावाद की प्रारम्भिक कविताओं पर आध्यात्मिकता का पूरा-पूरा आवरण नहीं चढ़ पाया था जिससे इसकी भाव-भूमि को परखने में 'शुक्ल' जी को भ्रम नहीं हुआ। उन्होंने लिखा है 'प्रणय-वासना का यह उद्गार आध्यात्मिकता के परदे में ही छिपा न रह सका, हृदय की सारी कामवासना में इन्द्रियों के सुख-विलास की मधुर और रमणीय सामग्री के बीच एक बँधी हुई रूढ़ि व्यक्त होने लगी... ...शैली के सम्बन्ध में भी प्रतीकवाद के अर्थ में होने लगा। रीतिकाल की शृंगारिक कविता की भरमार की तो इतनी निन्दा की गई पर वही शृंगारिक कविता कभी रहस्य का परदा डालकर, कभी खुले मैदान, अपनी कुछ अदा बदलकर फिर सारा काव्य-क्षेत्र छेंककर चल रही है।'

इन्होंने भावपक्ष को गौण और शैलीपक्ष को प्रधान माना है, परन्तु वास्तव में शैलीपक्ष प्रधान नहीं है। यही मन की सबल-भावुक-अभिव्यक्ति ही इसे स्वच्छन्द काव्य के निकट लाती है। आचार्य नन्ददुलारे बाजपेयी ने छायावादी काव्य की जो तीन अवस्थाएँ स्वीकार की हैं, ( १ ) सृष्टि के प्रति विस्मय का भाव, ( २ ) मानसिक अशान्ति की आकुलता का आभास, ( ३ ) प्रेम के प्रकाश की प्राप्ति। ये तीन अवस्थाएँ, जो छायावाद की चरम परिणति हैं, स्वच्छन्दतावादी काव्य की मूल प्रेरक शक्ति हैं। बिना विस्मय के भाव का सहारा लिए कौतूहल एवं जिज्ञासा के भाव उत्पन्न नहीं होंगे, तब तक वर्तमान के प्रति अनास्था के भाव, जिसके आधार पर ही स्वच्छन्दता-वादी काव्य की सृष्टि होती है, जम नहीं सकते। मानसिक अशान्ति की आकुलता ही अभिव्यक्ति का वह सबल स्रोत है जिसका प्रवाह शास्त्रीय एवं परम्परित रूढ़ियों को तोड़कर अपना नवीन पथ निर्मित करता है।

जब हम यह स्वीकार करते हैं कि 'छायावाद की काव्यधारा एक ओर वर्तमान के प्रति विद्रोह एवं असंतोष की भावना से मुखर है तो दूसरी ओर स्थूल एवं वासनात्मक प्रेम से हटकर सूक्ष्म और अतीन्द्रिय प्रणय की रागिनी सुनाती है। उसे प्रकृति में भी चेतन सत्ता के सौन्दर्य का आभास मिलता है, आकाश के अनन्त झिलमिल तारों में उस अनन्त-अलक्षित ज्योति का प्रतिबिम्ब दिखाई पड़ता है। वह स्थूल के प्रति विद्रोही है, वर्तमान के प्रति विद्रोही है, रूढ़िगत बन्धनों के प्रति विद्रोही और साम्राज्यवाद के दमन-पूर्ण अत्याचारों के आघातसे दुखी है। समाज की कुरीतियोंसे छुआछूत की भावना, स्त्रियों, विशेषतः विधवाओं के प्रति समाज में प्रचलित क्रूरताओं से करुणार्द्र है।'[1] तो छायावाद, रहस्यवाद और स्वच्छन्दवाद में कोई भेदक रेखा खींची ही नहीं जा सकती और यदि उदारवादी दृष्टिकोण से विचार किया जाय तो ये भ्रम में डालनेवाले पर्यायवाची शब्द ही ठहरते हैं। साहित्य में वह युग ही उत्तम समझा जाता है, जब मनुष्य असन्तुष्ट रहता है, जब वह ससीम से असीम की ओर उन्मुख होता है तो इसका अर्थ यही होता है कि वर्तमान परिस्थितियों में उसका दम घुट रहा है और वे उसे अमान्य हैं। इसे हम रहस्यवाद का मूलाधार भले ही कह लें, किन्तु इसके मूल में असन्तोष के भाव विद्यमान हैं। 'ले चल मुझे भुलावा देकर मेरे नाविक धीरे-धीरे' ऐसी कविताओं को लेकर पलायनवादिता के नाम से संघर्ष-भीरुता का आरोप लगाया जा सकता है तो 'इस पथ का उद्देश्य नहीं है श्रान्त-भवन में टिक रहना, और पहुँचना उस सीमा तक जिसके आगे राह नहीं' जैसी कविताओं को लेकर उसे उद्बोधन-गीत का सम्मान भी दिया जा सकता है। बात समझ में नहीं आती कि यदि छायावादी कविताओं में उद्बोधन, देशभक्ति, प्रकृति-प्रेम तथा वर्तमान के प्रति विद्रोही भाव वर्तमान हैं तो वह कौन-सा ऐसा भेदक तत्व है जो उसे स्वच्छन्दवादी काव्य-धारा से भिन्न करता है।

डा० नगेन्द्र ने तो छायावाद को रोमानी कविता से बिलकुल अभिन्न माना है। उनके अनुसार छायावाद रोमानी कविता को छोड़कर और कुछ नहीं, दोनों के मूल में जागरण और कुंठा के भाव निहित हैं। उन्होंने पहले छायावाद का आधार स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह माना है फिर उन्होंने शब्दावली बदल दी और उसके मूल में स्थूल से विमुख होकर सूक्ष्म के प्रति आग्रह करना अधिक उपयुक्त समझा। जहाँ तक भावभूमि का सम्बन्ध है उसे उन्होंने नितान्त लौकिक माना है और लिखा है कि 'छायावाद के कवि की

१. हीरक जयन्ती, ग्रन्थ-सम्पादक डा० श्री कृष्णलाल, करुणापति त्रिपाठी, पृ० ३७७।

प्रेरणा उसकी 'कुण्ठित-वासनाओं से ही आई है, सर्वात्मवाद की रहस्यानुभूति से नहीं।' जब छायावादी कविता चुम्बन-विहीन प्यासे अधरों से ही उच्छ्वसित होती है तो उसमें असन्तोष के सिवा और हो ही क्या सकता है। असन्तोष से पूर्ण कविता को यदि हम स्वच्छन्दतावादी कविता से अलग छायावादी कविता मान लें तो स्वच्छन्दतावादी काव्य की परिभाषा क्या होगी? शिवदान सिंह चौहान ने छायावादी काव्य के लिये असन्तोष की प्रवृत्ति के साथ पलायन की प्रवृत्ति पर ही विशेष बल दिया है, परन्तु पलायन छायावादी भावधारा का मूल आधार नहीं है, जिस पर डा० नगेन्द्र और महादेवी दोनों ने संकेत किया है। डा० देवराज ने निम्नलिखित शब्दों में उसका सतर्क प्रतिवाद किया है, 'वस्तुतः छायावादी काव्य की प्रेरक शक्ति प्रकृति के कोमल सूक्ष्म रूपों का आकर्षण है न कि सामाजिक वास्तविकता का विकर्षण, उसके मूल में प्रेम और सौन्दर्य की वासना है, न कि आध्यात्मिक पूर्णता की भूख।' इन्होंने छायावाद को आध्यात्मिक नहीं माना है और कहा है कि 'प्रथम तो हम मानते हैं कि छायावादी काव्य धार्मिक या आध्यात्मिक नहीं है किन्तु वह यदि ऐसा होता तो इस धर्मप्राण देश में जनता उससे इतनी जल्द न ऊबती'।

छायावादी काव्य में व्यक्त भावों को प्रकृत रूप में न देखकर दमित वासनाओं के रूप में देखना, फूल में खाद देखना है। हाँ, वे आकाश कुसुम नहीं, धरती के ही कुसुम हैं। जहाँ तक इससे जनता के ऊबने की बात उन्होंने कही है उसके मूल में धार्मिक और अधार्मिक होना कारण नहीं, बल्कि वे परिस्थितियाँ हैं जो मानव मन को स्थिर नहीं रहने देतीं, जिससे उसके दैनिक जीवन की कटुता, निराशा तथा असन्तोष के भाव हावी हो गए हैं। डा० केशरीनारायण शुक्ल ने अपनी पुस्तक 'काव्य धारा' में स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है 'रूढ़ियों के विरोध में खड़े होनेवाले स्वच्छन्दतावाद ( रोमांटिसिज्म ) और छायावाद ( रोमांटिसिज्म ) को एक ही मानना चाहिए।' यही कारण है कि इन्होंने छायावादी काव्य की कोई दार्शनिक पृष्ठभूमि नहीं स्वीकार की है। प्रामाणिक रूप से सशक्त शब्दों में छायावाद और स्वच्छन्दतावाद के दोहरे व्यक्तित्व की निस्सारता सर्व-प्रथम डा० श्रीकृष्णलाल द्वारा 'आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास' नामक ग्रन्थ में प्रकट की गई जिसका यह परिणाम हुआ है कि अब बहुत से विद्वान् इस शब्द की भ्रामकता का अनुभव करने लगे हैं। छायावाद के सम्बन्ध में जब डॉ० शम्भुनाथ सिंह जी यह स्वीकार करते हैं कि 'भारत में भी पूँजीवाद के

विकास के साथ व्यक्तिवाद का विकास हुआ और हिन्दी कविता के रूप में व्यक्तिवादी भावनाएँ अनेक रूपों में अभिव्यक्त हुईं।'[1]—तो क्यों इसकी बहुमुखी धारा को एक ऐसे शब्द 'छायावाद' के गले लगा दिया जाय जो इसकी सार्थकता को प्रकट करने में असमर्थ है। जब हम यह मानते हैं कि 'छायावाद भी साहित्यकार का एक अन्तर्वादी दृष्टिकोण है, जहाँ से वह समस्त जीवन, उसके यावत् रूप-व्यापार को 'स्वानुभूतिक' अभिव्यंजना प्रदान करता है।'[2] तो समस्त जीवन की इस व्यापक स्वानुभूतिमयी अभिव्यंजना को हम 'छाया' में ही क्यों रखें, जिसको कवि ने निःसंकोच, स्वच्छन्द होकर कह डाला है।

एक तटस्थ आलोचक के लिये यह कह देना कभी भी श्रेयस्कर नहीं कहा जा सकता कि 'जिस तरह अन्य साहित्यों में अनेक प्रवृत्तियों के पुञ्ज रोमांटिक काव्य को एक संज्ञा 'रोमांटिसिज्म' दे दी गई है, उसी तरह अनेक प्रवृत्तियों के पुञ्ज छायावादी काव्य को भी एक नाम देना चाहिए।' नाम देने के पहले जब उसे एक नाम से अभिहित कर दिया गया गया तो पुनः नाम देने की आवश्यकता ही नहीं रह जाती और नाम देते समय भरसक यह प्रयत्न करना चाहिये कि नाम गुण के अनुसार हो। यदि शब्दकोष असमर्थ हो जाय तो विवश होकर परिचय प्राप्त करने के लिये किसी भी वस्तु को किसी भी नाम से पुकार सकते हैं। किन्तु जब युग के अनुसार हमें नाम मिल जाते हैं तो अनर्गल नाम रख देने की क्या आवश्यकता है? जिस काव्य-धारा को हम छायावाद मान लेने का आग्रह करते हैं यदि उसके व्यापक क्षेत्र को समेटने वाला 'स्वच्छन्दतावाद' ऐसा कोई शब्द उपलब्ध है तो उसे मानने में किसी को कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए? जब कि तद्वत् स्वभाव के साहित्य के लिए यह शब्द अपने पीछे अंग्रेजी साहित्य में एक विशाल काव्य-परम्परा रखता है जिसके प्रभाव को हम पूर्णतः अस्वीकार भी नहीं कर पा रहे हैं।

जिन कवियों एवं कविताओं को हम 'छायावाद' के स्तम्भ मानते हैं यदि उनकी विवेचना की जाय तो उनमें वे सभी गुण दिखाई पड़ेंगे जो एक स्वच्छन्दतावादी काव्य के लिए अपेक्षित हैं। जब हम यह मानते हैं कि आधुनिक युग में ऐसी बहुत सी कविताएँ मिल जाएँगी जिनमें एक साथ ही छायावादी, रहस्यवादी एवं स्वच्छन्दतावादी काव्य की प्रवृत्तियाँ मिल

---

१. छायावाद युग, पृ० ५२, शम्भुनाथ सिंह।

२. 'छायावाद की काव्य साधना, प्रो० क्षेम, पृ० १२२।

जायँगी, तो हम क्यों न एक ऐसे नाम से उसे अभिहित करें जिसके अन्दर उक्त सभी भावधाराएँ सिमट कर चली आएँ। ऐसी कविताएँ यदि हमें देखनी हों तो पं० सुमित्रानन्दन पन्त की 'मौन निमन्त्रण' कविता हम देख सकते हैं। कवि जब प्रकृति में एक रहस्यमय आकर्षण का अनुभव करने लग जाता है और एक करुण विस्मय में विभोर होकर कह उठता है—

> क्षुब्ध जल शिखरों को जब वात
>
> .............................................
>
> उठा तब लहरों से कर मौन
>
> न जाने मुझे बुलाता कौन।

तो हमारे सामने युक्त समस्या से उक्त कविता अवतरित होने लग जाती है। जिस कविता के अन्दर समस्त शास्त्रीय परम्पराओं का तिरस्कार हो, स्थूलता के प्रति सूक्ष्मता का विद्रोह हो, एक अनन्त अभिलाषा एवं जिज्ञासा का भाव हो, दम घुटा देनेवाली परिस्थितियों को बदल देने की कामना हो, भावी श्रेष्ठतर जीवन को प्राप्त करने की कल्पना हो, निरन्तर आगे बढ़ते रहने की इच्छा हो, ससीमता को असीमता में बदल देने की चाह हो तथा अपनी वैयक्तिक अनुभूति को निःसंकोच व्यक्त कर देने की शक्ति हो, वह स्वच्छन्दतावादी कविता को छोड़कर और कुछ हो ही नहीं सकती। यदि 'छायावादी' अथवा रहस्यवादी कही जाने वाली कविताएँ उक्त गुणों से सम्पन्न हैं तो वे स्वच्छन्दतावादी कविताएँ हैं और 'छायावाद' स्वच्छन्दतावाद का एक अङ्ग या पर्याय है।

# रोमांटिक कविता और प्रेम

प्रेम सृष्टि की चिरन्तन आदि शक्ति है। यह यद्यपि हृदय की एक अत्यन्त सूक्ष्म वृत्ति है, परन्तु मानव जीवन में उसकी व्यापकता के सम्बन्ध में दो मत हो नहीं सकते। साधारणत: प्रेम से जो अर्थ हम लगा लेते हैं, वह है स्त्री और पुरुष का पारस्परिक प्रेम, जो रूपाकर्षण के माध्यम से उत्पन्न होता है तथा जिसके मूल में वासनाजन्य शारीरिक भूख विद्यमान रहती है। प्रेम मानव-मन की वह स्वाभाविक स्वच्छन्द वृत्ति है जो प्रकृति या सामाजिक बन्धनों को स्वीकार करना नहीं चाहती परन्तु समाज ने अपनी मर्यादा की रक्षा के लिए देश-काल तथा परिस्थितियों के अनुसार उस पर नैतिक बन्धन डाल रखे हैं। काम मनुष्य-जीवन की मूल वृत्ति है और इसे ही लौकिक भाषा में प्रेम के नाम से अभिहित किया जाता है। भारतीय संस्कृति ने समाज के सामने व्यक्ति के त्याग को अत्यधिक महत्व न देने कारण, प्रेम को व्यक्ति की वस्तु नहीं, बल्कि समाज की वस्तु माना है, जिसके आधार पर ही विवाह व्यवहार-शास्त्र की व्यवस्था की गई है। यही कारण है कि प्राचीन भारतीय साहित्य के अन्दर उन्हीं प्रेम-प्रसंगों की चर्चा की गई है जिनका अन्त विवाह में हुआ है। परिणय से वंचित प्रणय को समाज के लिये सर्वथा अस्वीकार किया गया है। नैतिक प्रेम-प्रसंगों के लिये भी समय, स्थिति तथा स्थान की एक निश्चित व्यवस्था पूर्ववर्ती आचार्यों ने स्वीकार की है। परन्तु जहाँ तक शुद्ध कला का सम्बन्ध है, वह सामाजिक मान्यताओं को उतना स्वीकार नहीं करती जितना कि

वह स्वभाविकता के निकट है। संसार का कोई भी साहित्य ऐसा नहीं रहा है जिसने प्रेम को महत्वपूर्ण स्थान न दिया हो। प्रेम कविता की सबसे महान् प्रेरक शक्ति रही है। भले ही युग के अनुसार उसके रूपों में परिवर्तन होते रहे हों।

'फ्रायड' के समर्थक भले ही यह स्वीकार कर लें कि मनुष्यों की प्रत्येक क्रिया में काम की मूलप्रेरणा रहती है, किन्तु व्यावहारिक जीवन में हम यह भली प्रकार देखते हैं, कि हमारे अनेक कार्य ऐसे होते रहते हैं जिनमें वासना की गन्ध भी नहीं दिखाई पड़ती। कविता के अन्दर भी प्रेम के मुख्य तीन स्वरूप ऐसे रहे हैं जिनको कवियों ने अपनी कविता की मुख्य विषय-वस्तु बनाया है। यों तो नाना प्रकार से प्रेम की अभिव्यक्ति हुई है किन्तु लौकिक, पारलौकिक तथा प्राकृतिक दृश्यों के प्रति कवियों का आकर्षण विशेष रहा है।

लौकिक और पारलौकिक प्रेम की व्याप्ति समस्त साहित्य में और समस्त युग में है। इतना अवश्य हुआ है कि समसामयिक परिस्थितियों के अनुरूप प्रेम का स्वरूप बदलता रहा है तथा उसकी अभिव्यक्ति में भेद आता रहा है। 'हिन्दी के शैशव के उस पूर्व मध्य युग में जब कवि वीरगाथाओं के द्वारा अन्तर्युद्ध ( Civilwar ) में व्यंजित शौर्य के साथ प्रेम का पुट देते थे तब प्रेम का तत्व उन रोमांचक वीरगाथाओं में ही सम्मिश्रित हो जाता था। इसका कारण यही था कि मुख्यतः वह युग युद्ध और संघर्ष का था।' प्रेम का प्रसंग कविगण उसी समय ला सकते थे जब कि उनका आश्रयदाता राजा किसी राजकुमारी के रूप-गुण पर मुग्ध होकर ही उसके प्राप्त्यार्थ युद्ध करने के लिए प्रेरित होता था। ऐसी स्थिति में जिज्ञासा बढ़ाने के लिये प्रेम का नहीं बल्कि शृङ्गार का ही वर्णन अधिक किया जाता था। प्रायः लोग प्रेम और शृङ्गार को एक ही वस्तु मान बैठते हैं किन्तु दोनों दो वस्तुएँ हैं, एक नहीं। प्रेम केवल वैयक्तिक अनुभूति है जिसमें अन्तःसाक्ष्य है किन्तु शृङ्गार बाह्य अनुभूति है जिसमें बाह्य साक्ष्य है और उसे हम आँखों से देख सकते हैं। यह दूसरी बात है कि शृङ्गार के प्रति लोगों के दृष्टिकोण भिन्न हों। अतः कवि प्रेम की अभिव्यक्ति जितनी सफलता से कर सकता है उतनी सफलता से कलाकार एवं तटस्थ द्रष्टा नहीं। वीरगाथा काल में प्रेम की जो लौकिक अभिव्यक्ति पाई जाती है वह लौकिक शृङ्गार का ही वर्णन है। भक्ति युग तक आते-आते समाज की स्थिति में महान् परिवर्तन उपस्थित हो गया। न तो अपने देश के आश्रयदाता राजा रहे और न अपने देश की राजनीति।

जिस युग को हम साहित्य का भक्ति-युग कहते हैं वह ऐसा समय था जब कि भारतीय राजनीति तथा शासन-नीति का संचालन विदेशी यवनों के हाथ में था, भारतीय जनता के लिए कोई ऐसी वस्तु नहीं थी जिस पर कि वह गर्व कर सकती, जिसका परिणाम यह हुआ कि जितना भी बाह्य चमत्कार तथा प्रदर्शन था सब पर एक प्रकार से निराशा का वातावरण छा गया। मुसलमान शासकों ने सबसे अधिक छीना-झपटी जिस वस्तु पर की वह है रूप और धर्म। यवन शासन में भारत के आ जाने से देश का धन तो उनके हाथों में चला ही गया था, रूप पर हाथ मारकर वे अपनी काम-पिपासा शांत करना चाहते थे तथा धर्म को मिटाकर अपने प्यारे मजहब इस्लाम का प्रचार करना चाहते थे। जिससे ऐसी स्थिति आ गई थी कि अधिक से से अधिक इन वस्तुओं को छिपाकर रखा जाय। अत: स्वाभाविक ही था कि इस युग के कवि आदि, जो आकर्षण के बाह्य चमत्कार हैं, के वर्णन से विमुख रहते। प्रेम, जो कि प्रकृति का शाश्वत तत्व हैं, प्रकट होने के लिये सहारा ढूँढ़ने लगा और असहाय समाज अपनी स्थिति को सुरक्षित रखने के लिए आश्रयदाता। दोनों को वाणी देने वाले कवियों ने भगवान् की शरण ली, जिससे प्रेम-भावना भक्ति के रूप में बदल गई और राजाओं के स्थान पर आश्रयदाता हुआ भगवान. जिसकी वन्दना के अनेक मार्ग निकल पड़े। "भक्तियुग के कवियों का प्रेम-भाव ईश्वर की भक्ति में पर्यवसित हो गया। उस समय के भक्त और संत कवियों ने अपनी प्रेम-भावना का उन्नयन किया था भक्ति भावना में। भक्त कवियों में शृंगार वर्णन प्रस्तुत तो अवश्य है. परन्तु प्रेम के निम्न वासना-रूप की उसमें प्रतिष्ठा नहीं है, उदाहरण के लिये 'सूर' ने अपने गीतों में राधा और कृष्ण के ऐंद्रिय प्रेम के जो कई चित्र दिए हैं उनमें एक आलंकारिक गोपन है।"[1] 'मीरा' के कुछ पद ऐसे मिलते हैं जिनमें अभुक्त प्रेम की पिपासा की अभिव्यक्ति मिलती है। यदि हम हठात् उनके 'प्रियतम' को भगवान नहीं मान लेते तो उनके कतिपय पदों से वासना की गन्ध आती है, चाहे वे भगवान् कृष्ण के प्रति ही क्यों न हों। इसका संकेत इस पद से मिलता है—

मैं गिरधर रंग राती सैयाँ।
पँचरँग चोला पहन सखी मैं झुरमुट खेलन जाती॥
ओह झुरमुट माँ मिल्यो साँवरो खोल मिली तन गाती।

---

१. सुधीन्द्र एम० ए०, हिन्दी कविता में युगांतर, पृ० ३१४।

जिनका पिया परदेस बसत है लिख लिख भेजै पाती॥
मेरा पिया मेरे ही पास बसत है, ना कहुँ आती जाती।
चन्दा जायगा सूरज जायगा, जायगी धरणि अकासी॥
पवन पाणी दोनुही जायँगे, अटल रहै अविनासी।

परमात्मा से सम्बद्ध होने पर भी मीराबाई का प्रेम लौकिक रूप में व्यक्त हुआ है। सगुण-मार्गी जितने भी कवि हैं न तो उनमें कोई रहस्य है और न तो लौकिक प्रेम की पंकिलता। किन्तु निर्गुणमार्गी कवियों में आकर लौकिकता और पारलौकिकता का पचड़ा खड़ा होता है और अधिकतर सूफी कवियों में रहस्य का यह पर्दा तथा लौकिकता और पारलौकिकता के प्रति सन्देह और भी गहरा हो जाता है। सूफ़ी कवि लौकिक प्रेम, जिसे उनकी भाषा में इश्क मजाज़ी कहते हैं, में ही पारलौकिक प्रेम, जिसे इश्क हक़ीक़ी कहते हैं, देखते हैं। वे लौकिक प्रेम में ही अलौकिक झाँकी देखते-दिखाते हैं और इश्क मजाज़ी का तिरस्कार नहीं करते बल्कि साधना के लिये उसे अनिवार्य मानते हैं।

'रीतियुग में तो कवि नारी के साढ़े तीन हाथ के शरीर की नाप-जोख ही करता रह गया। ऐसा जान पड़ता है कि इस युग में उसे प्रम के अतिरिक्त जैसे कोई अन्य विषय ही नहीं मिलता था'। मनुष्य की अनादि वासना को कवि ने रूप-चित्रण और रीति-चित्रण से तृप्त किया। कृष्ण और राधा की ओट लेकर, श्लील और अश्लील के सम्बन्ध में जो कुछ कहना था कह दिया, स्वयं कवि के अतिरिक्त राजन्य वर्ग की काम-पूर्ति इसमें होती थी। फल यह हुआ कि कविता वासना-वलित कुत्सित रंग में रंग गई। किन्तु रीतियुग की यह कविता शृंगारपरक थी, न कि प्रेमपरक, जिसके लिये उस समय का समाज उत्तरदायी है। वीरगाथा काल की शृंगारपरक कविताओं से ये कविताएँ नग्नता में बहुत आगे थीं क्योंकि युद्ध और संघर्ष की आँच उनपर नहीं लग पाई थी और मुसलमानी सभ्यता का सहयोग भी उन्हें प्राप्त हो गया था। सूर के राधा-कृष्ण तथा तुलसी के राम-सभी रीतिकाल में आकर बदल गए। राधा और कृष्ण के नाम से तो इस युग का सारा लौकिक शृंगारिक साहित्य ही लिखा गया। किन्तु रीतिकाव्य के प्रमुख कवि केशवदास ने अपनी 'रामचन्द्रिका' में तुलसी के मर्यादा पुरुषोत्तम राम तक से ऐसी बातें कहलवा लीं—

बन्धन हमारो काम-केलि को कि तोरिबे को
ताजनो विचार को कै व्यजन विचारु है।

मान की जवनिका कि कंजमुख मूँदिबे को
सीता जू को उत्तरीय सब सुख सीक है ॥
(केशवदास, रामचन्द्रिका)

रीति युग के अन्तिम दिनों में इसकी परम्परा में बाबू भारतेन्दु हरिश्चंद्र ने परिष्कार अवश्य किया, परन्तु इसका परिष्कृत रूप भी आधुनिक युग की जनता को स्वीकार न था जिससे वह राष्ट्रीय जागरण से ओत-प्रोत भावों तथा आचार्य पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी के सुधारवादी खड़ी बोली के आन्दोलन की ओर आकर्षित हुई। परम्परित रूढ़ियों के प्रति जब साहित्य के अन्दर विरोध की लहर दौड़ने लगी तथा स्वच्छन्द विचारों को साहित्य में स्थान मिलने लगा तो प्रेम के स्वरूप में भी परिवर्तन आया। आधुनिक काव्य में प्रेम को लेकर जो विभिन्न धाराएँ फूटीं उनमें मुख्य थीं राष्ट्रीय, रहस्यवादी तथा स्वच्छन्द प्रेम की धारा। भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने अपने साहित्य के अन्दर देश और देशवासियों की दयनीय स्थिति का चित्रण तो कर दिया था किन्तु उनको बदल देने की कामना तथा परिस्थितियों का समाधान उभड़ कर उनकी कविता में न आ सका था। देश-प्रेम से प्रेरित होकर जिन कविताओं की सृष्टि हुई उनमें मुख्य हैं वन्दना के गीत, प्रशस्ति गीत, वर्तमान स्थिति के चिन्तन तथा अतीत स्मरण के गीत, जागरण गीत, अभियान गीत तथा बलिदान गीत, जिनसे देश का समस्त वातावरण गुंजायमान हो उठा।

रहस्यवादी तथा स्वच्छन्द प्रेम की धारा का मूल उत्स एक ही है। केवल अभिव्यंजना शैली में अन्तर आने के कारण भिन्न जान पड़ता है। स्वच्छन्दतावादी तथा रहस्यवादी दोनों प्रकार के कवियों ने अपने आलम्बनों के लिए दाम्पत्य-प्रेम का आश्रय लिया है। 'असीम या अलौकिक के प्रति रहस्यवादी का व्यक्त प्रेम लौकिक दाम्पत्य प्रेम ही था, उसे चाहे जितना उदात्त, अवासनात्मक या परिशुद्ध कह लिया जाय। भक्ति सम्प्रदाय तो ऐसे प्रेम को माधुर्य भाव ही कहता है और उसका मधुर रस काव्य का शृंगार रस ही है।'[1]

'सूफी सम्प्रदायवाले इसे ही इश्कमजाज़ी में इश्कहक़ीकी कहते हैं। वे लौकिक प्रेम में ही अलौकिक प्रेम की झाँकी देखने के हामी हैं। पर स्मरण रहे कि सूफी लौकिक प्रेम का तिरस्कार नहीं करते बल्कि उसे साधना के

---

१. आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र, हिन्दी का समसामयिक साहित्य, पृ ६०।

लिए अनिवार्य मानते हैं किन्तु हिन्दी के आधुनिक रहस्यवादी कवियों ने लौकिक प्रेम का तिरस्कार किया है जिससे वे बाहर न देखकर भीतर देखने लग गए हैं। पर स्वच्छन्दतावादी लौकिक प्रेम इश्कमजाज़ी की उसके परिशुद्ध रूप में भी अवज्ञा न कर सका। उसने इश्कमजाज़ी में इश्कहक़ीकी होने के पाखण्ड का प्रचार नहीं किया।' स्वच्छन्दतावादी कवि के अन्दर स्वस्थ मानवीय भावों को प्रकट करने में किसी भी प्रकार की गोपन प्रवृत्ति नहीं है। वह प्रेम की अभिव्यक्ति में झिझक की कोई आवश्यकता नहीं समझता। इस प्रकार हम देखते हैं कि पण्डित विश्वनाथप्रसाद जी मिश्र ने स्वच्छन्दतावादी तथा रहस्यवादी कविताओं का दो रूप ही स्वीकृत कर लिया है किन्तु ये रूप विचारधारा के नहीं बल्कि शैली के हैं।

छायावाद, रहस्यवाद और स्वच्छन्दतावाद—ये तीनों शब्द अत्यन्त ही विवाद के विषय रहे हैं। कुछ विद्वानों ने छायावाद और रहस्यवाद को पर्यायवाची माना है, तो कुछ उन्हें दो स्वतन्त्र विचारधारा के रूप में स्वीकार करते हैं। कुछ विद्वानों का मत है कि छायावाद के अन्तर्गत ही स्वच्छन्दतावाद एक विशिष्ट प्रवृत्ति है, तो कुछ लोगों ने रहस्यवाद का उसे एक अङ्ग ही मान लिया है, जिसमें रूढ़ियों के प्रति विद्रोह निहित रहता है। छायावाद और स्वच्छन्दतावाद के सम्बन्ध में हमें विस्तृत रूप से अन्यत्र विचार करना है। अतः यहाँ पर इतना ही कह देना पर्याप्त होगा कि रूढ़ियों के प्रति समाज तथा साहित्य और राजनीति में जो विद्रोह की लहर उत्पन्न हुई तथा उसका प्रतिनिधित्व करने के लिए जिस साहित्य-रूप की सृष्टि हुई, उस स्वच्छन्दतावादी साहित्य के अन्दर ही अनेक प्रवृत्तियों तथा शैलियों का विकास हुआ, रहस्यवादी तथा छायावादी प्रवृत्तियाँ उन्हीं विकसित होनेवाली प्रवृत्तियों में मुख्य हैं।

कवियों की गोपन प्रवृत्ति ने जब वैयक्तिक प्रणयानुभूति पर अलौकिकता का आवरण चढ़ा दिया तो उसे साहित्य में रहस्यवाद की संज्ञा दे दी गयी। डा० रामकुमार वर्मा के अनुसार, 'रहस्यवाद आत्मा की अन्तर्निहित प्रवृत्ति का प्रकाशन है, जिसमें वह दिव्य और अलौकिक शक्ति के साथ अपना शान्त और निश्चल सम्बन्ध जोड़ना चाहती है और यह सम्बन्ध यहाँ तक बढ़ जाता है कि दोनों में कोई अन्तर नहीं रह जाता।' किन्तु इतना तो सभी रहस्यवादी कवि तथा उसके समर्थक स्वीकार करेंगे कि रहस्यवादी कविताओं में किसी भी प्रकार की भक्ति की प्रतिष्ठा नहीं की गई है, न तो वे भक्त कवियों के द्वारा रची गई हैं। न तो हमें इन कविताओं में 'सूर' का

सारल्य ही मिलेगा और न तो तुलसी की भाँति लघुता का प्रकाशन ही। इसके अतिरिक्त यदि हम सूफीसन्तों की निर्गुणब्रह्म की उपासना ढूँढ़ेंगे तो भी हमें निराश ही होना पड़ेगा। इन कविताओं के अन्दर मिलन की प्रबल आकांक्षा तथा निराशा-जन्य चिरविरह की कल्पना को ही अभिव्यक्ति मिली है। और मजे की बात तो यह है कि यह मिलन और विरह का सारा स्वांग एक ऐसे प्रियतम से है जिसका न कोई रूप है, न रंग और न तो कभी उससे देखा-देखी ही हुई है। यह रहस्यवाद और जो कुछ हो, भक्ति तो नहीं है और यदि ये कविताएँ भक्ति काव्य की श्रेणी में नहीं आतीं तो इन्हें किस श्रेणी की कविताओं में रखा जाय। ये कविताएँ और कुछ नहीं लौकिक प्रेम की परिष्कृत व्यंजना हैं। इसमें सन्देह नहीं कि जो होंठ चुम्बनों से वंचित रहते हैं वे गाने लगते हैं ( Lips that fail to kiss, begin to sing )।

हमने इसका जिक्र ऊपर कर दिया है कि स्वच्छन्दतावादी आन्दोलन रूढ़ियों के प्रति एक विद्रोह था। रीतियुग की जिस शृंगारिक कविता की इतनी भर्त्सना हो रही थी उसे उसी रूप में अभिव्यक्ति देना आधुनिक युग के साहस की बात नहीं थी। इसके अतिरिक्त देश के अन्दर जागरण आ रहा था, जितने भी नेता तथा समाज सुधारक थे जी-जान से देश की हीन अवस्था को मिटाने तथा जन्मजात अधिकार स्वतन्त्रता को प्राप्त करने में जुटे हुये थे। महात्मा गाँधी के नेतृत्व में कांग्रेस द्वारा चलाया गया राष्ट्रीय आन्दोलन उग्र रूप धारण करता चला आ रहा था। असहयोग आन्दोलन, किसानान्दोलन तथा सत्याग्रह आदि राष्ट्रीय कार्यों की ही हर जगह चर्चा थी। देश का कोई भी भला कहलानेवाला ऐसा आदमी नहीं था जो इस महायज्ञ को सफल बनाने में यदि तन से नहीं तो मन से अवश्य सक्रिय न रहा हो। ऐसी स्थिति में कवि के लिये सम्भव नहीं था कि वह इन सबसे विमुख होकर अकेले बैठकर प्रेम के गीत गाने लगता। प्रेम के गीत गाता तो वह भले पर उन्हें गाकर वह समाज में कौन सा मुँह दिखलाता, बात विचारणीय है। किन्तु प्रकृति के शाश्वत तत्वों पर उतना ही बन्धन लगाया जा सकता है जितना कि सम्भव हो। अत्यन्त मानवीय क्रीड़ा कलाप से मुक्त कविताओं पर तो तत्कालीन परिस्थितियों ने बन्धन अवश्य लगा दिये किन्तु प्रेम, जो कि सृष्टि की एक चिरन्तन शक्ति है, को बिल्कुल निष्क्रिय कर देना असम्भव ही था। अतः उसने अपनी अभिव्यक्ति का नवीन मार्ग ढूँढ़ निकाला कि जिससे मानव-मन की अभिव्यक्ति भी हो जाय और कवि को समाज के सामने निन्दनीय भी न

वनना पड़े; जिसका यह परिणाम हुआ कि इस युग के कवियों ने प्रेम का परिष्कारकर उसे शृंगार या विलासी वासनाके रूप में नहीं वल्कि आदर्श और जीवन दर्शन के रूप में अपना लिया। परिणाम-स्वरूप 'पंच रंग चोला पहन सखी मैं झुरमुट खेलन जाती' ( मीरा ) तथा सीता जू को उत्तरीय सब सुख सारु है' ( केशव ) के स्थान पर 'कैसे कह दूँ अलि सपना है मेरे मूक मिलन की बात' ( महादेवी ) जैसी कविताओं की सृष्टि होने लगी। इस प्रकार हम देखते हैं कि जितने भी मर्यादावादी कवि थे, चाहे वह महादेवी वर्मा हों अथवा रामकुमार वर्मा सभी ने अपनी वैयक्तिक अनुभूति को अलौकिक सत्ता के सामने प्रकट करना आरम्भ कर दिया क्योंकि 'भारत के प्राचीन नैतिक आदर्श और उनपर आश्रित काव्य-मर्यादा ईश्वर के अतिरिक्त और किसी के सम्मुख अपनी आत्मा को उघाड़ करने की अनुमति दे ही कैसे सकती थी। रसाचार्यों ने आपत्तियाँ उठाई हैं कि 'अपनी व्यक्तिगत रति आदि को समाज के सम्मुख व्यक्त करना लज्जास्पद एवं बाधक है।' 'छायावाद ने काव्य परम्पराओं को तो नहीं, माना, परन्तु नैतिक आदर्शों का आतंक उसपर भी गहरा था।'[1] यही कारण है कि अपने व्यक्तित्व को प्रच्छन्न रखते हुए प्रतीकों के द्वारा ही उन्हें अभिव्यक्त करना पड़ा। डा० नगेन्द्र छायावाद को स्वच्छन्दतावाद से भिन्न नहीं मानते इसलिये उनका यह मत स्वच्छन्दतावाद के सम्बन्ध में ही है। इस प्रकार हम देखते हैं कि रहस्य-वाद के नाम पर जो कवितायें ईश्वर को लक्ष्य करके हुई, जिन्हें हम लौकिक जगत की अभिव्यक्ति मानते हैं, उनको यह रूप देना भी एक महान् परिवर्तन को जन्म देना ही है। यदि हम उन्हें थोड़ी देर के लिये भक्तिपरक कवितायें ही मान लें तो भक्त और भगवान का रूप भी इन कविताओं के द्वारा बदला, हमें स्वीकार करना पड़ेगा, जो स्वच्छन्दतावाद का एकमात्र प्रभाव है।

रहस्यवाद के द्वारा जिस मर्यादावादी प्रेम-काव्य की रचना हुई उसके अतिरिक्त ऐसे भी प्रेम काव्यों की सृष्टि हुई जिनमें कवि समाज तथा पारम्प-रिक बन्धनों की कुछ भी परवाह न करते हुए स्पष्ट रूप में खुलकर सामने आया। ऐसे काव्यों में जिस स्वच्छन्द प्रेम की अभिव्यक्ति हुई है, वह प्रधानत: शृंगारिक कवितायें हैं। उन काव्यों का जन्म कवि की व्यक्तिगत कुंठाओं से हुआ है जिनके मूल में काम की अनादिशक्ति वासना सन्निहित है क्योंकि व्यक्तिगत कुण्ठायें काम के चारों ओर केन्द्रित रहती हैं। जिस समय इस साहित्य की सृष्टि आरम्भ हुई उस समय स्वच्छन्द विचारों के आदान-प्रदान से स्वतन्त्र प्रेम के प्रति समाज में आकर्षण बढ़ रहा था जिससे एक प्रकार

की जो झिझक और संकोच था दूर होता जा रहा था। किन्तु इस स्वच्छन्द-वादी प्रेम की वेदना में भक्ति तथा रीतियुग की वेदना की भांति ज्वाला नहीं थी। 'सूर' की विरहणी भले ही इतनी जल रही हो कि उसके हाथों के स्पर्श से कागज जल जाता है, 'जायसी' की विरहणी के जलने से कौवा काला हो जाता है, तथा बिहारी की सन्तप्त नायिका की स्वांस से माघ माह ही में लू क्यों न चलने लग जाती हो—

सुनत पथिक मुँह-माह निसि लुवैं चलति उहिं गाम।
बिन पूछे बिन हीं सुने जियत बिचारी वाम॥

अथवा—

आड़े दै आले बसन जाड़े हूँ की राति।
साहस क कै सनेह बस सखी सबै ढिग जाति॥

(बिहारी)

किन्तु स्वच्छन्द प्रेम की धारा में उन्माद तो उससे भी अधिक है, पर डरने झिझकने तथा साहस करने की कोई आवश्यकता नहीं है क्योंकि उसका मूल उत्स ही इतना महान् तथा शीतकर है कि जीवन को अभिभूत कर देता है। प्रेम का आधार ही इतना महान है कि वह विनाशकारी हो ही नहीं सकता, चाहे वह अपने किसी भी रूप में क्यों न हो—

अम्बर-चुम्बी हिम शृगों से
कलरव कोलाहल साथ लिये;
विद्युत की प्राणमयी धारा
बहती जिसमें उन्माद लिये।

(कामायनी,—जयशंकर प्रसाद)

रीतिकाल में सौन्दर्य ज्वालामय था जिससे मरने-जीने का स्वांग अधिक रचने की आवश्यकता पड़ी है किन्तु इस युग का सौन्दर्य शान्त तथा शीतल है जिसमें उन्मान्द के साथ प्राणमयी धारा का श्रोत भी प्रवाहित होता रहता है; कर्म करने तथा विश्वास को दृढ़ रखने की एक शान्तिदायिनी प्रेरणा प्राप्त होती रहती है। रीतिकालीन कवियों की भाँति कविता के विषय में नारी का साढ़े तीन हाथ का शरीर ही नहीं रह गया बल्कि अनन्त और अगाध विषय

आधुनिक सभ्यता ने लाकर उनके सामने उपस्थित कर दिये हैं जिनमें नित्य नवीन अनुभूतियों के साथ कवि की स्वच्छन्द भावना ने खुलकर विहार किया है। यदि किसी मर्यादावादी कवि ने परोक्ष सत्ता का सहारा लेकर अपनी वेदना को अभिव्यक्ति दी है तो किसी ने खुलकर लौकिकता की भूमि पर स्वच्छन्द प्रेम को, किन्तु सारे प्रेम-गीत तथा काव्य मानवीय भावनाओं की ही अभिव्यक्ति हैं। यदि हम—'रंगमय है देव दूरी छू तुम्हें रह जायगी यह चित्र मय क्रीड़ा अधूरी' ( महादेव वर्मा ) को अलौकिक प्रेम मानते हैं तो 'मिलन अन्त है मधुर प्रेम का और विरह जीवन है। विरह प्रेम की शाश्वत गति है और सुषुप्त मिलन है' ( रामनरेश त्रिपाठी ) को अलौकिक प्रेम क्यों नहीं मानते। किन्तु त्रिपाठी जी ने इसमें प्रेम की और वह भी लौकिक प्रेम की सच्ची परिभाषा दी है न कि छद्मवेष में अपने को लोगों के सम्मुख उपस्थित किया है। इसमें सन्देह नहीं कि इस कविता में ही प्रेम को स्वाभाविक स्वरूप मिला। प्रेम का स्वच्छन्द रूप सर्वप्रथम श्रीधर पाठक ने १९ वीं शताब्दी में अनूदित 'एकान्त वासीयोगी' ( मूल कृति हरमिट, गोल्डस्मिथ ) द्वारा प्रस्तुत किया। "रीति-ग्रन्थों के लक्षणों पर आधारित संयोग वियोग का वर्णन न करके उन्होंने प्रेम की एक ऐसी लोक प्रचलित कहानी सुनाई जो सबके हृदय की अपनी कहानी थी। यह कहानी ही नहीं, मानव जीवन का एक चिरन्तन सत्य है। किसी के प्रेम में योगी होकर प्रकृति के एकान्त क्षेत्र में कुटी बनाकर निवास करना एक ऐसी मार्मिक भावना है जो सभी देश के सभी हृदयों को समान रूप से स्पर्श करती है। इंगलैण्ड में बढ़ती हुई भौतिकता के विरुद्ध किसी एकान्त क्षेत्र में प्रेम की पूजा का संकेत देने के लिए ही 'हरमिट' की अवतारणा हुई थी। यह प्रेम कहानी पण्डितों की रूढ़ि से मुक्त लोक-गीतों के मेल में दिखाई पड़ती है[1]" पं० श्रीधर पाठक जी ने अपनी इस रचना द्वारा प्रेम को वासना के रूप में ही प्रदर्शित करके मानवीय वृत्ति के शुद्ध स्वरूप में प्रतिष्ठित किया है। इस प्रेम-काव्य का प्रभाव इस इस काल के अनेक लघु काव्यों पर सम्यक रूप से पड़ा जैसे—

१—प्रेम पथिक.........जयशंकर प्रसाद
२—शिशिर-पथिक......रामचन्द्र शुक्ल
३—मिलन............रामनरेश त्रिपाठी
४—ग्रन्थि............सुमित्रानन्दन पन्त

---

१. डा० शितिकण्ठ मिश्र. खड़ी बोली का आन्दोलन।

इस प्रकार के प्रेमाख्यान काव्यों के लिखने की प्रवृत्ति हिन्दी में सर्वप्रथम इन्हीं स्वच्छन्दवादी कवियों द्वारा प्रकट हुई। द्विवेदी-युग के आरम्भ में प्रेम पर जो कोई उल्लेखनीय रचना नहीं हो सकी उसका एकमात्र कारण यही है कि उस समय रीतिकालीन शृङ्गाग के विरोधी भावों की ही सृष्टि हो रही थी, जो रचनायें हुई भी उनमें उच्च आदर्श ही प्रस्तुत किया जाता था। प्रेम को हृदय की निःस्वार्थ वृत्ति माना गया जिसका प्रभाव 'प्रसादजी' पर भी पड़ा था। उन्होंने प्रेम-पथिक में लिखा है :—

पथिक प्रेम की राह अनोखी भूल भूलकर चलना है।
घनी छाँह है जो ऊपर तो नीचे काँटे बिछे हुए हैं॥
प्रेम यज्ञ में स्वार्थ और वासना हवन करना होगा।
तब तुम प्रियतम स्वर्ग बिहारी होने का फल पाओगे॥

'प्रसाद' जी ने प्रेम के तत्व का मन्थन किया था और यह निष्कर्ष निकाला था कि प्रेम वह रोग है जिसमें दुःख ही दुःख है जिसमें पड़कर फिर कोई सुखी नहीं रह सकता। किन्तु इतना स्वीकार किया है कि उसमें मनोरथ की उत्तुङ्ग लहरें उठा करती हैं, यही कारण है कि कवि एक बार यह कह कर कि—

'प्रेम, सो जनि प्रीति कीजो समुझि ल्यो मन माँहि।
प्रेम को जनि नाम लीजो भूलि जाओ याहि॥'

पुनः उसी प्रेम के पीछे दौड़ लगाते हैं। यद्यपि, अपने पूर्ववर्ती युग के कवि बोधा के स्वर में मिलाते हैं।

अति खीन मृनाल के तारहुतें, तेहि ऊपर पाँवदै आवनो है।
सुई-बेह कै द्वार सकै न तहाँ, परतीति को टाँडो लदावनो है॥
कवि बोधा अनी बनी नेजहूतें चढ़ि तापै न चित्त डरावनो है।
यह प्रेम को पंथ कराल है री, तरवार की धार पै धावनो है॥'

(बोधा कवि)

'पथिक प्रेम की राह अनोखी भूल भूलकर चलना है।
घनी छाँह है जो ऊपर तो नीचे काँटे बिछे हुये हैं॥'

(प्रसाद)

फिर भी उनका स्वच्छन्द स्वाभाविक मन यही स्वीकार करता है कि—

**हृदय खोलकर मिलने वाले बड़े भाग्य से मिलते हैं।'**

'प्रसाद जी' मानवीय भावनाओं के सच्चे कवि तथा स्वच्छन्द एवं स्वस्थ प्रेम के गायक थे। हिन्दी साहित्य ने सौन्दर्य की अभिव्यक्ति करने वाला इतना बड़ा कवि अभी उत्पन्न नहीं किया। इन्होंने जिस सौन्दर्य की उपासना की है तथा जिसके साहचर्य के लिये आकुलता प्रकट की है, वह साधारण सौन्दर्य नहीं है जिसे सभी प्राप्त कर लें। वह तो 'चेतना का उज्ज्वल वरदान है और जिसे मिल जाता है उसे इस लोक में ही स्वर्ग का सा आनन्द आने लगता है—

**'उज्वल वरदान चेतना का सौन्दर्य जिसे सब कहते हैं।**
**जिसमें अनन्त अभिलाषाओं के सपने सब जगते रहते हैं॥'**

(कामायनी)

इसके अतिरिक्त प्रसाद जी ने अपनी प्रेमाभिव्यक्ति की मस्ती में समाज के व्यङ्गों तथा मरणोन्मुख परम्पराओं की कुछ भी परवाह नहीं की है। उन्होंने 'झरना' में स्पष्ट कह डाला है—

**'डरो नहीं जो तुमको मेरा उपालम्भ सुनाना होगा।**
**केवल एक तुम्हारा चुम्बन इस मुख को चुप कर देगा॥'**

इस प्रकार हम देखते हैं कि एक ओर तो रहस्यवाद के 'माध्यम से अत्यन्त सूक्ष्म एवं अलौकिक सत्ता को लक्ष्य करके आत्मा का परमात्मा के साथ प्रणय-व्यापार चल रहा था तो दूसरी ओर स्पष्ट रूप में मानवीय अभावों की प्रेम सम्बन्धी तृप्ति की पूर्ण कामना की जा रही थी।'

इस विचारधारा के कवियों का प्रेम अधिकतर निराशाजन्य है और उनका वियोगपक्ष आत्मगत है तथा वियोग भी उसी का है जिससे अभी मिलन नहीं हो पाया है। यह दूसरी बात है कि कभी कोई किसी के 'निस्सीम हृदय में' आ गया है। 'प्रसाद' जी ने प्रेम पथिक में अधिकतर इसे आदर्श के रूप में ही अपनाया है। किन्तु प्रेम का निराशावाद अत्यधिक मर्मस्पर्शी रूप में कविवर सुमित्रानन्दन पंत के 'ग्रन्थि' में अभिव्यंजित हुआ है—

शैवलिनि जाओ मिलो तुम सिन्धु से।
अनिल आलिङ्गन करो तुम गगन को॥
चन्द्रिके, चूमों तरङ्गों के अधर।
उडगणों गाओ पवन वीणा बजा॥
पर हृदय सब भाँति तू कंगाल है।
देख रोता है चकोर इधर सिहर॥
वह मधुप बिधकर तड़पता है, यहीं।
नियम है संसार का रो हृदय रो॥

उनकी कविता का आदि श्रोत ही विरह है उनका मत है कि—

'वियोगी होगा पहला कवि।
आह से उपजा होगा गान॥
उमड़ कर आखों में चुपचाप।
वही होगी कविता अनजान॥'

रामनरेश त्रिपाठी ने तो प्रेम को जीवित रखने के लिये विरह को अतिआवश्यक माना है। उन्होंने अपनी रचना 'मिलन' में प्रेम को जीवन का सारतत्व ही नहीं माना है बल्कि उसे स्वर्ग-अपवर्ग और ईश्वर का प्रतिरूप भी माना है—

गन्धविहीन फूल है जैसे,
चन्द्र चन्द्रिका हीन।
त्यों ही फीका है मनुष्य का,
जीवन प्रेम विहीन।
प्रेम स्वर्ग है, स्वर्ग प्रेम है,
प्रेम अशंक अशोक।
ईश्वर का प्रतिबिंब प्रेम है,
प्रेम हृदय आलोक॥

त्रिपाठी जी ने प्रेम का एक दूसरा पक्ष भी सामने रखा जो 'प्रसाद' आदि कवियों के द्वारा नहीं लाया गया था। इनमें वैवाहिक जीवन के पश्चात्

प्रेम का सूत्र पात होता है और वह विकसित होकर क्रमशः देश प्रेम से विश्व प्रेम तक पहुँचता है। यह अवस्था सूफी सन्तों ने भी दिखलाई थी परन्तु उनके अन्दर इस प्रकार का क्रमिक विकास नहीं था बल्कि उन लोगों ने लौकिक प्रेम को ही पारलौकिक प्रेम अपने कुछ निश्चित संकेतों के द्वारा बना डाला था। इस प्रकार 'द्विवेदी जी' के उत्तरार्द्ध में प्रेम-काव्यों की सृष्टि अधिक हुई किन्तु रीतिकालीन प्रेम-काव्यों और स्वच्छन्तावादी प्रेम काव्यों में महान् अन्तर है। रीतिकालीन काव्य में प्रेम परम्परागत था और नायिका भेद के नियमानुरूप ही उसका चित्रण हुआ है परन्तु स्वच्छन्दवादी प्रेम संस्कृत नाटकों और अंग्रेजी प्रेमाख्यानों में वर्णित प्रेम की भाँति शुद्ध और स्वच्छन्द है। आधुनिक काल में प्रेम को जीवन तत्व के रूप में स्वीकार किया गया। जिस प्रकार भक्तिकाल में भक्ति जीवन का तत्व माना गया उसी प्रकार आधुनिक युग में प्रेम। इस युग में मुख्यतः प्रेम के दो रूप दिखाई पड़ते हैं—एक तो 'पन्त' के 'ग्रन्थि' वाला प्रेम जो प्रथम दर्शन में ही आरम्भ हो जाता है तथा दूसरा रामनरेश त्रिपाठी के 'मिलन' और 'पथिक' वाला प्रेम जो विवाह के बाद आरम्भ होकर क्रमशः विकसित होता जाता है।

●

# नारी-भावना

अनन्तकाल से नारी काव्य का प्रमुख विषय रही है। कविता वनिता[1] मानी गयी है। इसी से नारी पर उसकी असीम प्रीति रही है। नारी काव्य-रचना का शाश्वत तत्व तो अवश्य रही किन्तु युगानुकूल उसे देखने की दृष्टि में परिवर्तन होता रहा है। प्राचीन समय में नारी नायिका के स्वरूप में ही काव्य का विषय बन पायी थी, उसके अन्य अनेक पक्ष उभड़ कर साहित्य में नहीं आ सके थे। कुछ निवृत्तिवादी कवियों ने नारी को मनुष्य को मोक्ष-साधना में एक बहुत बड़ी बाधा और उसका पतन कराने वाली की दृष्टि से अपने काव्यों में चित्रित किया है। रीतिकाल के शृंगार-प्रधान काव्यों में नारी नायिका, अभिसारिका, प्रेयसी आदि रूपों में देखी जाती रही। उनका न तो स्वतः का अस्तित्व था और न व्यक्तित्व ही। उसे समाज में पुरुषों के आधीन रहना पड़ा। उसके सामने कर्तव्यों की विशाल परम्परा ही रखी गयी और अधिकारों से उसे सदैव वञ्चित रखा गया। वह पुरुषों की आत्म-तुष्टि एवं भोग का साधन मात्र थी। पुरुष को अपने प्राणार्पण से सन्तुष्ट करना ही उसका उच्चतम कर्त्तव्य माना गया। वह पुरुष के व्यक्तित्व का पूरकतत्व ही बन पाई थी, उससे अलग उसका कोई अस्तित्व ही नहीं था।। ऐसी विषम और अन्याय पूर्ण सामाजिक अवस्था में स्त्री पर दया करना, समानता से उसके प्रति व्यवहार करना अनुचित माना जाना स्वाभा-

---

१. यद्यपि सुजाति सुलक्षणी सुबरनसरस सुवृत्त।
भूषण बिन न बिराजहीं कवितावनितामित्त ॥ (केशवदास)

विक था। आधुनिक काव्यों में नारी के प्रति दृष्टिकोण बिल्कुल बदल गया है क्योंकि उसके सामाजिक स्तर में भी महान् परिवर्तन उपस्थित हो गया है।

नारी के प्रति नर का प्रेम अथवा नर-नारी का पारस्परिक आकर्षण उतना ही प्राचीन एवं शाश्वत् है जितनी कि सृष्टि एवं स्रष्टा। इस युग के कवियों ने 'रीतिकाल' और 'द्विवेदी युग' की अपेक्षा नारी को एक नवीन दृष्टि से देखा है। उसने नारी को केवल शरीरी भोग अथवा कामिनी-रूप में या 'द्विवेदी युग' की भाँति विशुद्धतावादी और अतिनीतिवादी दृष्टि से नहीं देखा है। रीतिकाल की नारी चौवीस घण्टे चुम्बन-चाटन की वस्तु मात्र थी और द्विवेदी युग की नारी सती, सीता और सावित्री की भाँति मात्र बन्दनीया। स्वच्छन्द युग ने नारी के प्रति कदाचित् अधिक व्यावहारिक दृष्टि अपनायी है। जहाँ उसने आदर्श और कल्पना की उच्चभूमि पर नारी को परम शक्ति और पूज्य माना है, वहीं व्यवहार की जीवन-भूमि पर उसे कर्म-प्रेरिका और सुख-दुख की चिरसंगिनी के रूप में भी अपनाया है। स्वच्छन्दयुग के नारी प्रेम को तीन रूपों में विभाजित किया जा सकता है। ( १ ) प्रेयसी या प्रेमिका रूप ( २ ) मधुमयी नारी ( ३ ) पत्नी-रूप या दाम्पत्य-सम्बन्ध। प्रेयसी या प्रेमिका-रूप। नारी स्वच्छन्द और एकान्त प्रेम का विषय नहीं, मात्र प्रेम और प्रेम करने का प्रश्न होता है। निश्चय है कि इस प्रेम में बुद्धि की अपेक्षा हृदय, विचार की अपेक्षा भावुकता, यथार्थ की अपेक्षा कल्पना, सत्य की अपेक्षा स्वप्न और व्यवहारिकता की अपेक्षा ऐकान्तिकता का प्राधान्य होता है। प्रेमी अहर्निशि प्रेमिका का मनश्चित्र बनाया-मिटाया करता है। यह प्रेम धार्मिक की अपेक्षा मानसिक ही अधिक होता है। प्रेम की पीड़ा, विरह की वेदना, उपेक्षा की आग और स्वप्नमिलन के काल्पनिक चित्र कवि के भावतरङ्गों से बड़ी ममता और लगन के साथ सँवारे जाते हैं। 'पन्तजी' ने तो आवेग में 'भावी पत्नी' का चित्र भी खींच डाला। 'प्रसाद' का 'प्रेम-पथिक' और 'पन्त' की 'ग्रन्थि' का प्रेमी इसी कोटि के प्रेम पर मिटने वाला है। इस प्रेम में त्याग, बलिदान और आत्माहुति के आदर्श प्रेम के उच्चतम नारी का मधुमय रूप भी पुरुष के प्रेम का पात्र बना है। यहाँ नारी-मन को रमाने और तड़पाने का प्रमुख साधन है। यहाँ प्रेम-विलास की प्यास निष्कपट भाव से व्यक्त की जाती है। नारी का प्रेम और सहवास सिद्धान्ततः जीवन का भोग्य और भाग्य माना जाता है। रीतिकालीन प्रेम में बहुपतित्व और एकाधिक पतीत्व की बातें भी मान्य थीं, पर स्वच्छन्दतावाद के छायायुग की द्वितीय पीढ़ी का कवि प्रथम पीढ़ी की

कल्पना की रानी और स्वप्नों की साम्राज्ञी को पार्श्व वासिनी और भुज-शायनी बनाने लगा है। वह उन 'बेहोश घड़ियों की' उम्र बड़ी चाहता है। उसे यह कहने में संकोच नहीं कि—

'तुम समर्थन बन भुजाओं में हमारे सो रही हो'

( बच्चन, सतरंगिनी )

भगवतीचरण वर्मा कहते हैं—'तुम इतना ही हँसकर कह दो तुम मेरी ही दीवानी हो' 'प्रवासी के गीत' में नरेन्द्र, शर्मा प्रेयसी की उस स्थिति को याद कर खुलकर आँसू बहाते हैं जब प्रेयसी 'घन कुन्तलों से गात घेरी' पास होती थी। इस मधुवाद पर उमर खैयाम का प्रभाव तो है ही, पर उस युग के समाज में नारी-पुरुष की अप्राकृतिक दूरी भी उसके लिए उत्तरदायी है।

'बच्चन' की कविताएँ मधुमयी नारी को लक्ष्य कर लिखी होकर भी पतीत्व की परिधि में घिरी हैं। भगवती चरण वर्मा और नरेन्द्र शर्मा का प्रेम प्रेयसी को लक्ष्य कर प्रवाहित हुआ है। छायावाद की प्रथम पीढ़ी में 'प्रसाद' के आँसू' में आयी निम्नलिखित पंक्तियाँ भी इसी श्रेणी में हैं—

परिरम्भ कुम्भ की मदिरा
निःश्वास मलय के झोंके
मुख-चन्द्र-चन्द्रिका से मैं
नित उठता था मुख धोके।

पर इनमें भी प्रेयसी की अपेक्षा पतीत्व भाव की प्रमुखता है। प्रथम पीढ़ी के नारी विलास में भी एक मर्यादा और अभिजात्य की इयत्ता है। द्वितीय पीढ़ी के कवि प्रतिक्रिया में अभिजात्य और व्यञ्जना को छोड़ रहस्यवाद और अभिधा पर उतर चुके थे। इसमें भी नारी के प्रति शारीरिक भोग का अतिरेक होने लगा जैसे प्रथम पीढ़ी में मानसिकता का।

'स्वच्छन्द-युग' की तृतीय पीढ़ी से सन्तुलन का भाव आने लगता है। शम्भूनाथ सिंह, जानकीवल्लभ शास्त्री, हंसकुमार तिवारी, भारती और प्रो० क्षेम की कविताएँ उदाहरण स्वरूप ली जा सकती हैं। शम्भूनाथ सिंह ने नारी सबन्ध की व्यंजना में 'पन्त' और 'बच्चन' के बीच का पथ अपनाया। पन्त में कल्पना और मानसिकता का अतिरेक था तो बच्चन में यथार्थ और मांसलता का दूसरा छोर। शंभूनाथ सिंह ने नर-नारी के यौन सम्बन्ध को कल्पना, भावना और इन्द्रियता के साथ आदर्श की रंजना दी। 'प्राण तुम

दूर भी प्राण तुम पास भी। 'मन के खुले के खुले ही रहे द्वार' अथवा मेरी अमिट भूख, मेरी, अपार प्यास' जैसे गीत आदर्श और यथार्थ के सुनहले तार से सम्बद्ध हैं। जानकी बल्लभ शास्त्री ने 'बच्चन' की वासनामयी नारी को अपने शास्त्रीय संस्कारों एवं मार्जित कल्पनाओं से सँवार कर संयम की शालीनता दी—

**'तुम मिलीं जैसे तने से टहनियाँ।**
**पल्लव नवल सुकुमार**
**मुकुल उभार**
**सौरभ-सार से लचतीं, लजीली टहनियाँ।**

**( 'अवन्तिका' पृ० ३६ )**

हंसकुमार के नारी-प्रेम में प्रेयसी-तत्व ही अधिक उभरा है—प्रेयसि आरसी चली गयी, प्रिय कूल-सा छूट गया है।' 'भारती' की नारी-परक रचनाओं में भी 'बच्चन' की नग्नता और 'पन्त' सी सम्पर्क की दूरी तो नहीं है पर उसमें भी प्रेमी का रूप ही प्रमुख है, जो छुई-मुई सी लजीली और 'अभी सुकोमल-बहुत सुकोमल है। उस पर कवि जीवन-सगिनी का बोझा लादना सहन नहीं कर सकता। पास रखकर भी कवि उसे भावना और प्रकृति की भूमिका पर दुलराना ही अधिक पसन्द करता है, भारती का रोमांस निश्छल पर अकर्मठ है। उसमें यदि वासना का पंक नहीं, तो जीवन की ऊष्मा भी नहीं। 'कच्ची किरनों' का प्रेमी कवि जीवन रश्मियों की सतेजता से दूर भोली आँखमिचौनी में ही प्रसन्न है। प्रेम और प्रणय के गीतों के लिए प्रो० क्षेम का स्थान स्वच्छन्दतावाद की तृतीय पीढ़ी में अनुपेक्षणीय है। शम्भूनाथ सिंह के कुछ बाद और भारती के कुछ पहले ही उनके स्फुट प्रेम-गीत कवि-सम्मेलनों और पत्र-पत्रिकाओं में बहुतायत से आते रहे हैं। सन् १९४३ तक 'संसार' और 'आज' में उनके 'क्या यही प्रेम की परिभाषा'— जैसे गीत आने लगे थे। सन् १९४५ से प्रयाग के 'अभ्युदय' और 'देशदूत' ( साप्ताहिक, इंडियन प्रेस ) में उनके गीत बहुतायत से आने लगे। 'कौन तुम राका परी-सी' जैसे गीत देशदूत में सम्मान के साथ निकलने लगे थे। उनकी कविता का प्रथम प्रकाशित संकलन 'जीवनतरी' के रूप में बहुत बाद को संवत् २००९ वि० में प्रकाशित हुआ। इसमें 'देश-दूत काल की बहुत सी रचनाएँ संग्रहीत हैं। प्रो० क्षेम के प्रेम गीतों को दो श्रेणी में बाँट सकते हैं ( १ ) प्रेयसी-परक ( २ ) दाम्पत्य-प्रेम। प्रारम्भिक गीत प्रेयसी के प्रति

लिखे गये हैं। 'जीवनतरी' की भूमिका में कवि ने स्पष्ट रूप से अपने प्रेम को मानवीय घोषित किया है। ये गीत प्रत्यक्षत: नारी के प्रति लिखे गये हैं। 'प्रेयसी-परक गीतों में दूरी की पीड़ा, विरह की वेदना, निराशा का अवसाद पर विश्वास का प्रकाश भी है। ये गीत भावना-प्रधान हैं। 'क्षेम' जी के गीतों का विकास समझने के लिये उनकी दूसरी प्रकाशित काव्य-पुस्तक- 'नीलम ज्योति और संघर्ष' को भी सामने रखना पड़ेगा। 'जीवन-तरी' का स्थान काल-क्रम से, 'नीलम-तरी की रचनाओं के बाद है 'नीलम-तरी' और 'ज्योत-तरी' के प्रेम गीत वेदना-प्रधान और वियोग-मय हैं। 'मैं गान गा रहा हूँ,' 'तुम भूल भी न आओ,' 'वेदना के प्यार का विश्वास, यदि तुम जान पाते,' 'न आया सबेरा जलो दीप मेरे' ( नीलम-तरी ) 'तुम न आयीं, प्रिय, सूख चली जीवन-बाती।' और 'तुम्हारी याद के दो छन' (ज्योतितरी) जैसे गीतों में जहाँ असफलता और अभाव की तड़प है[१] वहीं उनसे प्राप्तव्य के प्रति अटूट विश्वास और आस्था की अडिगता भी वर्तमान है। इन गीतों का प्रेमी प्यार करता है—रोता है, पर विश्वास नहीं खोता—

रामनरेश त्रिपाठी ने जो विवाह के पश्चात् प्रेम का क्रमिक विकास दिखलाया था वहाँ वैवाहिक प्रेम तो नहीं मिलता, किन्तु ऐसा भी प्रेम पात्र नहीं है जिसका कि कभी दर्शन ही नहीं हुआ अथवा प्रथम झलक भर ही मिलकर रह गयी है। कवि का जो उससे कभी मिलन हो गया था उसका आभार मानते हुये वह पुन: मिलन का विश्वास रखता है। इससे वह अपने व्याकुल प्राण को बौद्धिकता के सहारे समझाता भी है।

**'ओ प्राण अभागे, रोता क्यों?**

**झरना यदि फूलों का सच है, खिलना क्यों उनका सत्य नहीं!**
**बिछुड़न यदि जीवन का सच है, मिलना क्यों जीवन सत्य नहीं?**
**यह मन अविराम बहा करता चिर सुख-दुख के युग-कूलों से,**
**मिलने का सुख-आभार भुला, आँसू का हार पिरोता क्यों?**
**ओ प्राण अभागे, रोता क्यों?** ( क्षेम, जीवनतरी )

इसके अतिरिक्त कवि इतना तो बता ही देना चाहता है कि जिस प्रेम की वह याचना कर रहा है वह मानवीय प्रेम है और वह स्वयं लौकिकता की भूमि पर खड़ा है। न तो उसने अपने ऊपर रहस्य का कोई आवरण डाला है और न तो रहस्य की भाषा में बात करना ही वह पसन्द करता है। उसे और कुछ नहीं चाहिये यदि उसे प्रेम का सम्बल मिलता रहे तो वह

जीवन की सभी कठिनाइयों पर विजय पाने का साहस रखता है। वह नि:संकोच स्वच्छन्द होकर स्पष्ट शब्दों में निवेदन करता है—

मुझे अपनी निगाहों से गिराओ मत !
न मैं हूँ देवता सच है, न मुझसे स्वर्ग का सम्भ्रम !
मनुज हूँ साधना वल है, न शूलों का मुझे कुछ गम !
सफल हैं सत्य होते आ रहे जिन स्वप्न फूलों के—
मुझे उन स्वप्न बाहों से गिराओ मत !

( क्षेम 'जीवन ज्योति और संघर्ष' )

प्रेम जीवन की सबसे व्यापक वृत्ति है, यही कारण है, कि अनादिकाल से ही यह काव्य का प्रमुख विषय रहा है। इसको सबसे अधिक प्रधानता रीतिकालीन कवियों ने दिया और उससे भी अधिक प्रमुखता उसे आकर स्वच्छन्दवादी कवियों ने दिया। स्वच्छन्दवादी कवियों की प्रणयानुभूति में अन्य युगों की प्रणयानुभूति से अधिक स्वाभाविकता है जैसा कि हमने ऊपर के उदाहरणों से जान लिया है। स्वच्छन्दतावादी कवि अपनी कविताओं में स्वयं प्रेमी के रूप में प्रकट होता है, वह स्वयं प्रेम करता है जिससे उसकी अनुभूति में औरों की अपेक्षा अधिक सचाई है। रीतिकालीन कवियों की भाँति दूसरों की प्रेमलीलाओं को चित्रित कर देने वाले कवि में कभी भी वह सचाई नहीं आ सकती क्योंकि वह स्वयं प्रेम नहीं करता और यदि करता भी है तो कहने का साहस भी नहीं रखता। 'घनानन्द' जी ऐसे एकाध विरले भले ही मिल जायँ जो अन्तिम श्वाँस तक यह कहते चले जायँ कि—

बहुत दिनान के अवधि - आस-पासपरे ,
खरे अरबरनि भरे हैं उठि जान कौ।
कहि कहि आवन सँदेसो मन भावन को ,
गहि गहि राखत हैं दै दै सनमान कौ।
झूठी बतियानि की पत्यानि तें उदासह्वै कै ,
अब न घिरत घन आनन्द निदान कौ।
'अधर लगे हैं आन करके पयान प्रान ,
चाहत चलन ये संदेसो लै सुजान कौ ॥

इस युग में प्रेम की इतनी प्रधानता रही कि स्वतन्त्र रूप से प्रेम के ऊपर ही अनेक कवितायें रच डाली गयीं। इन काव्यों में पति-पत्नी का प्रेम उतना नहीं मिलता जितना कि प्रेमी और प्रेमिका का क्योंकि आधुनिक नारी परिणीता से अधिक प्रेयसी बन गयी है। प्रेम एकांगी नहीं रह गया है बल्कि उसका दोनों पक्षों से आदान-प्रदान होता है, जिसके भीतर आज का सभ्यवर्तमान समाज झाँकता हुआ दिखाई पड़ रहा है।

'सुधा-सिन्धु पा रश्मि के एक कण में।
उड़ी भावना साधना के गगन में॥
तभी से प्रिये, प्राण पर रूप की।
आरती सी लहराती चली आ रही है॥'

( नीलम ज्योति और संघर्ष, पृ० १५ )

प्रेम में विभोर कवि सम्पूर्ण परम्परा को अपनी समक्ष कर एक क्षण का युगराग बन जाता है—

हूँ युगों की राग शाश्वत, अब न हूँ मैं क्षण अकेला,।
किसी का निःश्वास लहरों से मुखर मधु-राग 'बेला'॥
जुड़ गया है आज मुझसे विश्व-झंकृत तार कोई'।

( वही पृ० १६ )

'क्षेम' जी का यह विरह अमानवीय नहीं, मानवीय है। वह धरती से ही उग कर सुसंस्कारों और आदर्शों के आकाश की ओर निरन्त बढ़ता-लहराता रहा है। उसमें भोग की प्यास और शरीर का प्रेम भी है, पर वह वहीं सीमित नहीं है। वे इसे सच्चे प्रेम-पथ के शीतल कुञ्ज और विश्राम-छाया मानते हैं।

'हमारे तिमिर की रहो दीपिका तुम,
तुम्हारे तिमिर का सहारा रहूँ मैं।'

( जीवनतरी पृ० ४४ )

जहाँ कवि गाता है—

'रूप के स्वर्ण आलोक छाया तले।
आज मेरे हृदय के रुदन सो गये॥'

( जीवनतरी पृ० ३१ )

वहाँ उसे ऐसा विस्तार भी प्रिय है—

'तुम पुकारो हर पलक के प्यास से।
मैं बहूँ हर नयन की जलधार से॥

(वही, पृ० २)

कवि एकपक्षीय विरह में तड़पा ही नहीं, अपर पक्ष को प्रबोधन भी देता है—

'क्षण भर हँसकर तम में बुझते तारों का भी व्यक्तित्व प्रिये
बनते-बनते मिटनेवाले सपनों का भी अस्तित्व प्रिये !!
याचना यही है जीवन की कुछ पूरी हो कुछ शेष रहे
हर एक प्यार का हासों से कब हो पाता है अनुरंजन !
जाने दो प्रेयसि जाने दो !!

(वही, पृ० ४)

विपत्तियों में भी हँसते चलने का उद्बोधन 'जीवनतरी' के प्रथम गीत का प्राण है—'मनुज हूँ प्रिये, नाशकी उर्मियों से अमर सर्जना की तरी मैं बहाऊँ।' मिलन और रूप के ऐसे भाव-सजल, कल्पना-प्रेरक और मार्जित गीत इस पीढ़ी में बहुत कम लिखे गये। कहीं-कहीं ऐसा लगता है जैसे छाया का अतिरेक प्रवण प्रवाह कुछ क्षणों को एक सन्तुलन पर थरथरा उठा हो। अपनापन और मार्जित भावों की तन्मयता के साथ स्थितियों के मर्म भरे कान्त चित्र सरसता और मर्यादा के संगम हैं। इन गीतों की दूसरी प्रमुख विशेषता है, विचारों का भावीकरण और भावों का विचारीकरण। भावों के साथ विचारों का संगुम्फन जहाँ अधिक सप्रयत्न नहीं है, एक विचित्र तेज पैदा करता है। मर्यादा की रक्षा में कार्य सदैव सचेष्ट है। सुहाग-रात पर लिखे गये गीत की अन्तिम पंक्ति प्रमाण है। वह अश्लीलता की स्याही से चित्र-पट पर किस प्रकार निष्कलंक निकल गया है :

'अलस सो रही पाशों में रस की रिमझिम बरसात।
अनंगिनि, आज मिलन की रात॥

'बीत चली लो रात', 'आज मिलन की रात', 'तुम जानो कि मैं जानूँ' जैसे 'जीवनतरी' के और 'आकाश चाँदनी बरस रहा', 'बरसो सुषमा के घन

बरसो' आदि 'ज्योतितरी' के गीत इस कल्पना और कला से अत्यन्त सम्पन्न हैं। 'क्षेम' जी के गीतों का दूसरा प्रेमरूप दाम्पत्य प्रेम है। ये गीत मिलन-प्रधान और रूप, भोग तथा प्रणय से अत्यन्त सम्पन्न हैं। इनमें परिवारिक जीवन को सुखद बनने की शक्ति और हृदय को बल देने की क्षमता है। ये गीत रूप-प्रेम, आस्वाद एवं भोग से जहाँ ओत-प्रोत हैं, वहीं रूपातीत दृढ़ता, आस्वादातीत त्याग और भोगातीत औदार्य से समृद्ध भी। सच्ची बात तो यह है कि रूप, भोग और प्रेम जहाँ स्वयं अपने लक्ष्य न होकर जीवन के साधन और आत्म-विस्तार के द्वार बनते हैं, वहाँ ये 'विष' से 'भस्म' बन जाते। स्वस्थ भाव तो वह है जहाँ इनसे मानवता का विकास और व्यक्तित्व का विस्तार हो। यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि कल्पना और यथार्थ, विचार और भाव, भोग और त्याग तथा स्वप्न और सत्य का जो सन्तुलन हमें इन गीतों में प्राप्त होता है, वह इस पीढ़ी के अन्य कवियों में अत्यन्त विरल है। शम्भुनाथ सिंह के रूप-प्रेम-गीत ऐन्द्रियता-प्रधान और तृष्णामय हैं। शास्त्री जी के प्रेम-गीत कला और आदर्श से एकांगी हैं। हंस-कुमार जी के गीतों में भाव-सघनता तो है, पर प्रवाह कम है। उन पर 'रवीन्द्र' का प्रभाव गाढ़ा है। 'भारती' के प्रेम-रूप के गीत स्वप्न और कल्पनामय हैं। 'क्षेम जी' के गीतों में घरेलूपन और हार्दिकता के साथ-साथ उन्नयन की आकांक्षा सदाशयता और उदात्तता का व्यवहारिक संस्पर्श भी विद्यमान है। इनमें न बच्चन सी मांसलता है और न भारती सी काल्पनिकता, न शम्भुनाथ सिंह सा ऐन्द्रियतातिरेक और न शास्त्री जी और हंसकुमार तिवारी जी सा शास्त्रीय घटाटोप! वे परिचित और जीवन-सहज भाव सुसंस्कारों और सदादर्शों की भूमि पर हृदय को छूनेवाले तो हैं ही, विचारों को सतेज करने-वाले भी हैं। धरती और आकाश की भाँति प्रिय-प्रिया मिलन कितना व्यंज-नामय है—

> 'प्रिये, इस धरा-सी हमारी रहो तुम,
> प्रिये उस गगन-सा तुम्हारा रहूँ मै।
> घिरेगी दुखों की घनी रात काली।

( जीवनतरी )

इन कवियों के अतिरिक्त अन्य कवियों के अन्दर हमें वैयक्तिक प्रेम-व्यापारों के आधार पर लिखी अनेक ऐसी कविताएँ मिलेंगी जिनमें उन्होंने अपने प्रेमाभावों की मार्मिक अभिव्यक्ति की है। इस खेवे तक आते-आते हम देखते हैं कि प्रेमाख्यानक लघु काव्यों की परम्परा भी प्राय: समाप्त हो चली और उनका स्थान गीतों अथवा प्रगीतों ने ले लिया। गीतों और प्रगीतों के माध्यम से जिस प्रकार प्रेम की अभिव्यक्ति हो रही है उससे प्रेमानुभूतियों को व्यक्त करने की क्षमता इसने सिद्ध कर दी।

कवि-सम्मेलनों के बढ़ते हुए प्रचार तथा जीवन की अत्यधिक व्यस्तता ने काव्यरूपों को प्रबन्ध तथा लघु काव्यों से हटाकर प्रगीत-मुक्तकों तक पहुँचा दिया है। परिस्थितियों की माँग तथा गेय तत्वों के प्रति बढ़ती हुई लोगों की रुचि ने हिन्दी-साहित्य को प्रेम गीतों के द्वारा धनी बनाया है। इस खेवे के कवियों ने अपनी रचनाओं द्वारा यह स्पष्ट कर दिया है कि एक सुन्दर साहित्य की सृष्टि के लिए लौकिक प्रेम की अभिव्यक्ति से बढ़कर दूसरा कोई अन्य शाश्वत मानवीय तत्त्व नहीं है जो कभी न तो जूठा होता है और न इसका गान कभी बासी। कबीर से लेकर महादेवी तथा आज के कवियों तक का यह प्रिय विषय रहा है किन्तु इसमें नित्य नवीनता आती ही रही। आधुनिकतम प्रेम-गीतों की जो सबसे बड़ी विशेषता है वह यह कि इसका गायक न तो अपने को धोखा देता है और न सहृदय पाठक को ही। यदि वह किसी सुन्दरी के फीरोजी होंठों को देखकर आकर्षित हो जाता है और अपनी आकुलता को सँभाल नहीं पाता तो उसे जरा भी कहने में हिचक नहीं रह गयी है—

'किसी के फिरोजी होंठों पर
बरबाद मेरी जिन्दगी है!' (धर्मवीर भारती)

यदि वह किसी सौन्दर्य से अपने को अभिभूत हुआ पाता है तो उसे उसकी महत्ता स्वीकार करने में किसी प्रकार का संकोच नहीं है—

किसी के रूप के बादल
हमें सोने न देते हैं,
हमें रोने न देते हैं।
कभी पल एक भी अपना
हमें होने न देते हैं।
गरजते आज यौवन में
किसी के रूप के बादल। (शम्भुनाथ सिंह)

इतना ही नहीं बल्कि अतृप्त प्रेम की वेदना से वह इतना परिचित हो गया है कि वह दूसरों को उस स्थिति में देखना भी नहीं चाहता। वह समानधर्मा होने के नाते अन्य प्रेमियों को सजग भी करता जान पड़ता है, जिससे सहसा कह उठता है, 'टेर रही प्रिय तुम कहाँ' ( शम्भुनाथ सिंह ) उसका यह तुम 'सब' के लिये भी हो सकता है पर इस प्रकार के गीतों द्वारा एक उदात्त प्रेम का जो स्वरूप उपस्थित किया गया वह आरम्भ में कम ही दिखाई पड़ता है। इस खेवे के कवियों में प्रेम-पात्र के प्रति इतना सहज विश्वास है कि यह जानते हुए भी कि भविष्य में मिलना कठिन ही है। वे अभाव में आँसू बहाकर अमंगल की सूचना नहीं देना चाहते। किन्तु हँसते इसलिए नहीं कि उन्हें विरह दुःखद नहीं है बल्कि उसकी सीमा तो इतनी बढ़ गई है कि सुख और दुख अलग रह ही नहीं गए हैं। हँसी तो ऐसी ही है जैसा कि एक शायर ने कहा है :

'यह दर्द ही है कि हँस रहा हूँ
वरना आँखों में न कम हैं आँसू।'

परन्तु आज का कवि उससे भी दो कदम आगे है। यदि कोई परिस्थिति आई ही नहीं तो उससे छुटकारा पाना कठिन नहीं हैं किन्तु आई हुई परिस्थिति को बदल देना तो शौर्य और साहस का ही काम है। विलासजन्य कापुरुषता तथा दीनता उससे कोसों दूर है। उसकी आखों में वैसे आँसू आते ही कम हैं, यदि कहीं दो बूँद आए तो उन्हें पीने का वह साहस भी रखता है—

'दूर सपनों का बसेरा था मुझे
ज्ञात कुछ भी जब न मेरा था मुझे।
मुस्करा दे जो निराशा के क्षितिज पर
दूर आशा का सवेरा था मुझे।
मिल गये मरु में मुझे दो बूँद आँसू
पी रहा हूँ यह किसी का प्यार है।

( क्षेम, जीवनतरी )

●

# प्रकृति-चित्रण

प्रेम जीवन की प्रमुख वृत्ति है। चाहे 'प्लेटो' के आदर्शवादी दृष्टिकोण से देखा जाय, चाहे 'फ्रायड' की मनोवैज्ञानिक दृष्टि से या 'मार्क्स' की पदार्थवादी दृष्टि से, प्रेम की उपयोगिता जीवन में अनिवारणीय है। भारतीय मनीषा ने तो इसलिए इसको आध्यात्मिक उपासना का माध्यम मानकर एक जन्म नहीं, जन्म-जन्मातर में इसकी अमरता की घोषणा की। यदि इसका स्थूलतम रूप सृष्टि परम्परा की अक्षुण्णता का मूल है, तो इसका सूक्ष्मतम रूप जीवनमुक्त का परमोच्च साधन। इसलिए अनादिकाल से कलाकारों की कूँची और लेखनी ने इसे प्राणों के रस से सींचा, हृदय के फूलों से पूजा और अन्तर की लौ से जगमगाया है।

यही प्रेम जीवन के नाना सम्बन्धों में, न केवल चेतन-चेतन के बीच वरन् चेतन और जड़ के बीच भी फैलकर जीवन की वाटिका को हरा-भरा किए हुए है। आधुनिक युगीन काव्य में भी यह प्रेम भावना अनेक रूपों में देखी जा सकती है। प्रकृति-प्रेम, नारी-प्रेम और दिव्य अथवा रहस्यवादी प्रेम इसकी प्रमुख कोटियाँ कही जा सकती हैं।

प्रकृति प्रेम का रूप 'स्वच्छन्द-युग' की कविताओं में विशिष्ट महत्व रखता है। लगभग सभी कवियों के काव्य में किसी न किसी रूप में प्रकृति-सुषमा के प्रति प्रेम अथवा प्रकृति रूपों से आकर्षण उभरा हुआ दिखलाई पड़ता है। किसी न किसी रूप में प्रकृति इस युग में इतनी प्रमुख हो उठी है जिससे बहुत से विज्ञ आलोचकों का यह विश्वास हो गया कि प्रकृति-प्रेम ही

स्वच्छन्द-युगीन काव्य का मुख्य विभेदक लक्षण है और प्रकृति के विभिन्न रूपों में एक चेतन सत्ता की अनुभूति या व्यष्टि आत्मा का दर्शन छायावाद का दर्शन है।

प्रकृति चेतना के पूर्व ही विद्यमान थी या बाद में आयी; इस विवाद में न पड़कर हम इतने सत्य को न निर्भ्रान्त रूप से स्वीकार ही सकते हैं कि मानव प्रकृति के क्रोड़ में ही आँखें खोलता और जीवन भर किसी न किसी प्रकार प्रकृति से सम्बद्ध रहकर अन्त में प्रकृति में ही पंचत्व प्राप्त करता है। भारत की अद्वैतवादी मनीषा ने प्रकृति को भले ही माया या मिथ्याभास माना हो, पर बाद को अद्वैतवादियों के सम्प्रदायों ने प्रकृति को भी परम सत्ता में अन्तर्भूत माना और प्रकृति में भी भगवद्व्याप्ति की विज्ञप्ति की। प्रकृति में चेतना का दर्शन करना भारत के लिए तो नया नहीं है।

प्रकृति का इतिहास मानवता के इतिहास से भी प्राचीन है। सृष्टि के बीच सर्वप्रथम जब मानवता की आँखें खुलीं अथवा मानव ने जब अस्तित्व ग्रहण किया तब सर्वप्रथम उसने अपने सामने प्रकृति की रमणीयता देखी तथा उसने अपने को उससे घिरा पाया। उसने प्रकृति के सहारे ही जीना सीखा तथा उससे सन्देश प्राप्त करके ही वह उद्बुद्ध हो पाया। संसार और मानव जीवन में प्रकृति का स्थान अत्यन्त महत्व का है। प्रकृति का वर्णन कविता में पुरातन-सनातन वस्तु है। व्यक्ति अपने जीवन में प्रकृति की परिधि द्वारा घिरा रहने के कारण उससे अलग रहकर सोच ही नहीं सकता। उसके विचारों तथा उद्गारों पर प्रकृति का प्रभाव वांछनीय है। जिस काल और युग में मानव का ज्ञान जिस अवस्था में था उसने उसी रूप में प्रकृति को अपनाया है तथा उसी रूप में प्रकृति काव्यों में अवतरित हो पाई है। सदैव से ही वह मानव-क्रियाकलापों की क्रीड़ास्थली रही है। प्रकृति के साहचर्य में ही मानव चरित्र विकसित होता रहा है। प्रकृति की रचनात्मक शक्ति सुख में हृदय को आह्लादित करती और दुख में उसकी शान्ति-दायिनी गोद हृदय को सान्त्वना प्रदान करती है। इस प्रकार मानव और प्रकृति का घनिष्ठ सम्बन्ध है और इसीलिये काव्य में प्रकृति का प्रमुख स्थान है। व्यापक-रूप से काव्य में चार प्रकार से प्रकृति का वर्णन मिलता है। प्रथम प्रकार को स्वतन्त्र प्रकृति-वर्णन कह सकते हैं। जब प्रकृति का वर्णन या चित्रण कवि का साध्य और लक्ष्य होता है अथवा शास्त्रीय भाषा में कहें तो वह कवि के भाव का आलम्बन होता है तो उसे प्रकृति का स्वतन्त्र वर्णन कहेंगे। दूसरा प्रकार वह है जब प्रकृति का वर्णन या चित्रण

कवि का साध्य और लक्ष्य न होकर साधन और लक्ष्य ( लक्षण ) हो जाता है, शास्त्रीय भाषा में जिसे उद्दीपन कहेंगे। ऐसी स्थिति में कवि प्रकृति का वर्णन नायक-नायिका के मनोवेगों से रंजित करके करता है। यहाँ प्रकृति नायक-नायिका के मन के अनुकूल उनके सुख में सुखी और दुःख में दुःखी दिखलाई देती है। तीसरे प्रकार में प्रकृति का उपयोग मनुष्यों के कार्यों या मनोवेगों की क्रीड़ास्थली के रूप में किया जाता है। काव्यों में प्रकृति का अन्तिम रूप अलंकारों अथवा उदाहरण के रूप में होता है। इनके अतिरिक्त प्रकृति का वर्णन कवि की मनोवृत्तियों, भावनाओं या विचारों पर बहुत कुछ निर्भर रहता है। इस प्रकार प्रकृति के विभिन्न रूप कवि के स्वभाव के आश्रित रहते हैं।

प्रकृति का आलम्बन रूप में चित्रण संस्कृत और हिन्दी के महाकाव्यों की प्रमुख विशेषता रही है। प्रकृति के जिस स्वतन्त्र चित्रण के लिए हम वर्ड्स्वर्थ जैसे अंग्रेज कवियों की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हैं तथा छायावादी युग को नया पथ-प्रदर्शक मानते हैं, वे सभी वर्णन अथवा चित्रण प्रभूत मात्रा में संस्कृत ग्रन्थों में उपलब्ध हैं। महाकवि कालिदास अपने प्रकृति-प्रेम के लिये प्रसिद्ध हैं। प्रकृति के कोमल रूपों का जितना सुन्दर चित्रांकन इनके काव्यों में मिलता है उतना अन्यत्र दुर्लभ है। प्रातःकालीन ओस-बिन्दुओं का एक चित्र देखिए—

> ताम्रोदरेषु पतितं तरुपल्लवेषु
> विद्योतहेर गुलिका विशदं हिमाम्भः।
> आमातिलब्ध परभागतयाधरोष्ठे
> लीलास्मितं सदशनार्चिरिव त्वदीयम् ॥

भवभूति प्रकृति के उग्र रूप का प्रेमी था, किन्तु कालिदास को प्रकृति का उग्र रूप प्रिय नहीं था। ये प्रायः रम्य तथा शान्त तपोवन, नदी तट, उपवन, भ्रमर, कोकिल तथा सन्ध्या और प्रभात आदि का ही वर्णन करते पाए जाते हैं। महाकवि की 'शकुन्तला' तो मानो साक्षात् प्रकृति की कन्या है। आश्रम वृक्षों की मनोयोगपूर्वक सेवा करनेवाली शकुन्तला प्रत्येक वृक्ष को अनुरागपूर्वक सींचती है। वह बिना उन्हें जल पिलाए स्वयं जल ग्रहण नहीं करती। आभूषण प्रेम होने पर भी उनके पुष्प नहीं तोड़ती। इसके अतिरिक्त 'कुमार सम्भव तो प्रकृति नटी के ललित लास्य की रमणीय रंग-शाला है। प्रथम सर्ग का हिमालय वर्णन विश्वसाहित्य में बेजोड़ है।

'शकुन्तला' की भाँति 'पार्वती' भी प्रकृति की देवी जान पड़ती हैं। 'मेघदूत' की सजल कल्पना में हमें कालिदास के प्रकृति के उद्दीपन-स्वरूप का चित्रण मिलता है। 'मेघ' के साथ महाकवि की जो वायवी कल्पना है वह आधुनिक युग में मानवीकरण को चुनौती देने के लिए पर्याप्त है। कवि केवल 'घन घमण्ड नभ गर्जत घोरा' कहकर ही नहीं सन्तुष्ट रह जाता वरन् हिन्दी के रीतिकालीन स्वच्छन्द कवि 'घनानन्द' की भाँति—

**'कबहूँ वा बिसासी सुजान के आँगन**
**मों अँसुवान को लै बरसौ।'**

वह बादलों द्वारा विरही यक्ष का सन्देश अलकापुरी में स्थित यक्षिणी के पास भेजता है। मेघदूत के बादलों में कवि ने मानवात्मा का तादात्म्य कराया है। उसने बादलों को चेतनता की विशाल भूमि पर अंकित किया है। कालिदास ने प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों ही रूपों में प्रकृति का चित्रण किया है। प्रकृति का इतना सुन्दर तथा सर्वव्यापी चित्रण हमें हिन्दी के किसी भी आरम्भिक महाकवि में नहीं मिलता, चाहे वे युगनायक कवि सम्राट तुलसी हों अथवा महाकवि 'सूर'। रीतिकालीन हिन्दी कवियों ने तो प्रकृति को उसी प्रकार बन्दी कर लिया जैसा कि महिमामयी 'नारी' को। इस युग के कवियों में प्रकृति का आलम्बन रूप प्रायः लुप्त हो गया और उसके उद्दीपन रूप की ही काव्यों में प्रमुखता हो उठी। आरम्भ से ही हिन्दी-कवियों की प्रवृत्ति प्रकृति के स्वतन्त्र चित्रण की ओर नहीं थी। जहाँ कहीं भी उन लोगों ने प्रकृति को अपनी रचना में स्थान दिया है वहाँ केवल वर्ण्य-विषय को सजाने तथा रंजकता लाने के लिये। इन लोगों का प्रेम सौंदर्य से रहा है न कि प्रकृति से। इन लोगों ने केवल सुन्दरता में रमणीयता देखी है, सर्वत्र नहीं। प्रकृति जब तक कवि के लिये साध्य नहीं हो जाती तब तक वह स्वतन्त्र रूप से उसके सौंदर्य की परख नहीं कर पाता। जब वह प्राकृतिक सौन्दर्य का स्वतन्त्र दर्शन करता है तभी उसे उसकी पृथक् सत्ता का भान होता है और वह उसके निरलंकृत चित्र उपस्थित करने में समर्थ हो पाता है। ऐसी स्थिति में वह अपनी मनःस्थिति के अनुसार ही उसे स्वरूप प्रदान करता है। उसकी मनोवृत्ति ही वैयक्तिक कल्पना, भावना और अनुभूति के बल पर प्रकृति को अनुरंजकत्व और भावकत्व तथा मानवत्व प्रदान करती है। हिन्दी साहित्य की स्वच्छन्दतावादी विचार धारा ने जिस प्रकार साहित्य की अनेक रूढ़ियों पर प्रहार किया उसी प्रकार उसने प्रकृति को भी शास्त्रीय श्रृंखलाओं से मुक्त किया। इतना तो स्वीकार

करना ही पड़ेगा कि आधुनिक युग में प्रकृति-प्रेम हमें वर्डस्वर्थ जैसे अंग्रेज कवियों से मिला और पं० श्रीधर पाठक की स्वतन्त्र प्रकृति पर लिखी हुई कविताएँ इसका ज्वलन्त प्रमाण हैं।

प्रकृति को देखने की दृष्टि में जो महान् परिवर्तन स्वच्छन्दतावादी दृष्टि-कोण ने उपस्थित किया, उसके द्वारा ही हम यह जान सके कि प्रकृति का काव्य के लिये अपना अलग अस्तित्व है तथा वह स्वतन्त्र रूप से भी काव्य की विषय-वस्तु बन सकती है। हमने जाना कि 'प्रकृति अपने रूप व्यापार से कवि-मानस का अनुरंजन करती है। अनुरंजन से हमारा आशय कवि-मानस पर होने वाली विविध भाव-सृष्टि से है। प्रकृति के सौम्य और मृदुल, शान्त और मधुर, भीम और भयंकर, उग्र और प्रखर रूपों के अनुसार कवि के मनोभाव जाग्रत होते हैं। यह ठीक है कि उसकी पुतली देखती है पर उसका रूप-चित्र कवि के मानस पर होने वाली सौम्य या उग्र, मधुर या कटु संवेदना के ही अनुरूप होगा।'[१] प्रकृति का केवल यही कार्य नहीं है कि वह अपने रूप-व्यापार से कवि का मानस-रञ्जन मात्र ही कर दे बल्कि वह अपने व्यक्तित्व की चेतना से उसे अभिभूत करती हुई भावना-लोक का निर्माण भी करती है तथा उसके हृदय पर प्रभाव भी डालती है। यही कारण है कि आज का कवि प्रकृति को सजीव, सप्राण रूप में देखने लग गया है और उसमें मानवी व्यक्तित्व का आरोप भी करने लग गया है। तारों भरी निशा का जो चित्र 'प्रसाद' जी ने कामायनी के 'आशा' सर्ग में खींचा है, वह निश्चित ही एक अल्हड़, अज्ञात-यौवना नारी का चित्र है:

पगली हाँ सम्हाल ले कैसे
छूट पड़ा तेरा अंचल,
देख, बिखरती है मणिराजी
अरी उठा बेसुध चंचल।
फटा हुआ था नील वसन क्या
ओ यौवन की मतवाली!
देख अकिञ्चन जगत लूटता
तेरी छवि भोली-भाली।

१. हिन्दी कविता में युगान्तर (पृ० २९३)

इस प्रकार से हम देखते हैं कि प्रकृति काव्य में उद्दीपन मात्र ही न रहकर ( १ ) चेतनी-करण तथा ( २ ) मानवीकरण की वस्तु भी हो गई है। प्रकृति को आलम्बन रूप में चित्रित करनेवाले कवियों में पं० श्रीधर-पाठक तथा रामनरेश त्रिपाठी प्रमुख हैं । त्रिपाठी जी ने अपनी 'पथिक' नामक रचना में प्रकृति को मानवी आलम्बन का बड़ा ही रम्य रूप दिया है—

'प्रतिक्षण नूतन वेष बनाकर रंग बिरंग निराला।
रवि के सम्मुख थिरक रही है नभ में वारिद माला ॥
नीचे नील समुद्र मनोहर ऊपर नील गगन है।
घन पर बैठ बीच में विचरूँ यही चाहता मन है ॥

हिन्दी कविता में स्वच्छन्दतावादी विचारधारा का जो एक रूप छायावादी काव्यधारा के नाम से अभिहित किया जाता है, उसकी अभिव्यक्ति के लिये तो प्रकृति ने पग-पग पर सहायता की है। छायावाद से यदि प्रकृति को अलग कर लिया जाय तो वह पङ्गु हो जाय। आधुनिक युग में अंग्रेजी शिक्षा के माध्यम से यहाँ के कवियों पर प्रकृति के स्वतन्त्र चित्रण का प्रभाव तो पड़ा ही, साथ ही वैदिक तथा संस्कृत साहित्य के अध्ययन से भी उस ओर कवियों का ध्यान आकर्षित हुआ और उसकी प्रतिक्रिया स्वरूप प्रकृति रूढ़िमुक्त हुई। दूसरी बात यह भी है कि इस युग के कुछ कवियों का कोमल और कल्पना-शील हृदय इस लोक के व्यवहार से सन्तुष्ट नहीं हो सका, उनकी असाधारण मानसिक स्थिति के कारण उन्हें अपने हृदय की बात समझनेवाला कोई हाड़-मांस का जीव नहीं मिला।

कवियों का प्रकृति के प्रति आकर्षण उनकी प्रेम-भावना का बहुमुखी विकास है जिसके अन्दर सिमट कर प्रकृति अपने आप आ गई है। आधुनिक काव्यों में प्रकृति का मानवीकरण जिस सफलता के साथ किया जा रहा है वह किसी भी साहित्य के लिये गौरव को वस्तु है। मानवीकरण की दिशा में श्री सूर्यकान्त जी त्रिपाठी 'निराला' ने सन् १९१६ में जो अपनी 'जुही की कली' नामक कविता मुक्त छन्द में लिखी वह एक दीप-स्तम्भ बन गई है। कवि की इस सृष्टि में 'जुही की कली' एक साधारण कली न रहकर ऐसी मानवीय नायिका बन गई है जिसका प्रेमी मलयानिल भी शरीरधारी नायक की भाँति उसके पास आता है। दोनों की क्रीड़ा में अत्यन्त लौकिक-सजीवता है—

विजन-वन-वल्लरी पर
सोती थी सुहाग-भरी—स्नेह-स्वप्न-मग्न—
अमल-कोमल-तनु-तरुणी—जुही की कली,
दृग बन्द किए, शिथिल,—पत्रांक में,
वासन्ती निशा थी;
विरह-विधुर-प्रिया-संग छोड़
किसी दूर देश में था पवन
जिसे कहते हैं मलयानिल !
आई याद बिछुड़न से मिलन की वह मधुर बात,
आई याद चाँदनी की धुली हुई आधी रात,
आई याद कान्ता की कम्पित कमनीय गात,
फिर क्या ? पवन
उपवन-सर-सरित गहन-गिरि-कानन
कुंज लता-पुञ्जों को पार कर
पहुँचा जहाँ उसने की केलि
कली-खिली-साथ ।
सोती थी,
जाने कहो कैसे प्रिय-आगमन वह ?
नायक ने चूमे कपोल,
डाल उठी वल्लरी की लड़ी जैसे हिंडोल
इस पर भी जागी नहीं,
चूक-क्षमा माँगी नहीं,
निद्रालस वंकिम विशाल नेत्र मूँदे रही—
किंवा मतवाली थी यौवन की मदिरा पिए,
कौन कहे ?
निर्दय उस नायक ने
निपट निठुराई की
कि झोंकों की झड़ियों से
सुन्दर सुकुमार देह सारी झकझोर डाली,
मसल दिये गोरे कपोल गोल;
चौंक पड़ी युवती—
चकित चितवन निज चारों ओर फेर,
हेर प्यारे को सेज पास,
नम्र मुख हँसी-खिली,
खेल रंग, प्यारे संग ।

प्रकृति के इस क्रिया-कलाप में दो प्रेमियों की विह्वल प्रेम-क्रीड़ा व्यंजित हुई है। प्रकृति की मनोमय-मोहक गाथा हिन्दी के जिन कवियों ने पढ़ी है उनमें सुमित्रानन्दन पन्त का स्थान प्रमुख है। पन्त ने प्रकृति के भीतर जो नारी-सौन्दर्य देखा है वह पार्थिव नारी, जो कि प्रेयसी है, के आकर्षण और सम्मोहन को भी जीत सका है। कवि नारी के आकर्षण से आहत अवश्य है किन्तु प्रकृति के आकर्षण से विह्वल होकर वह सहसा कह उठता है—

छोड़ द्रुमों की मृदु छाया,
तोड़ प्रकृति से भी माया,
बाले! तेरे बाल-जाल में कैसे उलझा दूँ लोचन?

महादेवी वर्मा के लिये तो प्रकृति शृंगार की ही वस्तु है। प्रकृति प्रियतम की ओर संकेत करनेवाली उनकी अभिन्न सहचरी है, उनकी आत्मा की छाया है, रहस्य ब्रह्म की छाया है तथा उनके जीवन का अपरिहार्य अंश है। अपने असीम की ओर बढ़ती महादेवी प्रकृति के कण-कण से परिचित होती हुई आगे बढ़ी हैं और उसका क्रन्दन पहचान कर ही आश्वस्त हो पाई हैं। प्रसाद, निराला, पन्त तथा महादेवी, ये चार कवि प्रकृति के चित्रांकन के लिए प्रसिद्ध हैं, प्रकृति इनकी काव्यकला में विशेष रूप से सप्राण है। 'प्रसाद' प्रकृति के रूपों द्वारा प्रेम रहस्य के संकेत करते हैं। निराला दार्शनिक तत्वों की व्यंजना करते हैं, पन्त प्रकृति को प्राणमयी देवी मानकर कल्पना करते हैं और महादेवी की तो वह सहचरी ही है। इनके अतिरिक्त आधुनिकतम कवियों की कविताओं में पग-पग पर प्रकृति उनकी सहायता करती जान पड़ती है।

●

# प्रथम उत्थान

स्वच्छन्दतावादी काव्यधारा के प्रथमोत्थान का आरम्भ **पंडित श्रीधर-पाठक** की रचनाओं से मानना चाहिए। **पं० रामनरेश त्रिपाठी** की प्रकृति-सम्बन्धी रचनाएँ भी इसी श्रेणी में रखी जा सकती हैं। आगे चलकर इस विचारधारा को जब गीति काव्य की भूमि मिली तब इसमें अद्भुत विकास हुआ। इस विकसित काव्यधारा के अन्तर्गत ही छायावाद के प्रमुख स्तम्भ जयशंकर प्रसाद, सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला, सुमित्रानन्दन-पन्त, महादेवी वर्मा और इनसे प्रभावित काव्यधारा के कवियों की रचनाएँ आती हैं। इस गीतिकाव्य के साथ महादेवी जी तथा डॉ० रामकुमार वर्मा के नाम इस प्रकार लगे हुए हैं कि भिन्नता के होते हुए भी इन्हें अलग नहीं किया जा सकता। काव्य की जिस प्रवृत्ति को लोगों ने रहस्य-वाद के नाम से पुकारना आरम्भ कर दिया था उसके उन्नायकों में यही दो कवि प्रमुख हैं, जिससे इस सन्दर्भ में इन दोनों का उल्लेख आवश्यक है। इस प्रथमोत्थान में कुछ ऐसे भी कवियों के दर्शन हुए जिनमें स्वच्छन्दतावादी काव्य की विशेषताएँ स्वस्थ रूप में विद्यमान थीं, पर वे प्रबन्धात्मकता की ओर झुके रहने के कारण स्वच्छन्दतावादी काव्य-प्रवाह के किनारे-किनारे ही चलते रहे और तृतीय उत्थान काल में आकर पुनः अपनी रोमानी भावनाओं के साथ प्रकट हो गए, जिनमें गुरुभक्त सिंह 'भक्त' का नाम प्रमुख है।

## जयशंकर प्रसाद

स्वच्छन्दवादी काव्य-धारा की जिस शैली को हम 'छायावाद' का नाम दे बैठे हैं उसके उन्नायकों में 'प्रसाद' जी का स्थान सर्वोपरि है। प्रसाद जी की रचनाओं का आरम्भ काल हिन्दी साहित्य का वह काल था जिस पर आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी का सम्पूर्ण प्रभाव व्याप्त था। तत्कालीन साहित्यकारों पर द्विवेदीजी का इतना आतंक छाया हुआ था कि उनकी लेखनी प्रायः स्वच्छन्दता पूर्वक कल्पना-संसार में विचरण करने से घबराती थी और वह एक सीमित क्षेत्र के अन्दर ही बचा-बचाकर डग भर रही थी। द्विवेदीजी की ओर से कविता को अधिक प्रोत्साहन भी नहीं मिला क्योंकि उन्होंने अपना अधिक से अधिक समय गद्य-परिष्कार में ही लगाया। ऐसी स्थिति में एक ऐसे कवि का साहित्यिक मूल्यांकन करना, जो कि स्वतन्त्र रूप से अपनी नवीन शैली के साथ कल्पना संसार में ही विचरण कर जीवन-ज्योति रूपी मोतियों की खोज कल्पना-सागर में ही करना चाहता है, न तो सम्भव है और न लोग साधारणतः उसे समझने का प्रयत्न ही करना चाहेंगे। यही कारण है कि आरम्भ में उनकी कविताओं के सम्बन्ध में विद्वानों ने जो मत प्रकट किए वे रचनाओं की आत्मा को छू नहीं पाए। पण्डित रामचन्द्र शुक्ल जी जैसे व्यक्ति ने भी तत्कालीन वातावरण से प्रभावित होकर यह कह डाला कि 'इनकी रहस्यवादी रचनाओं को देखकर चाहें तो यह कहें कि इनकी मधुचर्या के मानस-प्रसार के लिये रहस्यवाद का परदा मिल गया अथवा यों कहें कि इनकी सारी प्रणयानुभूति ससीम पर से कूदकर असीम पर जा रही है।'[१]

'शुक्लजी' द्वारा दिया गया उपर्युक्त मत कभी भी 'प्रसादजी' की शैली तथा काव्य की व्याख्या नहीं हो सकती क्योंकि ऐसा लगता है कि पंडितजी ने कवि की स्वतन्त्र भावनाओं तथा विचारों का सम्यक् मनन किये बिना ही उपर्युक्त निर्णय दे डाला है। प्रसादजी ऐसे मस्त और समाज की संकीर्ण विचार-धाराओं के व्यंग की कुछ भी परवाह न करने वाले स्पष्टभाषी थे जिन्होंने अपने जीवन की अनुभूतियों को ही अपनी कविता तथा काव्य का आधार बनाया, अपने विचारों को व्यक्त करने के लिये रहस्यवाद का परदा लेते, तर्क की कसौटी पर खरा नहीं उतरता। इस प्रकार

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ६८२।

बच-बचकर चलने की भावना रखनेवाला कवि जैसा कि आचार्य 'शुक्ल' ने समझा है कभी ऐसा नहीं कह सकता, जैसा कि प्रसादजी ने 'निवेदन' किया है—

'डरो नहीं जो तुमको मेरा उपालम्भ सुनना होगा।
केवल एक तुम्हारा चुम्बन इस मुख को चुप कर देगा॥

केवल एक चुम्बन पर सारी झंझटों को टाल देनेवाला कवि रहस्यवाद का भी पर्दा ले सकता है, कुछ समझने की ही बात नहीं, सोचने की भी बात है। प्रसादजी की जिन रचनाओं को देखकर रहस्यवादी कविताओं का भ्रम होता है वे रहस्यवादी कविताएँ नहीं बल्कि धरातल पर रहनेवाले मांस-पिण्डों से युक्त मानव-सम्बन्धी धरातल के लिए ही लिखी गई आन्तरिक अनुभूतियाँ हैं जिनमें चिन्तन की गहनता के कारण निखार अधिक है।

पथिक के पहले डग से ही उसकी मंजिल का अनुमान लग जाता है। कवि की व्यापक दृष्टि का नवजात अंकुर उसकी आरम्भिक रचनाएँ ही होती हैं। यदि हम 'प्रसाद जी' की आरम्भिक रचनाओं को देखें तो हमारी कठिनाई बहुत कुछ दूर हो सकती है क्योंकि उसके आधार पर हम कवि की विकास रेखा का अनुमान लगा सकते हैं—

'सरासर भूल करते हैं उन्हें जो प्यार करते हैं,
बुराई कर रहे हैं और अस्वीकार करते हैं।
उन्हें अवकाश ही रहता कहाँ है मुझसे मिलने का,
किसी से पूछ लेते हैं यहीं उपकार करते हैं।
जो ऊँचे चढ़के चलते हैं वो नीचे देखते हरदम,
प्रफुल्लित वृक्ष ही यह भूमि कुसुमागार करते हैं।
न इतना फूलिए तरुवर सुफल कोरी कली लेकर,
बिना मकरंद के मधुकर नहीं गुंजार करते हैं।
'प्रसाद' उसको न भूलो तुम तुम्हारा जो कि प्रेमी है,
न सज्जन छोड़ते उसको जिसे 'स्वीकार करते हैं।'

इस प्रकार हम देखते हैं कि कवि आरम्भ में ही एक स्वाभिमानी प्रेमी की भाँति अपनी रचनाओं में प्रकट हो जाता है। आरम्भ से ही किसी भी वस्तु को देखने का प्रसाद जी का अपना अलग दृष्टिकोण रहा है जिससे किसी भी प्रकार की साहित्यिक सीमाएँ, चाहे वे शैलीगत रही हों अथवा विषयगत, उनके स्वतन्त्र विचारों को बाँध नहीं पाई हैं। महावीर-प्रसाद जी द्विवेदी द्वारा प्रोत्साहित काव्य की इतिवृत्तात्मक काव्य-शैली

का उन्होंने अपनी रचनाओं में पूर्ण बहिष्कार किया तथा अपनी वैयक्तिकता एवं व्यक्तित्व को रचनाओं में साक्षी रखकर भावाभिव्यक्ति की, जो तत्कालीन काव्य की वर्णनात्मक शैली से अधिक प्रभावोत्पादक सिद्ध हुई।

'प्रसादजी' ने काव्य की जिस शैली को प्राथमिकता प्रदान की उसके लिये यद्यपि तत्कालीन भाव-भूमि उपयुक्त नहीं थी, उस समय हमारे बीच राष्ट्रीयता की एक ऐसी धारा प्रवाहित हो रही थी जिससे साहित्य को चिरस्थायी बनाने की प्रवृत्ति लोगों में कम हो चली थी और नागरिकों के सोए हुए राष्ट्रीय भावों को जगाने के लिए साहित्य-सर्जन की ओर कवियों की अधिक रुचि थी, किन्तु उन राष्ट्रीय भावनाओं से ओतप्रोत कविताओं में बात सीधे-सीधे कह दी जाती थी जिससे उनमें साहित्यिकता का अभाव रहता था। इस काव्यधारा के अग्रणी बाबू मैथिलीशरण गुप्त ने राष्ट्रीय वाणी का जो सिंहनाद किया, सर्वप्रथम उसमें भी हमें कोई साहित्यिक निधि नहीं प्राप्त होती, यद्यपि उनकी 'भारत भारती' भारतीयों के गले की हार बन गई थी। उसमें आदर्श के साथ करुणा से परिपूर्ण राष्ट्रीयता का सन्देश था। स्वतन्त्रता-संग्राम की भयंकरता इस सीमा तक पहुँच गई थी कि उसको दबाने के लिये अंग्रेज प्रभुओं ने अपनी कोई कला शेष नहीं रखी और एक ऐसी भी स्थिति आ गई थी कि सीधे-सीधे राष्ट्रीयता का नाम लेना दुष्कर था। किन्तु युग की वह अमर धारा कला की ओट लेकर अभिधा के स्थान पर व्यंजना के रूप में प्रवाहित होती ही रही। इस प्रकार की रचनाओं के सूत्रधार थे पं० माखनलाल जी चतुर्वेदी जैसा कि उनके 'फूल की चाह' नामक कविता से प्रकट है, जिसमें वे एक कामना करते हैं—

**'मुझे तोड़ लेना वनमाली उस पथ पर तुम देना फेंक,**
**मातृ भूमिपर शीश चढ़ाने जिस पथ जावें वीर अनेक।'**

इस प्रकार की राष्ट्रीय कविताओं में कलात्मकता भी अधिक थी और उनका प्रभाव भी अधिक स्थायी था। इस राष्ट्रीयता का प्रभाव 'प्रसाद' ने अपनी रचनाओं में अन्य प्रकार से ग्रहण किया। जहाँ तक कविताओं का प्रश्न है वे पूर्णरूपेण खुलकर राष्ट्रीय कवि के रूप में नहीं आ सके हैं क्योंकि उनका विचार था कि युग-जागरण का सबसे अधिक कार्य नाटकों के माध्यम से किया जा सकता है। देश की जागरूक जनता उपदेश और व्याख्यान नहीं चाहती बल्कि वह ऐसा नायक अथवा नेता चाहती है जिसके आदर्श को सामने रखकर वह पीछे-पीछे जय-युद्ध के लिये चल

सके। यह महत् कार्य नाटकों द्वारा ही सम्पन्न हो सकता है क्योंकि उनमें स्रष्टा को अवकाश रहता है कि वह नायक की सृष्टि कर सके। यही कारण है कि यदि हमें राष्ट्रीय 'प्रसाद' का देखना है तो हमें उसे उसके नाटकों में देखना होगा। उनके नाटकों में लिखित गीत राष्ट्रीयता के महामंत्र हैं, जिनकी प्रेरणा हमें स्वतन्त्रता की वदी पर बलि देने को वाध्य सा कर देती है। कवि ने देश प्रेम का भावुकता में देश की स्वतन्त्रता के लिये उद्‌बोधन गीत लिखा है जिसमें वह सम्पूर्ण बाधाओं को तोड़कर आगे बढ़ चलने का सन्देश देता है—

'हिमाद्रि तुंग शृङ्ग से
प्रबुद्ध शुद्ध भारती
स्वयं-प्रभा समुज्ज्वला
स्वतन्त्रता पुकारती
'अमर्त्य वीर पुत्र हो, दृढ़-प्रतिज्ञ सोच लो,
प्रशस्त पुण्य पंथ है, बढ़े चलो, बढ़े चलो।

देश प्रेम पर लिखी प्रसाद की कविताएँ द्विवेदीयुगीन देश-प्रेम की कविताओं से भिन्न हैं। जहाँ पर द्विवेदी युग में विशेषणों की संख्या गिनाई जाती था वहीं प्रसाद जी ने उसके प्रभावकारी गुणों की चर्चा की है। मैथिलीशरण गुप्त की—

'नीलाम्बर परिधान हरित पट पर सुन्दर है,
चन्द्र सूर्य युत मुकुट मेखला रत्नाकर है।
नदियाँ प्रेम-प्रवाह, फूल तारे मंडन हैं,
बन्दीजन खग-वृन्द, शेष-फन सिंहासन है।
करते अभिषेक पयाद हैं, बलिहारी उस वेश की।
हे मातृभूमि, तू सत्य ही सगुण मूर्ति सर्वेश की॥

ये पंक्तियाँ उन्हीं प्राचीन विशेषणों का प्रतिनिधित्व करती हैं जिन्हें प्राचीन आचार्यों ने गिनाये थे, किन्तु प्रसाद जी का देश प्रेम इससे अधिक भावात्मक और व्यापक है—

'अरुण यह मधुमय देश हमारा।
जहाँ पहुँच अनजान क्षितिज को मिलता एक सहारा॥
सरस तामरस-गर्भ-विभा पर, नाच रही तरु-शिखा मनोहर।
छिटका जीवन हरियाली पर मंगल कुंकुम सारा॥

लघु सुरधनु से पंख पसारे, शीतल मलय समीर सहारे।
उड़ते खग जिस ओर मुँह किये समझ नीड़ निज प्यारा॥
बरसाती आँखों के बादल, बनते जहाँ भरे करुणा जल।
लहरें टकरातीं अनन्त की—पाकर जहाँ किनारा॥'

इसमें कवि की दृष्टि की व्यापकता इतनी विशाल है कि वह क्षितिजि के किनारे तक की कल्पना कर लेता है। इनकी रचनाओं में प्रकृति चित्रण पर-प्राचीनता का निर्मोक लक्षित नहीं होता, जिसमें उन्होंने पुरातन प्रवन्ध परम्परा का पूर्ण बहिष्कार किया है। इनके अतिरिक्त पं० श्रीधर पाठक आदि की रचनाओं में प्रकृति का स्वतन्त्र चित्रण तो आ चुका था किन्तु इन्होंने सर्वप्रथम काव्य में प्रकृतिचित्रण द्वारा माधुर्य का चारु चाँद उगाया। 'प्रसाद जी' ने प्रेम पथिक में रोमांटिक काव्य की सृष्टि की है जिसमें स्वयं प्रकृति वातावरण प्रस्तुत करती है। आँसू, जिसको हम गीतकाव्य की हिन्दी-साहित्य को देन कह सकते हैं और जिसकी गणना हिन्दी की कुछ ही उत्कृष्ट रचनाओं में की जा सकती है, कवि की अनुपम भावनाओं की उड़ान का ही परिणाम है। 'आँसू' अपने थोड़े से विरह गीतों के द्वारा ही सर्वोत्तम काव्यों की श्रेणी में रखा जाने का अधिकारी है। इस काव्य को लेकर यह विवाद खड़ा होता रहता है कि इसे रहस्यवादी काव्य की श्रेणी में रखें या इसे मानवीय विरह-वर्णन ही स्वीकार किया जाय। इसमें कवि ने बिना किसी भय के मानव के विलासमय जीवन का चित्रण किया है और उसके अभाव में आँसू बहाया है, जिसमें वह आगे चलकर जीवन से समझौता कर लेता है। विलास की व्यापकता किस प्रकार मनुष्य को विवश किए रहती है उसकी महत्ता को प्रकट करने के लिये कवि ने उसी प्रकार के उपमानों का प्रयोग किया है। इसे तो हम प्रसाद जी की निःसंकोच आत्माभिव्यक्ति कह सकते हैं, जिससे श्रेष्ठतर काव्योपयोगी वस्तु अन्य हो नहीं सकती। यह सब प्रकार से मानवीय काव्य है और प्रसाद जी मानवीय भावनाओं के कवि हैं। अपनी 'लहर' नामक रचना में उन्होंने मनुष्यों के मन में उठनेवाली स्वाभाविक स्वच्छन्द भावनाओं की लहरों का चित्रण किया है। इस प्रकार की कविताओं में प्रसाद जी का व्यक्तित्व ही बोलता हुआ दिखाई पड़ता है—

हिन्दी का आधुनिक काल मुख्यतः मुक्तकों और प्रगीतों का काल है किन्तु प्रसाद जी की 'कामायनी' ने प्रमाणित कर दिया कि आधुनिक युग में भी अभिनव शैली के महाकाव्य लिखे जा सकते हैं। प्रसाद जी का यह महाकाव्य भी समस्त प्राचीन साहित्यिक शास्त्रीय रूढ़ियों को एक चुनौती है।

इस महाकाव्य को न तो हम विषयवस्तु की कसौटी पर कस सकते हैं और न अन्य विहित महाकाव्य के शास्त्रीय लक्षणों पर। यह प्राचीनता के विरोध में बहुत कुछ सफल नवीन प्रयोग है। जब तक हम इसकी पूर्ण चर्चा नहीं करते तब तक हम प्रसाद-साहित्य की आत्मा को पहचान नहीं सकते क्योंकि यह ग्रन्थ एकमात्र कवि की बहुमुखी प्रतिभा का चरम विकास है। इसके अन्दर ही कवि ने विभिन्न साहित्यिक उपादानों को समेट कर अपने ढंग से रखा है और इसके पूर्व की उसकी सभी रचनाएँ वे आरम्भिक सीढ़ियाँ हैं जिनपर होता हुआ वह इस शिखर तक पहुँच सका है। जिसमें सर्गों की व्यवस्थिति हो, शास्त्रकारों के मत से, वही महाकाव्य है। भामह ने इसके सम्बन्ध में जो मत प्रकट किया है उसके अनुसार यह आकार में बड़ा होता है, महान् व्यक्तियों का चित्रण करता है, ग्राम्य प्रयोगों से रहित रहता है, अलंकारों से युक्त होता है तथा सत् को आश्रय देने वाला होता है। इसमें मंत्रणा-गृह, दूत, यात्रा, युद्ध और नायक के अभ्युदय का वर्णन होता है तथा यह नाटक की पञ्च संधियों से युक्त और सुखान्त होता है। दण्डी ने भी 'काव्यादर्श' में इन्हीं का विस्तार किया है और 'साहित्य दर्पण' के रचयिता विश्वनाथ के अनुसार एक देवता अथवा धीरोदात्त नायक के गुणों से समन्वित सद्वंश क्षत्रिय इसका नायक होता है। कहीं एक ही वंश के अनेक भूप नायक होते हैं। शृंगार, शान्त और वीर में से कोई एक रस अङ्गी होता है और अन्य रस गौण हुआ करते हैं। ऐतिहासिक अथवा लोकप्रसिद्ध कथा, नाटक की सभी सन्धियाँ, अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष में से एक उसका फल होता है। खलों की निन्दा, सज्जनों का गुणकथन, आठ से अधिक सर्ग, प्रत्येक में एक ही छन्द, अन्तिम छन्द दूसरा जिससे अगली कथा का सूत्र चलता है, कहीं-कहीं अनेक छन्द भी मिलते हैं, सांगोपांग युद्ध, विवाह आदि का वर्णन-ऐसे नियम हैं जिनका पालन करना महाकाव्यकार के लिए आवश्यक होता है। किन्तु उपर्युक्त किसी भी लक्षणकार की परिभाषा के अन्दर 'कामायनी' को नहीं रखा जा सकता और यह भी सम्भव नहीं है कि उसे महाकाव्यत्व की मर्यादा से उतार दिया जाय।

महाकाव्यों की सृष्टि पहले होती है और उनके लक्षण बाद में उन्हींके आधार पर बनाये जाते हैं। किसी भी युग का महान प्रतिभासम्पन्न कवि अपनी रचना द्वारा लक्षणों का निर्माण करता है। कालिदास के 'रघुवंश' को महाकाव्य के अन्दर लेने के लिए साहित्यदर्पणकार को एक नायक के स्थान पर वंश को नायक के रूप में स्वीकार करना पड़ा। यदि आठ सर्गों से

अधिक सर्गों के होने की व्यवस्था का कड़ाई से पालन किया जाय तो 'तुलसी' के 'रामचरित-मानस' को भी महाकाव्यों की श्रेणी से अलग रखना होगा। प्रसाद जी ऐसे ही प्रतिभावान् महाकवि हैं, काव्य के लक्षण जिसके पीछे दौड़ते हैं। एक सच्चे कवि के लिए शास्त्रीय बन्धनों का कोई मूल्य नहीं होता। उसके मन में जिस प्रकार जब एक वेगवान अनुभव का उदय होता है, तब वह उसे गीत-काव्य में प्रकाशित किये बिना नहीं रह सकता, उसी प्रकार जब उसके मन में एक महत् व्यक्ति अथवा आदर्श का उदय होता है, सहसा जब एक महान् पुरुष अथवा एक महान् आदर्श उसके कल्पना-राज्य पर आकर अधिकार जमाता है तब उसके उन्नत भावों से उद्दीप्त होकर, उन्हें स्वरूप प्रदान करने के लिये वह भाषा के भवन का निर्माण करता है और तब महाकाव्य की सृष्टि होती है। 'कामायनी' ऐसा ही आधुनिक युग का महाकाव्य है जिसके अन्दर वर्तमान युग की विषम समस्याओं का समाधान निहित है।

'कामायनी' के अन्दर वस्तुजगत् के अनेकमुखी दृश्यों और परिस्थितियों का चित्रण नहीं मिलता तथा प्रकृति-सौन्दर्य-वर्णन वस्तुरूप में मिलता है, इसलिये कुछ लोग 'कामायनी' को महाकाव्य कहने में हिचकते हैं। इसके अतिरिक्त इसमें युद्ध छायात्मक और प्रतीकात्मक है तथा संघर्ष अधिक प्रभावशाली नहीं है परन्तु आन्तरिक संघर्ष अद्भुत है। सारस्वत प्रदेश में, बुद्धिवादी भौतिक विकास एवं परम्परागत लक्षणों को पूरा न करने पर भी 'कामायनी' महाकाव्य है। 'कामायनी' कवि के व्याकुल मन की समाधानयुक्त वाणी का अनुपम कोष है। जब कवि अपने जीवन में किसी आदर्श एवं महान् चरित्र से अभिभूत होता है, तब अभिव्यक्ति के लिए उसकी वाणी बाहर आने के लिये अकुला उठती है, जिसे कहे बिना कवि रह नहीं सकता और वही वाणी महाकाव्य का रूप धारण कर लेती है। मानवीय भावनाओं के स्वच्छन्द गायक कवि 'प्रसाद' को अपनी भावनाओं को 'कामायनी' के रूप में जो एक समन्वित रूप देना पड़ा है उसके मूल में कोई न कोई अवश्य ही बड़ी बात होगी। निश्चय ही उन्हें मानवता को एक महान् सन्देश देना था जिसके सहारे वे अपनी वतमान विषम परिस्थितियों से जूझते हुए सच्चे सुख का अनुभव कर सके। महाकाव्य को छोड़कर यह महत् कार्य काव्य के अन्य रूपों द्वारा कभी भी सम्भव नहीं, जिससे कवि को अपने काव्य की स्वच्छन्द भाव-तरङ्गों से लहराती हुई 'कामायनी' को उस आनन्दवाद की मंजिल तक पहुँचाना पड़ा जिसकी उसने इच्छा की थी—

'इस पथ का उद्देश्य नहीं है श्रान्त भवन में टिक रहना।
चलना होगा उस सीमा तक जिसके आगे राह नहीं॥'

—प्रेमपथिक

जहाँ पहुँच कर जीवन की सारी विषमता तो समाप्त हो जाती है, किन्तु निस्सीमता और विशालता के कारण और कुछ अधिक जानने की जिज्ञासा बनी ही रहती है क्योंकि प्रसाद जी की कल्पना कभी सीमा का बन्धन स्वीकार नहीं कर सकती। उनकी कल्पना की उड़ान की मञ्जिल ऐसी है जहाँ:

'बन गया तमस था अलक-जाल।
सर्वाङ्ग ज्योतिमय था विशाल॥
अन्तर्निनाद ध्वनि से पूरित।
थी शून्य-भेदिनी-सत्ता चित्॥
नटराज स्वयं थे नृत्य-निरत।
था अन्तरिक्ष प्रहसित मुखरित॥
स्वर लय होकर दे रहे ताल।
थे लुप्त हो रहे दिशा काल॥'

(कामायनी, दर्शन सर्ग)

अन्य स्वच्छन्दतावादी कवियों की भाँति 'प्रसाद' जी की कविताओं में केवल कल्पनाओं की उड़ान नहीं है बल्कि उनमें उड़ान की अपेक्षा कल्पना की सूक्ष्मता अधिक है जिससे वर्ण्यवस्तु को प्रस्तुत करने में अनोखापन आ गया है। वे सभी कारण जिन्होंने प्रसाद जी को कामायनी लिखने के लिये विवश किया, उनकी उन कविताओं के लिये भी उत्तरदायी हैं जिनमें मन की अभावजन्य आकुलता तो है किन्तु स्वर्णिम भविष्य की कल्पना की अपेक्षा स्वर्णिम अतीत का यशोगान अधिक है। प्रसाद जी को जीवन में यदि उपेक्षा मिली है तो उन्हें मनचाहा वरदान भी मिला है। जिस प्रिय के उपेक्षापूर्ण व्यवहारों पर वे रोते सिसकते हैं:

'रो रोकर सिसक-सिसककर कहता मैं करुण कहानी।
वे सुमन नोचते सुनते करते जानी अनजानी॥'

(आँसू)

उसके साहचर्य के सुख का गौरव भी उन्हें मिल चुका है :

'माना कि रूप सीमा है
सुंदर तव चिर यौवन में;
पर समा गए थे मेरे
मन के निस्सीम गगन में।
थक जाती थी सुख रजनी
मुख-चन्द्र अङ्क में होता,
श्रम सीकर सदृश नखत से
अम्बर पट भींगा होता। (आँसू)

मिलन की मधुरिमा तथा विरह की कटुता दोनों का कवि ने अनुभव किया है। जीवन के क्षणिक सुख और अभाव के विषम दुःख का उसे पूर्ण अनुभव है जिससे वह निरन्तर चिन्तन के बल से ऐसा मार्ग ढूँढ़ निकालने में तत्पर जान पड़ता है जिसपर चलकर जीवन के वास्तविक सच्चे सुख का स्थायी रूप में अनुभव किया जा सके। यही कारण है कि हमें उनके काव्य में निरन्तर विकास-क्रम लक्षित होता है जो कामायनी के 'आनन्दवाद' में अपनी चरम अभिव्यक्ति पा सका है। जीवन के क्षणिक सुख एवं चिर-दुःख तथा मिलन की मधुरिमा और विरह की कटुता के बीच शांति न पाने के कारण कवि की जो भावना सदैव किसी एक स्थायी स्थिति को अपने काव्यों के माध्यम से ढूँढ़ती रही है, वही स्थायी स्थिति, समरसता के सिद्धान्त के रूप में, महाकाव्य 'कामायनी' के लिये अपूर्व वरदान सिद्ध हो गई है।

'कामायनी' में प्रायः सभी प्रमुख स्थलों पर समरसता का आग्रह पाया जाता है। प्रायः सभी महाकाव्यों में एक न एक आग्रह अवश्य होता है। अपने काव्य के माध्यम से कवि एक न एक सन्देश देना चाहता है। 'प्रसाद' जी ने श्रद्धा के मुख से अपनी बात कहलाई है :

"नित्य समरसता का अधिकार
उमड़ता कारण जलधि समान;
व्यथा की नीली लहरों बीच
बिखरते सुख मणिगण द्युतिमान।"
(कामायनी)

आगे चलकर 'दर्शन' खण्ड में भी 'श्रद्धा' अपने पुत्र मानव को समरसता का उपदेश देती है :

'सबकी समरसता कर प्रचार,
मेरे सुत सुन माँ की पुकार ॥'

अन्त में जहाँ सब मिल जाते हैं वहाँ भी और उपसंहार में भी यही आग्रह है। बीच-बीच में काम ने भी यही उपदेश दिया है :

'तुम भूल गये पुरुषत्व मोह में
कुछ सत्ता है नारी की।
समरसता है सम्बन्ध बनी
अधिकार और अधिकारी की।'

(इड़ा सर्ग)

'प्रसाद' जी द्वैत की सत्ता को मानते हैं तथा इस पर विश्वास करते हैं कि यह द्वैत की सत्ता ही संघर्षों के मूल में विद्यमान है :

द्वन्द्वों का उद्गम तो सदैव
शाश्वत रहता वह एक मन्त्र।

(इड़ा सर्ग)

संसार में सभी चीजों के साथ द्वन्द्व लगा हुआ है जिनके मूल में द्वैत की सत्ता ही कार्य करती रहती है। इस द्वैत की सत्ता को प्रमाणित कर लेने के पश्चात् उन्होंने अद्वैत का खण्डन किया है। द्वैत की सत्ता तो प्रमाणित है ही, क्योंकि अद्वैतवादी भी माया और ब्रह्म दो वस्तुएँ मानते हैं, परन्तु इन दोनों के बीच क्या होना चाहिए, यही झगड़ा है। भक्ति भाव के उपासक इस सम्बन्ध को सेवक और सेव्य-भाव मानते हैं और दास्य भाव के उपासक इसे अधिकार और अधिकारी मानते हैं। इस सम्बन्ध को प्रसाद जी ने सामरस्य का सिद्धान्त माना है जिस एक के बिना दूसरा रह ही नहीं सकता। जहाँ विषमता है, वहीं वेदना है और जहाँ साम्य है वहीं आनन्द है। आरम्भ में प्रकृति और पुरुष में वैषम्य रहा जिससे प्रलय हुआ और केवल चिन्तित मनु बच रहे किंतु जब सामरस्य स्थापित हो गया तो वहीं आनन्द की सृष्टि हुई।

इसी प्रकार की बात भगवान् बुद्ध ने भी की थी। भगवान् बुद्ध के पूर्व लोग छोर ( Extreem ) पर ही थे। ज्ञान-पन्थी ज्ञान को और भक्त भक्ति को ही सर्वश्रेष्ठ मान बैठे थे। भगवान् बुद्ध ने मध्यमा प्रतिपदा का मार्ग दिखाया, जिसे अरस्तू ने 'गोल्डेन मीन' कहा है। 'प्रसाद' जी ने इसी बीच के मार्ग यानी देवताओं की विलासिता और तपस्या के बीच प्रेम का सन्देश दिया :

> जिसकी लीला थी विकस चली
> वह मूल शक्ति थी प्रेम कला ;
> उसका सन्देश सुनाने को।
> संसृति में आई यह अमला।

इसके पूर्व देवता विलासी थे जिनका अन्त प्रलय में हुआ और उनके बाद तपस्वी रूप में आकर्षण से हीन मनु बच रहे जिस स्थिति में भी सृष्टि और सर्जन की अबाध धारा आगे न बढ़ पाई ;

> अकेले तुम कैसे असहाय
> यजन कर सकते ? तुच्छ विचार ?
> तपस्वी ! आकर्षण से हीन
> कर सके नहीं आत्मा विस्तार। (कामायनी)

तपस्वी ठूँठा वृक्ष है और कर्मशील वटवृक्ष के समान हरा वृक्ष है जो प्रकृति के अन्य अङ्गों से सरलता के साथ सम्बन्ध जोड़ लेता है, जो ठूँठ वृक्ष के लिये सम्भव नहीं। तपस्वी मनु शक्तिविहीन शिव रूप है जिसमें तपस् कला की प्रधानता है और शक्ति का, जो आनन्द कला है, सामरस्य नहीं हो पाया है, जिससे वह दुखी है। जिस प्रकार शिवाजी स्वेच्छा से अपने में आकर्षण उत्पन्न करते हैं और तब शक्ति का आगमन होता है जिससे आनन्द की सृष्टि होती है, उसी प्रकार मनु के हृदय में प्रेम की उत्पत्ति होने से श्रद्धा के साहचर्य द्वारा सृष्टि का विकास-क्रम आगे बढ़ता है। प्रसाद जी पूर्णतः आनन्दवादी हैं। उनका आनन्द कहीं-कहीं भोगवाद की सीमा तक भी पहुँच गया है। मानवजीवन को गतिमान बनानेवाली श्रद्धा के द्वारा उन्होंने जीवन की वास्तविकता प्रेम-कला का प्रतिपादन किया :

'तप नहीं केवल जीवन सत्य
करुण यह क्षणिक दीन अवसाद,
तरल आकांक्षा से है भरा
सो रहा आशा का आह्लाद।' ( कामायनी )

बाद में मनु तपस्या को छोड़कर आँधी की भाँति विलास की ओर बढ़ते हैं तो वहाँ भी उन्हें हार मिलती है क्योंकि वह भी मध्यम मार्ग न रहकर एक सीमा को पहुँच गया था। उन्होंने देवताओं के प्रणय मार्ग को अपनाया जिसकी निस्सारता की ओर काम ने संकेत भी किया है :

तुम अति अबोध, अपनी अपूर्णता को न स्वयं तुम समझ सके।
परिणय जिसको पूरा करता उससे तुम अपने आप रुके॥
( इड़ा सर्ग )

समरसता-सिद्धान्त का प्रेम-कला व्यावहारिक पक्ष है। इसमें अधिकार और अधिकारी की अवस्था नहीं होती। समरसता की अवस्था से ही आनन्द की सृष्टि होती है। आरम्भ से ही उनकी रचनाओं, आँसू आदि में समरसता का आग्रह पाया जाता है परन्तु उसे सैद्धांतिक रूप कामायनी में मिला। कहानी, उपन्यास, नाटक आदि सब स्थानों पर उन्होंने समरसता की व्याख्या की है। प्रेम पथिक में भी उन्होंने हिमालय को आदर्श माना है, जिससे स्नेह की गंगा बहती है और विशाल मरुस्थल की अवहेलना की। इस प्रकार इनकी समस्त रचनाओं में प्राय: व्यावहारिक पक्ष में प्रेम और दार्शनिक पक्ष में समरसता के सिद्धान्त का आग्रह है। 'कामायनी' में तीन तत्त्वों में समरसता की स्थापना की गई है जो बौद्धों से चला है। इसके पात्र ऐतिहासिक भूमिका में मनावृत्तियों के भी प्रतीक हैं। इसमें मानवता का रसमय इतिहास तो वर्णित है ही, साथ ही मानव मनोवृत्तियों का सूक्ष्मतिसूक्ष्म विवेचन भी है। मनु मन के प्रतीक हैं और श्रद्धा हृदय की। इसके साथ ही इच्छा, कर्म और ज्ञान जो मानवमन की शाश्वत वृत्तियाँ हैं उनकी गति-विधियों का मनोवैज्ञानिक लेखा लिया गया है। इनका वैभिन्न्य ही दुख का कारण होना है और जब ये अभिन्नत्व प्राप्त करते हैं तब उस सामरस्य की स्थिति से आनन्द की प्रप्ति होती है :

ज्ञान दूर कुछ क्रिया भिन्न है
इच्छा क्यों पूरी हो मन की,
एक दूसरे से न मिल सके
यह विडम्बना है जीवन की। ( कामायनी )

स्वच्छन्दतावादी काव्यों की प्रमुख धारा प्रेमपरक रही है। 'प्रसाद जी' के सम्पूर्ण काव्य की आदि भूमिका प्रेमपरक है। वे पूर्णतः मानवीय भावनाओं के प्रेमी कवि हैं। कामायनी तो प्रेम का सन्देश देने के लिए लिखी ही गई है किन्तु उनकी अन्य रचनाओं में भी इसी मूल वृत्ति को पकड़ा गया है। वे प्रेम को ही जीवन का सर्वस्व मानते हैं :

**किसी मनुज का देख आत्मबल कोई चाहे कितना ही**
**करे प्रशंसा, किन्तु हिमालय-सा ही जिसका हृदय रहे,**
**और प्रेम - करुणा गंगा-यमुना की धारा बही नहीं,**
**कौन कहेगा उसे महान् ? न मरु में उसमें अन्तर है।**

रीतिकालीन श्रृंगारी भावनाओं के स्थान पर काव्य में प्रेम की प्रतिष्ठा आधुनिक युग की देन है। प्रसाद जी के प्रेम की मुख्य तीन कोटियाँ हैं। उनके प्रेम की प्रथम श्रेणी तो वह है जिसके अन्दर उनकी विरह-वेदना मुखर हुई है। जिस प्रिय का अभाव कवि को असह्य हो गया है वह प्रिय महादेवी वर्मा के प्रेमी सा नहीं है जिसका कभी साक्षात्कार ही नहीं हुआ बल्कि ऐसा प्रिय है जिसके साहचर्य का लाभ उठाने का उन्हें गर्व है। प्रेम की दूसरी श्रेणी विरह की वह स्थिति है जिसमें आत्मतुष्टि के लिये वह पूर्व मिलन को महत्व देता जान पड़ता है, जिससे उसके अभाव के आँसू असमर्थता के आँसू नहीं रह जाते बल्कि वे गौरवपूर्ण बन जाते हैं। इसके अतिरिक्त प्रेम की तीसरी श्रेणी में आनन्द की वह स्थिति है जब प्रिय का मिलन हो जाता है :

मिल गए प्रियतम हमारे मिल गए,
यह अलस जीवन सफल अब हो गया।
कौन कहता है जगत है दुःखमय ?
यह सरस संसार सुख का सिन्धु है।
इस हमारे और प्रिय के मिलन से
स्वर्ग आकर मेदिनी से मिल रहा।

किन्तु हम देखते हैं कि प्रसाद जी की जिज्ञासा अपना अन्त नहीं जानती। प्रिय से मिल जाना तथा उसका साहचर्य प्राप्त कर लेना ही उनके लिये सब कुछ नहीं है बल्कि उनका कुतूहल आगे बढ़ता ही रहता है और यह जिज्ञासा उनके मन में उठती रहती है कि अभी कुछ और शेष है जिसे जानना है। यही जिज्ञासा का भाव स्वच्छन्दतावादी कविताओं का प्राण है :

नित्य परिचित हो रहे तब भी रहा कुछ शेष ;
गूढ़ अन्तर का छिपा रहता रहस्य विशेष।
दूर जैसे सघन वन-पथ अन्त का आलोक ;
सतत होता जा रहा हो नयन की गति रोक। ( कामायनी )

प्रसाद जी ने अभावजन्य दुःख और मिलनोद्भूत सुख को समान महत्व दिया है :

मानव-जीवन-वेदी पर परिणय है विरह-मिलन का।
सुख दुख दोनों नाचेंगे, है खेल आँख का, मन का॥

वे दुख से दूर नहीं भागना चाहते वल्कि उसे जीवन के लिये वरदान स्वरूप मानते हैं :

जिसे तुम समझे हो अभिशाप,
जगत की ज्वालाओं का मूल ;
ईश का वह रहस्य वरदान,
कभी मत इसको जाओ भूल।

( कामायनी )

सुख और दुःख की स्थिति जीवन में दीर्घकाल तक वनी रहे—कवि इसका भी समर्थक नहीं है, वल्कि वह दोनों में सामंजस्य स्थापित करना चाहता है :

हो उदासीन दोनों से दुख-सुख से मेल कराएँ,
ममता की हानि उठाकर, दो रूठे हुए मनाएँ।

कवि का जीवन प्रेम की वृत्ति में इतना रम गया है कि वह जीवन के सभी व्यावहारिक पक्षों को उसकी ही तुला पर तौलता जान पड़ता है। उसके काव्य के अन्य जितने उपादान हैं वे प्रेमाभिव्यक्ति के सहायक होकर आए हैं। विषय-वस्तु की दृष्टि से काव्य के लिये मानव के पश्चात् प्रकृति का स्थान है। संस्कृत-साहित्य के पश्चात् जो थोड़ी बहुत प्रकृति-चित्रण की परम्परा हिन्दी काव्यों में चली आ रही थी वह भी रीतिकालीन कवियों के हाथों में पड़कर एकमात्र उद्दीपन रूप में ही शेष रह गई जिसका पुनरुद्धार आधुनिक युग के स्वच्छन्दतावादी कवियों द्वारा हुआ। इन कवियों को नायिकाओं से अवकाश मिल गया है जिससे वे अपने आस-पास देख-भालकर प्रकृति का यथार्थ चित्रण करने लग गए हैं।

प्रसाद जी की रचनाओं में प्रकृति प्रभूत मात्रा में विद्यमान है। हमें इनके काव्यों में प्रकृति के आलम्बन और उद्दीपन दोनों रूप प्राप्त हो जाते हैं, जैसा कि अन्य हिन्दी के स्वच्छन्दतावादी कवियों में कम ही मिलता है। किन्तु इनकी जो सबसे बड़ी विशेषता है वह यह कि इन्होंने प्रकृति चित्रण के लिये परम्परित रूढ़ियों को नहीं अपनाया है।

जयशंकर प्रसाद ने प्रकृति के अन्य पक्षों के चित्रण में जितनी तत्परता दिखाई है उतनी उसके स्वतन्त्र दर्शन में नहीं। प्राकृतिक दृश्यों की अनुभूति उनके अन्तर में इतनी अधिक है कि वे लुभावनी छटाओं को देखकर चमत्कृत हो उठते हैं :

मधुर है स्रोत, मधुर है लहरी,
न है उत्पात, छटा है छहरी।
कठिन गिरि कहाँ विदारित करना,
बात कुछ छिपी हुई है गहरी।
मधुर है स्रोत, मधुर है लहरी॥

( झरना )

प्रकृति को उपमा और रूपक के रूप में प्रस्तुत करने का कार्य कालिदास के पश्चात् 'प्रसाद' जी द्वारा भी हुआ। किसी वस्तु या व्यक्ति का वर्णन करने के लिये उपमाओं और रूपकों की आवश्यकता होती है जिसका अक्षय कोष प्रकृति है। प्रकृति को इस रूप में प्रस्तुत करनेवाले आधुनिक कवियों में प्रसाद जी का स्थान बहुत ऊँचा है :

खेल खेलकर खुली हृदय की कली मधुर मकरन्द हुआ।
खिलता था नव प्रणयानिल से नन्दन-कानन का अरविंद॥
विमल हृदय आकाश-मार्ग में अरुण विभा दिखलाता था।
फैल रही थी नव-जीवन सी वसन्त की सुखमय सन्ध्या॥
खेल रही थी नव सरवर में तरी पवन अनुकूल लिए।
सम्मोहन वंशी बजती थी, नव तमाल के कुञ्जों में॥

( प्रेम पथिक )

किन्तु जब कभी प्रकृति का मादक प्रभाव हृदय को अत्यधिक अभिभूत कर देता है तब उसे भी सचाई के साथ स्वीकार कर लेते हैं।

छोटे-छोटे कुञ्ज तलहटी गिरि कानन की शस्य भरी,
भर देती थी हरियाली ही हम दोनों के हृदयों में।

( प्रेम पथिक )

प्रसाद जी के काव्य में प्रकृति-चित्रण की जो सबसे बड़ी सफलता रही है वह प्राकृतिक पदार्थों के मानवीकरण की। 'कामायनी' का सारा का सारा प्रकृति चित्रण ऐसे उदाहरणों से भरा पड़ा है। जहाँ पर कवि ने भावनाओं एवं मनोवृत्तियों को अद्भुत मानवी स्वरूप प्रदान किया है, वहीं उसने प्राकृतिक उपादानों का जीवन्त चित्र ही नहीं खींचा है बल्कि उसे ऐसा मानवी स्वरूप प्रदान किया है कि भ्रम हुए बिना नहीं रहता। यही उनकी काव्य-कला का सबसे बड़ा रहस्य है जिसमें न तो प्राचीन रूढ़ियों का योग है और न तो शास्त्रीय नियमों का पालन, बल्कि कवि की अपनी उर्वर प्रतिभा एवं अद्भुत कल्पना का चमत्कार है। जब कवि कहता है—

बीती विभावरी जाग री।
अंबर पनघट में डुबो रही
तारा घट ऊषा नागरी।

तब एक सुकोमल-सुन्दर एवं मोहक नारी रूप सामने उपस्थित हो जाता है। इसके अतिरिक्त जहाँ कहीं भी उन्हें प्राकृतिक छटाओं का वर्णन करना पड़ा है। प्राय: उन्होंने यही शैली अपनाई है। जहाँ कहीं भी उन्हें रात्रि का चित्र खींचना पड़ा है—कहीं भी उन्होंने उसे न तो द्रोपदी की चीर कहा है और न विषैली काली नागिन। उसे केवल मानवी स्वरूप ही नहीं प्रदान किया है बल्कि उसके आभूषणों आदि तक को मानवीय ढंग से प्रस्तुत किया है—

विश्व कमल की मृदुल मधुकरी
रजनी तू किस कोने से,
आती चूम-चूम चल जाती
पढ़ी हुई किस टोने से।
× × × ×
पगली हाँ सम्हाल ले कैसे
छूट पड़ा तेरा अञ्चल;

देख, बिखरती है मणिराजी
अरी उठा बेसुध चञ्चल।
फटा हुआ था नील वसन क्या
ओ यौवन की मतवाली!
देख अकिंचन जगत लूटता
तेरो छवि भोली-भाली।

( कामायनी, आशा सर्ग )

चिरन्तन काल से नारी काव्य की गति-विधि को आगे बढ़ाती रही है। प्रत्येक युग में तत्कालीन सामाजिक मान्यता एवं आवश्यकता के आधार पर काव्यों में नारी रूप का चित्रण होता रहा है। ईसा की यह बीसवीं शताब्दी नारी जाति के इतिहास में विशेष महत्त्व रखती है। नारी-जीवन में परिवर्तन लाने की जितनी प्रबल क्रान्ति इस युग में हुई है उतनी अनेक युगों में मिल कर नहीं हो सकी। उसकी आँखों द्वारा खिड़कियों से देखा हुआ संसार अब इतना विस्तृत हो गया है कि उसके अन्दर उसके लाज, संकोच तथा अवगुंठन के झीने पट आत्मसात् होते जा रहे हैं। अब वह पुरुषों की गुलाम नहीं रह गई है बल्कि उनसे समानता का दावा रखती है और घर की चहारदीवारी से निकलकर सभा-मञ्चों तक पहुँच चुकी है। इस नारी-आन्दोलन को जो इतनी तीव्रता मिली है उसमें आधुनिक युग के कवियों एवं साहित्यकारों का विशेष हाथ है। मुख्यतः कवियों के मन में यह प्रतिक्रिया रीतिकालीन कविता के विरोध में हुई। नारी के सौन्दर्य, सामाजिक महत्त्व, व्यावहारिक पक्ष तथा गार्हस्थ्य जीवन आदि के सभी रूपों में महान् परिवर्तन उपस्थित हुआ है। 'प्रसाद' जी का स्थान उन कवियों में सर्व-प्रथम है जिन्होंने नारी जाति के अधिकारों की वकालत की है। इन्होंने अपने काव्य में नारी के पत्नी, प्रेयसी, गृहिणी आदि रूपों का चित्रण तो किया ही है, उसके साथ ही साथ उसके सौन्दर्य की जो कल्पना की है वह निश्चित ही हिन्दी काव्य-शैली को एक अपूर्व देन है। इन्होंने नारी-रूप का जो दृष्टिकोण अपनाया है उसमें उन रीतिकालीन सभी उपमानों का प्रायः बहिष्कार है जिसके लिये कदली-खम्भों, श्रीफलों तथा विषैली नागिनियों की आवश्यकता होती थी। इन्होंने अत्यन्त अछूती उपमाओं के साथ नारी के रूप और उसकी विशेषताओं का चित्रण किया है :

उषा की पहली लेखा कान्त,
माधुरी से भींगी भर मोद,
मद - भरी जैसे उठे सलज्ज
भोर की तारक द्युति की गोद।
कुसुम-कानन अञ्चल में मन्द
पवन - प्रेरित सौरभ साकार,
रचित परमाणु पराग शरीर
खड़ा हो ले मधु का आधार।

(कामायनी, श्रद्धा सर्ग)

मङ्गल कुंकुम की श्री जिसमें
निखरी हो उषा की लाली,
भोला सुहाग इठलाता हो
ऐसी हो जिसमें हरियाली।

(कामायनी, लज्जा)

रीतिकाल के कवियों ने नारी के जिस सौन्दर्य को ज्वालामय चित्रित किया था, 'प्रसाद' जी ने उसी सौन्दर्य को शान्ति और शीतलता प्रदान करनेवाला चित्रित किया है। इन्होंने सौन्दर्य को अनिर्वचनीय सत्ता के रूप में स्वीकार करते हुए उसे चेतना का उज्ज्वल वरदान कहा है जिसमें स्वप्नों की साकारता रहती है :

उज्ज्वल वरदान चेतना का
सौन्दर्य जिसे सब कहते हैं;
जिसमें अनन्त अभिलाषाओं के
सपने जगते रहते हैं।

(लज्जा सर्ग)

सौन्दर्य के लिए सम्भावित कल्पना भी उड़ान इन्होंने की है किन्तु साथ ही साथ इन्हें उसकी सम्भावना में बराबर सन्देह भी बना रहा है :

अम्बर-चुम्बी हिम-शृंगों से
कलरव कोलाहल साथ लिए;
विद्युत की प्राणमयी धारा
बहती जिसमें उन्माद लिए।

नारी की असमर्थता तथा पुरुष की उपेक्षा को 'प्रसाद' जी ने दोनों की समानता में ही नहीं बदला है बल्कि नारी को कुछ अंशों में पुरुष से अधिक समर्थ चित्रित किया है। यही कारण है कि श्रद्धा के प्रेरक उपदेश ही हताश मनु को जीवन-यात्रा में निरत करते हैं। 'प्रसाद' जी ने इसका पूर्ण अनुभव किया था कि पुरुष की उपेक्षा और वियोग में नारी बहुत आँसू गिरा चुकी है अब उसे भी तिरस्कार का अवसर मिलना चाहिये :

यह तीव्र हृदय की मदिरा
जी भर कर छककर मेरी,
अब लाल आँख दिखला कर
मुझसे ही तुमने फेरी।

( आँसू )

इसके साथ ही वे नारी को भी उसके कर्तव्यों के प्रति जागरूक रखने के लिये आदेश सा देते जान पढ़ते हैं :

आँसूसे भींगे अञ्चल पर
मन सब कुछ रखना होगा।
तुमको अपनी स्मिति रेखा से
यह सन्धि-पत्र लिखना होगा।

( कामायनी )

'प्रसाद' जी मानवतावादी कवि थे। यही कारण है कि इन्होंने उन सभी थोथी मर्यादाओं तथा बन्धनों का तिरस्कार किया है जो मानवता के विकास में विघ्न उपस्थित करते हैं और उन्होंने अपने काव्य में अपनी स्वच्छन्द कल्पना के बल से मानवता के भावी सुख का मार्ग भी दिखाया है।

कविवर 'प्रसाद' को कोमल भावों के कलाकार के रूप में ही अधिक स्वीकार किया जाता है, पर कवि की महान् प्रतिभा को किसी सीमा विशेष में आबद्ध कर देना समीचीन नहीं जान पड़ता, सो भी ऐसे कवि के लिए जिसने कविता की क्यारियों को अपने अन्तस्तल के आँसू से सींचा है, जिसका हृदय झरना बनकर लगातार माता के चरणों को धोता रहा है और जो प्रेम-पथिक के रूप में कानन कुसुम चयन करता हुआ भाव-समुद्र में

लहरों का उठना गिरना देखता रहा है। वह इतिहास के उन शुष्क मरुस्थलों और टूटे-फूटे श्मशानवत् ढूहों में भी चक्कर काटता रहा है, जो अतीत को वर्तमान से मिलाते और हमारे अन्दर अनेक सुप्त स्मृतियों को जगाते हैं।" इतिहास के ध्वंसावशेषों में भी समान मस्ती के साथ रमनेवाले कविवर 'प्रसाद' कवि दृष्टि से भावना और विज्ञान के समन्वय की प्रतिभा बनकर काव्य जगत् में उपस्थित हैं। उनकी काव्यसाधना का संपूर्ण आधार जीवन की एक श्रेष्ठ बौद्धिक धारणा पर आधारित है। 'प्रसाद' जी के हृदय में कवि का विकास ही प्राकृतिक भावोच्छ्वास को लेकर हुआ है। प्रकृति-प्रेम इनके काव्य में एक जिज्ञासा के रूप में आता है। वे प्रकृति की रमणीयता पर मुग्ध अवश्य हैं पर इस आकर्षण में वे अपने को ज्यों का त्यों सुरक्षित रखते हैं। भारत की प्राकृतिक सुषमा में वे राष्ट्रीय चेतना का उद्बोधन कराना नहीं भूल पाते। द्रष्टा प्रसाद की आँखों में प्रश्न की एक रेखा है जिससे वे जो कुछ भी देखते हैं उससे उनके हृदय में रसोद्रेक होता अवश्य है पर उसकी मात्रा इतनी नहीं कि वह उनके मनःप्राण को डुबा दे। कवि का मस्तिष्क विद्रोह कर उठता है, वह पूछता है यह सब क्या है? इसे कौन कर रहा है? जिसके इन प्रश्नों का कोई समाधान मिलता नहीं जान पड़ता। यह अतृप्त जिज्ञासा प्रकृति के साथ कवि-हृदय का मेल नहीं होने देती, जिससे वह उसकी शोभा और रमणीयता तक ही रह जाता है, दोनों के बीच जिज्ञासा की दीवार खड़ी है, सौंदर्य का भार विकसित और व्यापक नहीं होता। 'प्रसाद' का दार्शनिक और कवि रूप कहीं भी समन्वित नहीं हो पाता।

प्रकृति की गोद में चलनेवाले कार्यव्यापारों को देखकर मानव जीवन की विषमता को समाधान का स्वर प्रदान करने के लिये 'प्रसाद' जी किसी एक निष्कर्ष पर पहुँचने की चेष्टा भी करते हैं। अस्थिर चित्त मानव की स्थिति मधुर की सी है :

मधुप कब एक कली का है।
पाया जिसमें प्रेम रस, सौरभ और सुहाग,
बेसुध हो उस कली से, मिलता भर अनुराग,
विहारी कुंज गली का है।
कुसुम धूल से धूसारत चलता है उस राह,
काँटों में उलझा तदपि रही लगन की चाह,
बावला रंग रली का है।

हाँ मल्लिका, सरोजिनी, या यूथी का पुंज
अलि को केवल चाहिए, सुखमय क्रीड़ाकुंज,
मधुप कब एक कली का है !

"इसमें संदेह नहीं कि अँग्रेजी के कवि वर्डस्वर्थ के समान प्रकृति के साथ उनका निसर्गसिद्ध तादात्म्य नहीं दीख पड़ता, प्रत्येक पुष्प में उन्हें वह प्रीति नहीं जो वर्डस्वर्थ को थी। प्रत्येक पर्वत, प्रत्येक घाटी उनकी आत्मीया नहीं। वे प्रत्येक पक्षी को प्यार नहीं करते। उनका प्रेम रमणीयता से है, प्रकृति से नहीं। वे सुन्दरता में रमणीयता देखते हैं, उस सुन्दरता के सम्बन्ध में उनकी भावना रति की भी है और जिज्ञासा की भी। रति उनका हृदय-पक्ष है और जिज्ञासा मस्तिष्क पक्ष।"[1] पर इसी जिज्ञासा के कारण तो वे जड़ में चेतन का आभास पाते हैं। सामाजिक बन्धनों की निरुपायता में जब 'प्रसाद' जी का कवि विह्वल हो उठता है तब वह स्वयं को तृप्ति देने के लिये अपनी अनुभूतियों को वाणी देने लग जाता है। उस समय प्रकृति के सहारे ही तो वह सामाजिक निस्सारता की चर्चा कर पाता है :

निकल मत बाहर दुर्बल आह !
लगेगा तुझे हँसी का शीत
शरद नीरद माला के बीच
तड़प ले चपला-सी भयभीत।

पड़ रहे पावन प्रेम फुहार
जलन कुछ कुछ है मीठी पीर
सँभाले चल कितनी है दूर
प्रलय तक व्याकुल हो न अधीर।

अश्रुमय सुन्दर विरह निशीथ,
भरे तारे न ढुलकते आह !
न उफनाते आँसू हैं भरे,
इन्हीं आँखों में उनकी चाह।

काकली सी बनने की तुम्हें
लगन लग जाय न हे भगवान,
पपीहा का पी सुनता कभी ?
अरे कोकिल की देख दशा न।

१. आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी।

हृदय है पास साँस की राह
चले आना जाना चुपचाप,
अरे छाया बन छू मत उसे
भरा है तुझमें भीषण ताप ।।

हिलाकर धड़कन से अविनीत
जगा मत सोया है सुकुमार,
देखता है स्मृतियों का स्वप्न,
हृदय पर मत कर अत्याचार। (चन्द्रगुप्त)

ऐसे प्रसंगों से यदि प्रकृति को निकाल लिया जाय तो कलत्मकता के साथ-साथ भावगांभीर्य भी समाप्त हो जायगा और पारिस्थितियों की जिन विकटताओं का चित्रण कवि करना चाहता है उसका भी रंग फीका पड़ जायगा। इस प्रकार 'प्रसाद' के कवि ने युग की माँगों को न तो अस्वीकारा है और न अभिव्यक्ति के लिए उन्होंने परिस्थितियों से आँखें ही मूद ली हैं। आँसू में पुराने रंग अधिक हैं पर झरना की अपेक्षा अधिक पुराना रंग लेकर भी आँसू काव्य में प्रसाद की निकटतर अभिव्यक्ति है। इसमें रहस्य-वाद, छायावाद नहीं है और इसीलिए यह काव्य अधिकाधिक लोकप्रिय भी हो सका है। आँसू में जहाँ यौवन के उद्दाम विलास के अवरुद्ध हो जाने का क्रन्दन है वहाँ उसके यौवन का उतना उभार नहीं है, पर इसमें सन्देह नहीं कि निर्माण की भूमिका में प्रविष्ट होकर कवि ने अपने जीवन का सर्वग्राही प्रेम आत्मसात् कर लिया है जिसके कारण ही जन-जन का हृदय स्पर्श करने में आँसू की पंक्तियाँ अधिक समर्थ हो सकी हैं। 'प्राचीन यौवन विलास में वैभव की समाधि पर ही विरह का यह कलापूर्ण स्मारक खड़ा है। आँसू में कविमानव की सशक्त अभिव्यक्ति हुई है।' 'प्रसाद' में ऐसी आकर्षक पीड़ा है जिसके गर्भ में उषा की हलकी लज्जा झाँकती हुई ऐसी मनोरम दीखती है कि सहृदय पाठक के मन में आशा का संचार हुए बिना नहीं रह पाता। इसमें मानस में चलनेवाले युद्ध की छाया तो है ही पर उसके साथ ही साथ कवि का निहित सन्देश भी है। उसमें परिस्थिति के प्रति विद्रोह भी है और जीवन के साथ समझौता भी, आशा-निराशा, वियोग-संयोग तथा उत्थान और पतन आदि सबको प्रसाद-काव्य में प्रति-निधित्व मिला। 'प्रसाद' जी मानव भावनाओं के कवि हैं। 'प्रसाद' में कभी भी ऐसा व्यथा-चित्र नहीं मिलता जो एक अकिंचन का हो''''''यहाँ तो वियुक्त प्रेमी हृदय प्रियतम की याद में ही नहीं, बल्कि मिलन सुख से

पूर्ण वह अतीत जिस वैभव से जगमग था उसको खोकर भी रोता है। मर्म बहुत कम स्थलों पर जीवन से उठ सका है। उनके काव्य पर उनके खोये हुए किन्तु कभी भी विस्मृत न होने वाले अतीत वैभव की छाया है। 'आँसू' में कवि को सफलता इसलिए मिली है कि उसके विरह में भी मिलन की स्मृति अधिक शक्तिमती है। 'आँसू विरह काव्य के साथ ही साथ स्मृति-काव्य भी है।'

यह स्वाभाविक है कि जब कवि जीवन से भागना चाहता है तब वह भावों की सघनता के कारण भागने में असमर्थ हो जाता है। सुख-दुख, आशा-निराशा, छाया-प्रकाश तथा कथाओं के बीच गिरते-उठते, रोते-हँसते, उसे सामाजिक जीवन का निर्वाह करना ही पड़ता है। उसके मानस से अतुल शक्ति से पूरित हो उठने के लिए उमड़ते हुए विफल व्यक्तित्व का जो उल्लास है उसकी रेखाएँ स्मृति-पट पर अवश्य पड़ती हैं। विरहकाव्य तबतक अपूर्ण है जबतक वह हमें, हमारे दुखों और अभावों के बीच भी आशा और उल्लास का सन्देश न दे। 'आँसू' में 'प्रसाद' जी ने मानव-जीवन का वह चिरन्तन सत्य देखा है जो वेदनाओं के बीच पड़कर ग्रन्थि के रूप में नहीं परिणत होता बल्कि सबका पोषण प्राप्त कर और भी दृढ़ एवं जागरूक होता है। 'आँसू' के छन्द मानव-जीवन के प्रणय गीत हैं। भाषा के माधुर्य, भावों की बहुलता एवं सुन्दर उपमाओं तथा कल्पना की कोमलता से पूर्ण आँसू की कतिपय पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

**भाषा की मधुरता—**

छिल छिलकर छाले फोड़े मल मलकर मृदुल चरण से।<br>
घुल घुल कर बह रह जाते आँसू करुणा के कण से॥

**उपमा-कल्पना—**

शशि मुख पर घूँघट डाले अंचल में दीप छिपाये।<br>
जीवन की गोधूली में कौतूहल से तुम आये॥<br>
काली आँखों में कितनी यौवन के मद की लाली।<br>
माणिक मदिरा से भर दी किसने नीलम की प्याली॥<br>
मुख-कमल समीप सजे थे दो किसलय दल पुरइन के।<br>
जलबिन्दु सदृश ठहरे कब उन कानों में दुख किनके॥

**विरह का तत्वज्ञान—**

छलना थी तब भी मेरा उसमें विश्वास घना था।<br>
उस माया की छाया में कुछ सच्चा स्वयं बना था॥

तुम सत्य रहे चिर सुन्दर मेरे इस मिथ्या जग के।
क्या कभी न थे तुम साथी कल्याण कलित इस मग के ॥

उपरोक्त पद्यों में रूप-वैभव एवं विलास का बड़ा ही उत्कृष्ट काव्यमय वर्णन है। निराशा एवं व्यथा के तिमिर को काटकर आशा की कोमल शक्ति-दायिनी किरणें प्रसार पाती दीख पड़ती हैं। विरह-मिलन को जीवन के सामान्य क्रम में ग्रहण करते हुए 'प्रसाद' जी ने अन्तिम पंक्तियों में वेदना के बोझ से दवे हुए रहने पर भी ऊपर उठने की चेष्टा की है :

मानव जीवन-वेदी पर परिणय है विरह-मिलन का।
सुख-दुख दोनों नाचेंगे है खेल आँख का मन का ॥
विस्मृति समाधि पर होगी, वर्षा कल्याण जलद की।
टख सोया थका हुआ सा चिन्ता छुट जाय विपद की ॥
चेतना लहर न उठेगी जीवन समुद्र थिर होगा।
संध्या हो सर्ग प्रलय की विच्छेद मिलन फिर होगा ॥

प्रेम और आशा-निराशा की मंगल साधना में ही काव्य और कवि की शक्ति की परीक्षा होती है जिसमें 'प्रसाद' का कवि खरा उतरा है। हम देखते हैं कि 'आँसू' के बाद उनके काव्य में आशा का प्रवल स्वर सुनाई दे जाता है। उनकी रचनाओं को देखकर यह निश्चय हो जाता है कि स्रष्टा ने यौवन के क्षणों को जिन्दादिली के साथ केवल बिताया ही नहीं है बल्कि उसमें ओत-प्रोत भी रहा है। "प्रेम यौवन की कुंजगली से निकल कर जीवन-यात्रा के रजत पथ पर वह आ गया है। उसने आशा और प्रकाश के साथ ही साथ अपनी मानवता की विजय-यात्रा भी आरंभ कर दी है। मानवता की यह विजय-यात्रा 'कामायनी' में जाकर पूर्ण होती है।"

कामायनी' में 'प्रसाद' के कवि, दार्शनिक, चिन्तक और कलाकार सभी पक्ष साकार हो गए हैं। इस काव्य में मानवता को कला का रूप दिया गया है। कवि जीवन के रहस्यात्मक तत्वों तक प्रविष्ट हो जाता है। 'प्रसाद' के इस काव्य में दर्शन, चिन्तन, जीवन और कला का अद्भुत समन्वय मिलता है। 'लहर' में तो कवि ने चिर आनन्द का सन्देश ही दिया है।

## निराला

'निराला' जी वास्तव में हिन्दी के क्रान्तिकारी कवि हैं। उनकी कवि-ताओं में उनकी परिस्थिति और जीवन अपने आप उतर कर चला आया है

क्योंकि समाज में उसका कोई था नहीं जिसके लिये वह अपनी अनुभूतियों तथा भावों को छिपाकर रखता। जिसने जीवन भर समाज से विद्रोह ही पाया हो वह विद्रोही नहीं होगा तो और क्या होगा। जीवन के आरम्भ से ही उन्हें जूझना पड़ा। उन्होंने युग के विष को नीलकण्ठ की भाँति पी लिया है और अपना सर्वस्व युग की रक्षा के लिये लगा दिया है। आदि से अन्त तक उनकी कविताओं में प्राचीन रूढ़ियों के प्रति विद्रोह बना हुआ है। चाहे वे सामाजिक रूढ़ियाँ हों अथवा साहित्यिक, इनका विद्रोही व्यक्तित्व इनकी रचनाओं में सर्वत्र अत्यन्त परुष रूप में अभिव्यक्त हुआ है। ये हिन्दी के पुरुष कवि हैं। व्यक्तित्व की जैसी निर्बाध अभिव्यक्ति इनकी कविताओं में हुई है वैसी अन्य किसी आधुनिक कवि में नहीं।

कुछ विद्वानों का कहना है कि निराला जी के विकास के मूल में भावना की अपेक्षा बुद्धि-तत्व की प्रमुखता है और उनके गम्भीर दार्शनिक अध्ययन के कारण ही उनकी कविताओं में बौद्धिक उत्कर्ष अपनी पराकाष्ठा तक पहुँच गया है। किन्तु नितान्त ऐसी बात नहीं जान पड़ती क्योंकि इनके भावावेगों के कारण ही इनकी कविता के शास्त्रीय किनारे टूटते से जान पड़ते हैं। निराला जी अपने भावावेगों पर अंकुश नहीं रख पाए हैं जिससे उनके भावों की अविरल धारा बड़े वेग से बहती है और इसी बहाव के कारण उनकी कविताओं में कहीं कहीं ऐसे प्रसंग छूट जाते हैं जिनके बिना ही वह दुर्बोध हो जाती है और साधारण पाठक की समझ से दूर की वस्तु बन जाती है। इनके प्रगीतों में किसी न किसी प्रकार की कथा का आश्रय पाया जाता है। निराला जी का यह कथा-प्रेम प्राचीन मान्यताओं को नया रूप देने की अभिलाषा ही है। इन्होंने 'तुलसीदास' नामक कविता के द्वारा यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि नारी का सौन्दर्य केवल स्थूल उसकी शारीरिक मांसलता में ही नहीं है जो पुरुषों की वासना की तृप्ति के लिये बनी है बल्कि उसके अन्दर वह शक्ति भी है जो पुरुष की वासना को धक्का देकर उसमें किसी अतीन्द्रिय सौन्दर्य की अनुभूति भी उत्पन्न कर सकती है, वह यह दिखला सकती है कि नारी बेजबान प्रतिमा नहीं है बल्कि एक दिव्य रमणीय मूर्ति भी है और वह यह दिखला सकती है कि वह इतनी सीमित और संकुचित नहीं है जितना कि पुरुष उसे समझता आया है। तुलसी ने 'रत्नावली' का जब यह स्वरूप देखा तो उनकी आँखें सहसा खुल गईं और जिसे उन्होंने अब तक बन्धन समझ रखा था वह ही मुक्त होने का एकमात्र साधन जान पड़ने लगी :

'जिस कलिका में कवि रहा बन्द ।
वह आज उसी में खुली मन्द ॥
भारती रूप में सुरभि छन्द निष्प्रश्रय ॥'

नारी को इस रूप में देखने की निरालाजी की आधुनिक युग को एक बहुत बड़ी देन है। नारी-सौन्दर्य को आँकने के लिए जितनी कसौटियाँ पूर्ववर्ती युग के कवियों ने और मुख्यतया रीतिकालीन कवियों ने बना रखी थीं, इस कवि की उर्वर प्रतिभा ने उन्हें स्वीकार नहीं किया। नारी-सौन्दर्य के चित्रांकन में उसकी दृष्टि इतनी तटस्थ रहती है कि कहीं भी उसकी नायिका अमर्यादित ढंग से हमारे सम्मुख नहीं आने पाती। वह सदैव एक लक्ष्मण-रेखा से घिरी रहती है। रात्रि जागरण से अलसाए नेत्रों वाली उसकी तन्द्रिल नायिका का यह रूप देखते ही बनता है—

हेर उर-पट, फेर मुख के बाल,
लख चतुर्दिक् चली मन्द मराल,
गेह में प्रिय-स्नेह की जयमाल
वासना की मुक्ति मुक्ता त्याग में तागी।

(गीतिका)

स्पष्ट है कि निराला का नारी-सौन्दर्य-चित्रण अतीन्द्रिय है और उसकी नारी ऐन्द्रिय वासनाओं से सर्वथा दूर रहती है।

'राम की शक्तिपूजा' को लेकर कवि लौकिकता की भूमि पर इसलिये उतर आया है कि वह सामाजिक आदर्शों को जन-साधारण के लिए अधिक सुलभ और विश्वस्त बना सके। निराला के 'राम' आदर्श मानव हैं जिससे उनके कार्य हमें अधिक आकर्षित करते हैं। प्रेम का जैसा सुन्दर प्रस्फुटन, सायंकाल युद्ध से लौटे हुए राम के हृदय में, निराला जी दिखा सके हैं वैसा जनक-वाटिका में आमने-सामने रखकर भी तुलसीदास जी नहीं कर पाए हैं। पावन प्रेम की जो प्रतिष्ठा स्वच्छन्दतावादी कवियों द्वारा हो सकी है वह हिन्दी के पूर्ववर्ती काव्यों में नहीं दिखाई पड़ती। जीवन में प्रेम एक बार प्रथम दर्शन में ही एक से होता है। राम को परिणीता सीता का स्मरण नहीं आता बल्कि कुमारी सीता की सलोनी मूर्ति ही कल्पना की आँखों में आकर विह्वल कर देती है :

'याद आया उपवन।
विदेह का प्रथम स्नेह का लतान्तराल मिलन

नयनों का नयनों से गोपन-प्रिय सम्भाषण—
पलकों का नवपलकों पर प्रथमोत्थान-पतन—
काँपते हुए किसलय, झरते पराग समुदय,
गाते खग नवजीवन-परिचय तरु मलय वलय—
ज्योतिःप्रताप स्वर्गीय-ज्ञात छवि प्रथम स्वीय।
जानकी-नयन-कमनीय प्रथम कम्पन तुरीय॥

'सरोज-स्मृति' तो कवि के जीवन की करुण कहानी है। उन्होंने इस कविता के माध्यम से अपने जीवन की सच्ची घटनाएँ कह डाली हैं। किस प्रकार प्राचीन अन्ध-विश्वासों में पले हुए लोग नवीन जागरण का स्वागत नहीं कर पा रहे थे, स्वच्छन्द मुक्त-छन्द की कविताओं की किस प्रकार उपेक्षा की जाती थी, वे किस प्रकार सम्पादकों के द्वारा लौटा दी जाती थीं, आदि सभी आप-बीती घटनाओं को उन्होंने कह सुनाया है। समाज की प्राचीन परम्पराएँ उन्हें स्वयं अमान्य थीं क्योंकि उन्होंने स्वयं अपनी लड़की का ब्याह परम्परित रूढ़ियों की कुछ भी परवाह किये बिना अत्यन्त नवीन ढंग से किया था। अपनी बात को सचाई से कहनेवाला इस युग में निराला के समान दूसरा नहीं हुआ। उन्होंने गँवार दामाद का जो यथार्थ चित्र उरेहा है वह सच्चा और स्वाभाविक ही नहीं, बल्कि उनकी घृणा और उपेक्षा का भी द्योतक है :

'वे जो यमुना के से कछार
पग फटे बिवाई के, उधार
खाये के मुख ज्यों, पिये तेल
चमरौधे जूते से, सकेल
निकले, जो लेते, घोर-गन्ध
उन चरणों को मैं यथा अन्ध
कल घ्राण-प्राण से रहित व्यक्ति
हो पूजूँ ऐसी नहीं शक्ति।

कथा की सूत्रता उनके उमड़ते हुए भावों पर अंकुश का कार्य नहीं कर पाई है : साहस और संयम का जितना सुन्दर समन्वय तथा रूढ़ियों को खुलकर जितनी चुनौती देने की शक्ति निराला जी में है उतनी न तो 'प्रसाद' में है और न तो 'पन्त' में। यह 'निराला' जी का ही साहस था कि उन्होंने अपनी नव परिणीता पुत्री के सौन्दर्य का अत्यन्त मुक्त भावना से वर्णन किया है। यद्यपि इस चित्रण से मांसलता के स्थान पर करुणा अधिक टपकती है फिर भी इससे कवि की निरपेक्षता तो स्पष्ट हो ही जाती है। जीवन

में जिन घटनाओं तथा वस्तुओं का जैसा प्रभाव इनके मस्तिष्क पर पड़ा है उसका उसी रूप में चित्रण करना कवि को अभीष्ट रहा है।

'निराला' जी के विकास की चार रेखाएँ हैं: इनके विकास की प्रथम रेखा अनामिका में मिलती है जो बुद्धिवाद से अत्यधिक प्रभावित है। इनकी कविताओं के बुद्धिवादी होने का एकमात्र कारण इनका गम्भीर दार्शनिक अध्ययन ही है जिससे बौद्धिक उत्कर्ष अपनी पराकाष्ठा तक पहुँच गया है। इनपर वेदान्त की गहरी छाप तो है ही, बंगाल के रामकृष्ण मिशन और स्वामी विवेकानन्द के धार्मिक एवं दार्शनिक सिद्धान्तों का भी इनपर प्रभाव पड़ा है। इनकी ऐसी अनेक कविताएँ हैं जिनमें अद्वैतवादी बुद्धितत्व की प्रधानता है और जो सूक्ष्म दार्शनिक आधार लेकर लिखी गयी हैं। निराला जी इस सम्पूर्ण जीवन और जगत को मिथ्या मानते हैं, सत्य केवल उस आनन्द-स्वरूप ब्रह्म को ही मानते हैं जो अदृश्य है किन्तु उसका विराट् स्वरूप सृष्टि के कण-कण में रमा है जिसमें ही रमकर जीव आनन्द प्राप्त कर सकता है। इनका यह दार्शनिक अद्वैतवाद केवल बौद्धिक है क्योंकि हृदय से वे भक्ति और प्रेम में आस्था रखते हैं। वे शक्ति के उपासक हैं इसी लिये 'राम की शक्ति पूजा' में कहते हैं 'केवल हनुमत् प्रबोध'। हनुमान की महिमा उनके यहाँ इसलिये नहीं है कि वे 'राम' के अनन्य भक्त हैं, बल्कि इसलिये कि वे अपार शक्ति रखते हैं। मस्तिष्क से निराकार अदृश्य एवं अनन्त ब्रह्म के उपासक होते हुए भी वे हृदय से साकार रूप के उपासक हैं। उनके मत्त हृदय की विह्वलता देखिये, 'डोलती नाव प्रखर है धार। सँभालो जीवन खेवनहार'। इतना अवश्य है कि उनकी आन्तरिक प्रेरणाएँ भक्तोचित भावुकता से पूर्ण हैं इसीलिये उनका रहस्यवाद उलझी हुई पहेली नहीं है वरन् सुलझा हुआ रहस्य है। उनकी वृत्तियाँ स्पष्ट नहीं होने पाई हैं। एक वाक्य में कहा जा सकता है कि उनकी कविताओं में दर्शन और भक्ति का समन्वय है। उनकी प्रतिभा स्वाभाविकता तथा युगानुरूपता के बीच दौड़ लगा रही है।

इनके प्रथम विकास के अन्दर ही स्वच्छन्द मुक्त छन्दों में यदि एक ओर 'जुही की कली' जैसी कोमल शृंगारपूर्ण रचना है तो दूसरी ओर 'जागो फिर एक बार' जैसी ओजपूर्ण रचना। इनकी जुही की कली, प्रकृति के मानवीकरण की दृष्टि से हिन्दी की श्रेष्ठ रचना है। निराला ने प्रकृति को उद्दीपनरूप में नहीं देखा और न विशेषकर उन्होंने आलम्बन रूप में उसका सीधा-सादा वर्णन प्रस्तुत कर देना ही उचित समझा है, बल्कि उन्होंने उसमें

भी मानव की सी चेतना देखी है। यही कारण है कि प्रायः उन्होंने प्रकृति में अपने भावों की छाया देखी है, उन्हें प्रकृति से भी वही संकेत मिलता है जो उनके मस्तिष्क में गूँज रहा है। कृष्ण-काव्य का सम्पूर्ण साहित्य यमुना के कछारों, लता-कुंजों के झुरमुटों तथा किनारे पर पाये जाने वाले कदम्ब आदि वृक्षों की डालों को लेकर लिखा गया है किन्तु इतने अपार साहित्य में एक भी ऐसा विशाल जीवंत चित्र नहीं आ सका है जो कि निराला जी ने अपनी 'यमुना के प्रति' नामक एक कविता में ला दिया है। यमुना का प्रत्येक कल-कल स्वर कवि को अतीत का गान सुनाता है। वह उसके कछारों में काम-क्रीड़ा के दर्शन नहीं करता बल्कि उसे उसमें भारत का अतीत दिखाई पड़ता है। "इसी प्रकार 'दिल्ली' नाम की कविता में दिल्ली की भूमि पर दृष्टि डालते हुए 'क्या यह वही देश है' कहकर कवि अतीत की कुछ इतिहास-प्रसिद्ध बातों और व्यक्तियों को बड़ी सजीवता के साथ मन में लाता है।"[१]

'निस्तब्ध मीनार
मौन हैं मकबरे—
भय से आशा को जहाँ मिलते थे समाचार।
टपक पड़ता था जहाँ आँसुओं में सच्चा प्यार।'

हमने पूर्व ही इसका संकेत कर दिया है कि निराला जी समाज की परम्परित रूढ़ियों के दुर्वह भार को सहन नहीं करना चाहते थे। उन्होंने समाज की प्रायः सभी दूषित मान्यताओं एवं परम्पराओं को आमूल नष्ट कर देने की पूर्ण चेष्टा की है, इनका यह विद्रोह साहित्य, समाज और जीवन सभी दिशाओं में हुआ है, हमें उनकी आरंभिक कविताओं में ही उनकी स्वच्छन्दतावादी प्रकृति पूरे वेग पर मिलती है। 'पंचवटी' प्रसंग में गतानुगतिक ढंग से राम-कथा को नहीं चित्रित किया गया है, शूर्पणखा वहाँ शायद एक नये ढंग से नारी के रूप में उपस्थित की गई है, किसी बीभत्स राक्षसी के रूप में नहीं। सच पूछा जाय तो निराला से बढ़कर स्वच्छन्दतावादी कवि हिन्दी में कोई नहीं है। परिमल की जिन रचनाओं में वस्तु-व्यंजना की ओर कवि का ध्यान है उनमें उनका व्यक्तित्व स्पष्ट नहीं हुआ, किन्तु 'तुम और मैं', 'जुही की कली' जैसी कविताओं में उनकी कल्पना उनके आवेगों के साथ होड़ करती है।'[२] भारतीय संस्कृति एवं

१. आ० रामचन्द्र शुक्ल, 'हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ७१७
२. हजारीप्रसाद द्विवेदी, हिन्दी साहित्य, पृ० ४८६।

सभ्यता के अपूर्व समर्थक होते हुए भी निराला जी ने एडवर्ड अष्टम की अपनी कविता में इसलिए प्रशंसा की कि उसने राजवंश एवं इग्लैंड की सभी सामाजिक व्यवस्थाओं एवं परम्पराओं को लात मारकर एक अमेरिकी महिला से परिणय-सम्बन्ध स्थापित किया। समाज को साहस के साथ चुनौती देने वाला व्यक्ति का निराला की कविताओं में स्थान पा जाना स्वाभाविक है। जिस प्रकार निराला जी को सामाजिक बन्धन अरुचिकर हैं उसी प्रकार काव्य के छन्द-बन्धन भी। निराला जी हिन्दी कविता में बाह्य-कला की स्वच्छन्दता के सूत्रधार हैं। इनमें कवित्व कम किन्तु भावों का उद्वेग अधिक है। उनकी स्वाभाविक स्वच्छन्द एवं विद्रोही प्रकृति ने हिन्दी साहित्य में मुक्त छन्दों की परम्परा चलाई।

इनके ये मुक्त छन्द दो प्रकार के हैं, तुकान्त और अतुकान्त। इन छन्दों में लय है, गति है किन्तु कहीं-कहीं अधिक स्वच्छन्द होने के कारण वह गद्य सा हो गया है, और उसकी शृङ्खला भी ऐसी अस्त-व्यस्त हो जाती है कि वह सांकेतिक भाषा सी जान पड़ने लगती है—

'राघव-लाघव-रावण-वारण गत युग्म-प्रहर,
उद्धत-लंकापति-मर्दित-कपिदल-बल विस्तर
अनिमेष-राम-विश्वजिद् दिव्य-शर-भंग-भाव।
विद्धांग-बद्ध कोदंड-मुष्टि-खर-रुधिर-स्राव।'

शुक्ल जी के अनुसार, सबसे अधिक विशेषता आपके पद्यों में चरणों की स्वच्छन्द विषमता है। कोई चरण बहुत लम्बा, कोई बहुत छोटा, कोई मझोला देखकर ही बहुत से लोग रबर छन्द, केंचुआ छन्द आदि कहने लगे थे। वेमेल चरण की आजमाइश इन्होंने सबसे अधिक की है।' 'प्रगल्भ प्रेम' नाम की कविता में अपनी प्रेयसी कल्पना या कविता का आह्वान करते हुए इन्होंने कहा है—

आज नहीं है मुझे और कुछ चाह,
अर्द्ध-विकच इस हृदय कमल में आ तू।
प्रिये! छोड़कर बन्धन-मय छन्दों की छोटी राह।
गज-गामिनि वह पथ तेरा संकीर्ण,
कंटकाकीर्ण।

इनकी कविता में समासयुक्त लम्बी पदावली का बाहुल्य और क्रिया-पदों का लोप पाया जाता है। इनके एक-एक शब्द में एक-एक वाक्य का

अर्थ एवं विस्तार रहता है। लाक्षणिक प्रयोग कम हैं, जितने भी स्वच्छन्द छन्द हैं उनमें अवधी शैली का ही अधिकतर प्रयोग किया गया है। संगीतात्मकता, ओज, नाटकीयता, अनुप्रास-योजना और नवीन उपमाओं का प्रयोग इनकी शैलीगत कुछ अन्य विशेषताएँ हैं। निराला की शैली में शृंगार की मधुरिमा और वीर-रस या ओज, दोनों साथ-साथ पाए जाते हैं। इनके जैसा संयत शृंगार का वर्णन करने वाला आधुनिक हिन्दी-साहित्य में बिरला ही मिलेगा। इनके शृङ्गारिक काव्य में भी एक दार्शनिक तटस्थता है। नंगे से नंगे चित्र भी संयत और पवित्र हैं—

> 'पल्लव-पर्यंक पर सोती शेफाली के।
> मूक- ाह्वान भरे लालसो कपोलों के व्याकुल विकास पर
> झरते हैं शिशिर से चुम्बन गगन में॥'

भाषा के संस्कृत-गर्भित होने के कारण जहाँ कविता में बौद्धिकता आ गई है, वहाँ वह जटिल अवश्य है और जहाँ भावुकता के वेग में कवि की विचारधारा आगे बढ़ी है, वहाँ कोमलकान्त पदावली और सरस भाषा का प्रयोग हुआ है।

निराला को खड़ी बोली की क्रान्ति का सबसे बड़ा नेता माना जाय तो कोई अतिशयोक्ति न होगी। खड़ी बोली के सम्बन्ध में हिन्दी-काव्यधारा में उन्होंने युगांतकारी परिवर्तन किया। भाषा के साथ साथ हिन्दी काव्य में मुक्त छन्दों की नवीन परम्परा के योगदान से उन्होंने युगान्तर ला दिया। निराला जी को एक अर्थ में प्रगतिशील नहीं कहा जा सकता क्योंकि प्रगतिवाद के लिए निश्चित की गई सीमाओं में उनको आबद्ध नहीं किया जा सकता किन्तु स्वाभाविक एवं सत्य मानदण्डों की दृष्टि से उनके यथार्थ में प्रगतिशील रूप का दर्शन किया जा सकता है। उनके काव्य में दार्शनिक रूढ़ियाँ अधिक मुखर हुई हैं, फिर भी विभिन्न वर्गों के जीवन की स्पष्ट झाँकी उनके काव्य में देखी जा सकती है। कवि की चेष्टा यही रही है कि वह कहीं यथार्थ की भाव-भूमि से न उतरे, इस चेष्टा में सत्य और यथार्थ के प्रति कवि का कट्टर अनुराग और असत्य तथा अयथार्थ के प्रति उसकी तीव्र घृणा अधिक भास्वर हो उठी है। इस प्रयास में भौतिक पक्ष पर इनके बौद्धिक पक्ष की विजय भी दृष्टिगत होती है। युगवाणी और युग की पगध्वनि का अनुवर्द्धन करने के साथ ही साथ कवि अपने भावों और विचारों के प्रति भी पर्याप्त दृढ़ है। समाज की जर्जर और विकृत रूढ़ियाँ अवश्य परिहार्य हैं

लेकिन परिष्कृत रूप में उन्हें ग्रहण भी किया जा सकता है, प्रगतिशीलता के सम्बन्ध में कवि की मान्यता का यह दूसरा पहलू है। कवि की इस विचित्र प्रगतिशीलता का दर्शन 'कुकुरमुत्ता' नामक काव्य में सरलता से किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त अणिमा, बेला, नये पत्ते आदि की कविताएँ वास्तव में विचार और भावनाओं के नए पत्ते और पुष्प लेकर सामने आती हैं।

निराला जी की कविताओं में उस वर्ग का चित्रण मिलता है जिसकी स्थिति अभाव, शोषण, दुख-दमन और उपेक्षा पर ही है। समाजवादी भावनाओं का समर्थन करने वाली कुछ कविताएँ ऐसी भी मिल जाती हैं जो बुद्धिवाद से बिल्कुल पार्थक्य रखती हैं। अत्याचार और दमन के प्रति कवि की प्रतिक्रियात्मक भावना को निम्नलिखित पंक्तियों में वाणी और स्वर मिल गया है—

जमीन्दार का सिपाही लठ्ठ कन्धे पर डाले आया
और लोगों की ओर देखकर कहा, डेरे पर थानेदार
आए हैं, डिप्टी साहब ने चन्दा लगाया है।
एक हफ्ते के अन्दर देना है, चलो बात दे
आओ। कौड़े से कुछ हटकर
लोगों के साथ कुत्ता खेतिहर का बैठा था चलते
सिपाही को देखकर खड़ा हुआ और भौंकने लगा,
करुणा से बन्धु खेतिहर को देखकर।

नये पत्ते, पृ० ५४

अपनी क्रान्तिकारी स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्तियों के कारण 'निराला' आज भी काव्य-जगत् में प्रासंगिक और कवियों के प्रेरणा-स्रोत हैं।

## सुमित्रानन्दन पन्त

हिन्दी साहित्य में काव्य की स्वच्छन्दधारा के प्रवर्त्तकों में श्री सुमित्रानन्दन पन्त का नाम अग्रगण्य है। काव्य की स्वच्छन्दधारा का पूर्ण विस्तृत और सलिलमय रूप हमें सर्वप्रथम पन्त जी के ही काव्य में दिखाई देता है। इनके पूर्व दो, एक कवियों ने रीति की दृढ़ आबद्ध शृंखलाओं को झनझनाने का प्रयत्न अवश्य किया था पर उन्हें यथोचित सफलता नहीं मिल सकी थी। समस्त रूढ़ियों, समस्त बन्धनों एवं समस्त दूषित मान्यताओं को सहसा ठुकरा कर कल्पना के रेशमी कलेवर में पंख फड़फड़ाता हुआ यह कवि-विहंग उन्नत

और उस विस्तृत फैले हुए लोक की ओर उड़ चला जहाँ चाँद और सितारों का देश है, जहाँ ठंढी-ठंढी हवा आत्मा तक को शीतल कर देती है, जहाँ सिर उठाए हुए विशाल पर्वत खड़े हैं, जहाँ कल्पनालोक की परी आकर कवि के लम्बे घुँघराले बालों में अपनी कोमल-कोमल शीतल अंगुलियाँ डाल देती है। जिस युग में यह बालविहंग कवि पैदा हुआ उस युग को ऐसी उड़ान स्वीकार नहीं थी। अगर वह कुछ ऊपर उठना भी चाहता था तो केवल डोर की पतंग की तरह जिसकी सीमाएँ निश्चित हैं। पण्डित महावीर-प्रसाद द्विवेदी, अयोध्या सिंह उपाध्याय ऐसे महारथी उस समय साहित्य की डोर पकड़े हुए थे। काव्य की इस नई धारा के वे एक स्वर से विरोधी थे। पर इस काव्य में एक जादू था, एक विह्वल आकर्षण था जो उनको भी खींच लेता था। स्वयं द्विवेदी जी के सम्पादकत्व में 'सरस्वती' के मुखपृष्ठ पर 'पन्त' जी की कविताएँ छपा करती थीं।

पन्त जी की कविता की मूल प्रेरणा प्रकृति है। प्रकृति की गोद में पला हुआ कवि उसे छोड़ने से मजबूर है। जीवन का कठिन कर्मक्षेत्र मजबूरन उसे अपनी ओर खींचता है। ऐसी खींचातानी में कवि की आँखों में आँसू आ जाते हैं। प्रकृति के साथ उनका प्राण भींग कर एक हो गया है। काव्य में प्रकृति-चित्रण आधुनिक युग में पं० श्रीधर पाठक से आरम्भ होता है। उन्होंने ही समझ लिया था कि स्वच्छन्दता का अर्थ प्रकृति का प्रांगण है। इसे 'पन्त' जी ने एक नई दृष्टि से समझा। रोमांटिक कविताओं में मनोभावों को उद्दीप्त करने की एक अपूर्व क्षमता होती है और यदि कहा जाय कि भूमिवत् प्रकृति को ही सारा का सारा श्रेय है, अत्युक्ति न होगी। प्रकृति के विविध रंगीन दृश्य, झरने, नाले, नदी, पहाड़, बादल, वृक्ष आदि अनजाने में ही मनुष्य के हृदय में एक रूमानी भावना का प्रस्फुरण कर देते हैं। इन्हें देखकर मनुष्य अपने को खो बैठता है। उसे एक अपूर्व आनन्द का अनुभव होने लगता है। उसकी अर्धचेतना में पड़ी हुई सौन्दर्य भावना को खुलकर सामने आ जाने का अवकाश मिल जाता है। उस समय ऐसा जान पड़ता है कि इन्द्रियों के समस्त बन्धन ढीले पड़ गए हैं। इन्द्रियों में एक अद्भुत प्रसार आ जाता है। कभी-कभी तो इन्द्रियों के कार्य भी बदल जाते हैं।

पन्त जी के समस्त काव्य में प्रकृति आवरण बनकर छाई हुई है। उनकी कितनी ही रचनाएँ सर्वथा प्रकृति के ऊपर ही हैं। उसका विविध रूप उनके मन को मोह लेता है। उनका समस्त क्रियाकलाप प्रकृतिमय है।

'पल्लव' में प्रकृति इतने उभार के साथ एवं रंजित रूप में सामने आई है कि देखते ही बनता है। कवि चिर प्रकृति-सेवक और एकान्त भ्रमण-प्रेमी है। उसे निराशा तब होती है जब कोमल भावनाओं को जगाने वाला—

'न पत्रों का मर्मर संगीत
न पुष्पों का रस राग-पराग' ( मिलता है। )

'पल्लव' की कविताएँ नवीन किसलय हैं, जो वासन्ती वायु के मीठे झोंके में लहरा रहे हैं। इन्होंने अपनी सुध बुध खो दी है।

नारी समस्त काव्य की प्रेरणा है, पर कवि प्रकृति के सम्मुख नारी के रूपजाल में भी उलझने से मजबूर है :

'छोड़ द्रुमों की मृदु छाया
तोड़ प्रकृति से भी माया
बाले, तेरे बाल-जाल में कैसे उलझा दूँ लोचन।

मनुष्य की भाँति कवि को प्रकृति में भी एक संवेदनशील हृदय मिला जो मनुष्य की भावुकता से खेलता है, उसे सजाता है :

**बाल काल में जिसे जलद से कुमुद कला ने किलकाया,**
**तारावलि ने जिसे रिझाया मृदु स्वप्नों से सहलाया,**
**मारुत ने जिसकी अलकों में चंचल चुम्बन उलझाया।**

प्रकृति के कोमल पक्ष में कवि का मन अधिक रमता है। 'परिवर्तन' आदि कविताएँ केवल खानापूरी हैं जो कवि के कौशल से चमक उठी हैं। प्रकृति के रुक्ष रूप से रूमानी भावनाओं का जागरण होना तनिक कठिन है। रोमांस और भय का सामञ्जस्य अधिक उपयुक्त नहीं बैठता। इसीलिए 'पन्त' जी कोमल रूप को ही अधिक पकड़ते हैं। प्रकृति का प्रत्येक दृश्य पाठक के सामने नाचता है। ऐसा मालूम होता है जैसे उसने यह दृश्य अभी-अभी प्रत्यक्ष अपनी आँखों से देखा हो। अल्मोड़े की घाटी का वह सुन्दर दृश्य तो सदा के लिये उनकी आँखों में समा गया है। वहाँ क्षण-क्षण में बदलने वाला सौन्दर्य है। बादलों की धूपछाँह में कवि आँख-मिचौनी खेलना चाहता है। पावस ऋतु का यह पर्वत प्रदेश और इसका क्षण-क्षण में बदलता हुआ वेश, मेखलाकार अपार पर्वतों की माला, नैनीताल की निर्मल शान्त एवं सुन्दर झील में उसकी प्रतिक्रिया को अपने में बाँध लेती है।

ऐसे मनोरम दृश्यों को देखकर कवि में एक विस्मय की भावना का उदय होता है। इन सभी प्रकृति-व्यापारों एवं उसके क्रिया-कलापों के प्रति उसका मन विस्मय से भर जाता है। स्वच्छन्दता की उड़ान विस्मय लोक को ही अपनी मंजिल मानती है। एक रोमांटिक कवि इसी लोक में पहुँच जाने की कामना करता है। पक्षियों की सुमधुर काकली और चहचहाहट पर उसे आश्चर्य होता है कि इतना सुमधुर गाना इन सबने किससे और कैसे सीखा है! कवि इस गान विद्या को सीखने के लिये आतुर हो जाता है:

सिखा दो ना हे मधुप कुमारि,
मुझे भी अपने मीठे गान

× × ×

**प्रथम रश्मि का आना रंगिणि कैसे तुमने पहचाना।**
**कहाँ कहाँ हे बाल विहंगिनि पाया तुमने यह गाना॥**

कवि को प्रकृति के विभिन्न उपकरणों से बुलवा आता है। काले मेघ में रह-रहकर चमक उठनेवाली दामिनि उसे अपनी ओर संकेत से बुलाती है। अंग्रेजी की रोमान्टिक कविताओं में इस बुलावे को लेकर अनेक रचनाएँ मिलती हैं। एक अंग्रेज कवि अपनी पत्नी से कहता है कि अब वह नहीं रुक सकता। दूर की पहाड़ियाँ उसे बुलाती हैं, चाँद-सितारे उसे बुलाते हैं। लम्बी निर्जन सड़क उसे आमंत्रित करती है। दिशाएँ उसे पुकारती हैं। वह नहीं रुक सकता। वह अपनी पत्नी से कहता है कि यदि लोग पूछें तो दोष इन चाँद सितारों को देना, इन फैली हुई दिशाओं को देना, इस लम्बी सड़क को देना। इस प्रकार की कविताओं का प्रभाव 'पन्त' जी पर अधिक है, पर वे एक दम चले जाने को तैयार नहीं हैं। उन्हें कुछ सामाजिक कर्त्तव्यों का भी ध्यान है।

'पन्त' जी रोमांटिक कवि होते हुए भी प्रकृति के कल्याणकारी रूप को नहीं भूलते। मानव-जीवन के निर्माण में प्रकृति का बहुत कुछ योग है। प्रकृति और मानव में परस्पर आदान-प्रदान होता रहता है। कभी कवि मधुप-कुमारी से उसका मीठा गान सुनना चाहता है और कभी पुष्प-सुन्दर-बाला से मन्द मुस्कराना सीखता है। 'पन्त' जी प्रकृति को सुजीवन मानते हैं। उसके भिन्न-भिन्न रूपों में अपने मन की भिन्न-भिन्न स्थितियों को मिलाने का प्रयास

करते हैं। अपने दुख में प्रकृति दुखी और अपने सुख में प्रकृति सुखी दिखाई देती है। ऐसी परम्परा हिन्दी के आधुनिक काव्य में बहुत पाई जाती है।

चिनगियों सा तारों का जाल, आग सा अंगारा शशि लाल।
लटकता है फैला मणि बाल जगत को डसता है तम जाल॥

पर प्रकृति और मानव का लेन-देन ही कवि को अधिक रुचिकर लगता है। वह सदैव इन दोनों में एक घनिष्ठता का भाव देखना चाहता है।

प्रकृति का मानवीकरण भी 'पन्त' जी में बहुत हुआ है। वास्तव में मानव ही रोमांस को जड़ है। जहाँ कर्त्ता का अभाव होगा वहाँ आवरण आदि निष्फल हैं। मनुष्य-मनुष्य से इतना हिल-मिल गया है कि मनुष्य का त्याग उसके लिये असंभव हो गया है। 'पन्त' जी यद्यपि प्रकृति पर प्राण देते हैं पर मनुष्य को उससे भी ऊँचा दर्जा देते हैं। मानव की स्तुति वे इस प्रकार करते हैं—

तुम मेरे मन के मानव, मेरे गानों के गाने।
मेरे मानस के स्पन्दन प्राणों के चिर पहिचाने॥

और अन्त में यह कह देते हैं कि—

सुन्दर हैं विहग सुमन सुन्दर।
मानव तुम सबसे सुन्दरतम॥

मानव ने कवि को अपनी ओर इतना अधिक खींचा कि कवि पूर्णतया मानव का कवि हो गया। ऐसी स्थिति में प्रकृति चित्रण में मानवीकरण बहुत कुछ स्वाभाविक है। बालुका राशि पर पड़ी हुई स्वच्छ गङ्गा की धारा उन्हें एक पर्यंक पर पड़ी हुई नारी के समान ज्ञात होती है, जो शान्त-क्लान्त-निश्चल लेटी हुई है। शरद की चाँदनी का रूप देखिए—

नीले नभ के शतदल पर
वह बैठी शारद हासिनि।
मृदु करतल पर शशि-मुख धर
नीरव अनिमिष एकाकिनि!

वास्तव में नारी समस्त रोमांस की जड़ है। रोमांस जितने प्रकार के, जिन स्थितियों में हो सकते हैं उन सभी में नारी का कोई न कोई मनोहारी रूप अवश्य विद्यमान रहता है। यह रही पुरुषों के रोमांस की बात। कवि पुरुष

है अतः यत्र-तत्र नारी का अनेकानेक सुन्दर रूप दृष्टिगोचर होता है। युवक एवं रोमांटिक कवि के लिये नारी काव्य की मूल प्रेरक वस्तु है। उसके बिना कवि की समस्त कल्पना, सारी उड़ान, सारा नशा काफूर है। रोमांस ही क्या काव्य के सभी रूपों में आदिकाल से ही नारी-सौन्दर्य अपना प्रथम स्थान रखता आया है। 'पन्त' जी नारी को एक बहुत सुकुमार एवं कोमल भावना की दृष्टि से देखते हैं। नारी के अबोध बालापन के रूप से कवि अत्यधिक प्रभावित है :

**इस अभिमानी अंचल में फिर चित्रित कर दो विधि अकलंक।**
**मेरा छीना बालापन फिर करुण लगा दो मेरे अंक॥**
**उसी सरलता की स्याही से सदय इन्हें अङ्कित कर दो।**
**मेरे यौवन के प्यालों में फिर वह बालापन भर दो॥**

बालिका सदैव अपना वही पुराना बालापन चाहती है। उसे डर है कि बड़े होने पर वह प्यार कदाचित् वह खो बैठे। वह कहती है कि :

**मैं सबसे छोटी हो जाऊँ।**

पर कौन ऐसा कवि है जो नारी-कुसुम को पूर्ण विकसित रूप न देखना चाहे, कवि अपनी भावी पत्नी की कल्पना करता है। देखिए कैसा सुकुमार और मादक रूप उसकी कल्पना में है :

**अरुण अधरों का पल्लव प्रात।**
**मोतियों का हिलता हिम-हास॥**
**इन्द्रधनुषी पट से ढँक गात।**
**बसा विद्युत का पावस लास॥**
**हृदय में खिल उठता तत्काल।**
**अधखिले अङ्गों का मधुमास॥**
**तुम्हारी छवि का कर अनुमान।**
**प्रिये प्राणों की प्राण॥**

रोमांटिक कवि के लिये नारी का सबसे कोमल और सुन्दर रूप ही रुचिकर होता है। वह नारी को साथ लेकर घरबार की नहीं सोचता। नारी जीवन की कठोर सत्यता में साथ रहकर इस सुख और दुख भरे संसार में अपना वह सुन्दरतम रूप नहीं दिखा सकती और न कवि की आत्मा को सन्तोष ही दे सकती है। वह प्रतिदिन के गृहकाज से ऊब जाता है और कहता है :

आज रहने दो यह गृहकाज।
प्राण! रहने दो यह गृहकाज॥

उसका मन इस मादक बेला में पंख फैलाकर जोड़े पक्षी की भाँति उड़ना चाहता है।

प्रकृति के कोमल हाथों से सँवारी हुई उसकी प्रेयसी सौन्दर्य-विषयक मान्यताओं की सीमा तोड़ देती हुई जान पड़ती है। 'ग्रन्थि' की ग्रामीण बाला का सौन्दर्य और उसका भावुक हृदय कविता के लिये कवि को आजीवन प्रेरणा प्रदान करता रहेगा:

शीश रख मेरा सुकोमल जाँघ पर।
शशि कला सी एक बाला व्यग्र सी॥
देखती थी म्लान मुख मेरा अचल।
सदय भीरु अधीर चिन्तित दृष्टि से॥

ऐसी बाला से नजरें चार होने का दृश्य देखिये:

एक पल मेरी प्रिया के दृग पलक, थे उठे ऊपर, सहज नीचे गिरे।
चपलता ने इस विकम्पित पुलक से दृढ़ किया मानों प्रणय संबंध था॥

'ग्रन्थि' में नारी का जो सुन्दर रूप चित्रित है वह केवल कल्पना ग्राह्य ही है। नारी को पवित्रता का रूप कवि मानता है:

तुम्हारे छूने में था प्राण! सङ्ग में पावन गंगा-स्नान।
तुम्हारी वाणी में कल्याणि! त्रिवेणी की लहरों का गान॥

कवि की नारी-विषयक कोमल भावना एक छाया सी उसके समस्त काव्य पर मँडराया करती है। रोमांटिक और अनब्याही उमर में एक भावुक किशोर की कल्पना का एक रसमय रूप पन्त जी की प्रारम्भिक कविताओं में सर्वत्र विद्यमान है। गृहस्थी की कठोर परिस्थितियों का उसे अनुभव नहीं है, अतः वह नारी के विभिन्न रूपों की कल्पना नहीं कर सकता। उसने नारी का बस एक मुग्ध विलासमय रूप ही देखा है, जिसे उसने सारी कोमलता और पवित्रता का आदर्श मान रखा है। उसे नारी का कठोर एवं निष्करुण रूप देखने का मौका नहीं मिला है। कीट्स यद्यपि सौन्दर्य और रोमांस का महान कवि माना जाता है फिर भी उसने नारी की उस छिपी हुई

निर्दयता का अनुभव किया है। 'पन्त' जी इस अनुभव से एकदम दूर हैं। नारी की प्रशंसा करना ही उनका लक्ष्य है :

तुम्हारे गुण हैं मेरे गान, मृदुल दुर्बलता ध्यान।
तुम्हारी पावनता अभिमान शक्ति पूजन सम्मान॥

पुरुष के ऊपर नारी की प्रभुता इन्हें सदैव प्यारी लगती है।

नारी के विरहिणी रूप का जो चित्रण कवि ने किया है वह बहुत ही प्रभावशाली है। कुछ लोग रोमांस को मस्तिष्क की असंतुलित स्थिति की उपज मानते हैं। जो हो, पर इस स्थिति का काव्य अपना एक अलग महत्व रखता है। इसमें एक अजीब भाव-प्रवणता होती है। हृदय को हिला देने की एक अद्भुत क्षमता होती है। ऐसी स्थिति में कवि को बहुत दूर दूर की बातें सूझती हैं। कवि की दयार्द्र स्थिति देखते ही बनती है :

कहो कौन हो दमयन्ती सी तुम तरु के नीचे सोई।
हाय ? तुम्हें भी त्याग गया क्या अलि नल सा निष्ठुर कोई॥

पीले पत्तों की शय्या पर पड़ी हुई विजन की नायिका को देखकर कवि एकदम दयार्द्र हो उठता है।

यहाँ तक तो हो गई प्रकृति और नारी की बात। रोमांटिक काव्य की तीसरी विशेषता कल्पना की विशेषता है। कल्पना के बिना रोमांस का मजा एकदम फीका है। जिस प्रकार कल्पना का रूप वायवी है उसी प्रकार कुछ रोमांस का भी। अतः इन दोनों में बहुत घनिष्ट सम्बन्ध है। कल्पना की ऊँची उड़ान रोमांस की देन है। रोमान्टिक भावों की उपज बहुत कुछ कल्पना का सहारा लेकर चलती है। एक स्वच्छन्द कवि जब संसार की कठोरता से ऊब जाता है तो प्रत्यक्ष को छोड़कर अप्रत्यक्ष की ओर जाने का प्रयास करता है। यहाँ कल्पना उसका साथ देती है। कल्पना उसे उड़ाकर एक ऐसे लोक में पहुँचा देती है जहाँ न दुख है और न दर्द, जहाँ सदैव मीठी-मीठी हवा चलती रहती है, तारों से घिरा स्वच्छ आसमान है, सर्वत्र एक पवित्रता है, सर्वत्र एक कोमलता है। कवि के लिये कल्पना वहीं अधिक लाभकारी होती है जहाँ वह कल्पित वस्तु को एकदम सजीव पाठक के नेत्रों के आगे ले आकर उतार देता है। जब कवि की कल्पना और पाठक की कल्पना एक हो जाती है तभी काव्य सफल कहा जाता है। 'पंत'

जी की प्रतिभा बहुत सूक्ष्मग्राहिणी है। हर चीज को वे बड़ी अच्छी तरह परखते हैं। उनका वस्तु विश्लेषण बहुत ही वैज्ञानिक है। ऐसी प्रतिभा जब काव्य में आती है तो काव्य मूर्तिमान हो उठता है। इसी प्रतिभा को चित्रात्मक प्रतिभा कहते हैं। कीट्स इस कला में बहुत निपुण था। जब 'पंत' जी कल्पना की अधिक ऊँची उड़ान पर पहुँच जाते हैं तब उनका अनुभूति-पक्ष कम होने लगता है। स्याही की बूँद' और 'नक्षत्र' आदि कविताएँ इसके उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत की जा सकती हैं। कवि सन्ध्या का कैसा चित्र उपस्थित करता है :

ग्रीव तिर्य्यक, चम्पक द्युति मान,
नयन मुकुलित, नतमुख जलजात,
देह छवि छाया में दिन रात,
कहाँ रहती तुम कौन ?

कवि की सूक्ष्म कल्पना ही काव्य के समस्त अलंकारों की जननी है। इसी कल्पना का दूसरा नाम सूझ है। कवि प्रस्तुत को देखकर कल्पना के नेत्रों से अप्रस्तुत का विधान करता है। कल्पना के द्वारा अमूर्त को मूर्त रूप दे देना कवि के बाएँ हाथ का खेल है। छाया के लिए पन्त जी लिखते हैं :

तरुवर के छायानुवाद सी।
अविदित भावाकुल भाषा सी॥
कटी छँटी नव कविता-सी।

चाँदनी का वर्णन करते हुए कवि कहता है :

नीले नभ के शतदल पर,
वह बैठी शारद हासिनि।
मृदु करतल पर शशि मुख धर,
नीरव अनिमिष एकाकिनि॥

इसी प्रकार 'नौकाविहार' में गंगा को एक तापस बाला के रूप में चित्रित किया है। अब सन्ध्या को एक सुन्दरी के रूप में कवि देखता है। समस्त मानवीकरण इसी कल्पना की उपज है। जहाँ पन्त जी कल्पना के पीछे हाथ धोकर पड़ जाते हैं वहाँ हृदयहीनता का आभास मिलने लगता

है। जहाँ कल्पना और अनुभूति बराबर मात्रा में मिली होती हैं वहाँ काव्य निखर उठता है :

मिला लालिमा में सन्ध्या का
दिया एक निर्मल संसार,
नयनों में निस्सीम व्योम औ,
उरोरुहों में सुरसरि धार।

प्रत्येक स्वच्छन्द कवि में ऐन्द्रियता कुछ न कुछ मात्रा में अवश्य विद्यमान रहती है। रोमान्स का सम्बन्ध ऐन्द्रियता से अधिक है। अंगरेजी के रोमान्टिक कवि कीट्स में भी यही विशेषता पाई जाती है। पन्त जी के काव्य में इसका अभाव नहीं है। पर पन्त जी के काव्य में कहीं बीभत्स रूप नहीं मिलता। सर्वत्र एक शालीनता दृष्टिगोचर होती है। आवेग उठता है पर उसमें एक संयम है। जहाँ तक कवि की विभिन्न इन्द्रियों का प्रश्न है उनमें एक अपूर्व ग्राहिणी शक्ति है। इन्द्रियाँ इतनी तेज हैं कि सूक्ष्म से सूक्ष्म अनुभव उन्हें प्राप्त हो जाता है। रंगों का ज्ञान 'पन्त' जी की अपनी विशेषता है। 'पन्त' जी की एक यही विशेषता चित्रकार की तूलिका तक को पकड़ सकती है। जो रूप, जो दृश्य एक चित्रकार अपनी तूलिका से उपस्थित कर सकता है उसे पन्त जी शब्दों के माध्यम से ही पाठकों के सम्मुख ले आकर खड़ा कर देते हैं। आम्र मञ्जरी के रङ्ग की सूक्ष्म व्याख्या देखिए :

रुपहले सुनहले आम्र बौर
नीले पीले और ताम्र भौंर।

रङ्गों का एक और उदाहरण देखिये—

विद्रुम औ मरकत की छाया
सोने चाँदी का सूर्यातप,
हिम परिमल की रेशमी वायु
सतरँग छाया, सँग चित्रित नभ।

रङ्गों के विश्लेषण में पन्त जी को कमाल हासिल है। एक ही रङ्ग में वे कई प्रकार के रङ्ग बना सकते हैं। काला, श्याम और श्यामल उनके लिये तीन रङ्ग हैं।

इसी प्रकार ध्वनि-चित्रण में भी पन्त जी बड़ी ही कुशलता से काम लेते हैं। ठोंक-ठोंक कर ऐसे शब्दों को ले आते हैं जो उपयुक्त मनोभावों को सरलतापूर्वक स्पष्ट कर सकें। स्वर और व्यञ्जनों की योजना में भी ऐसी शक्ति होती है जिससे काव्य में अनुभव कराने की शक्ति बढ़ जाती है। 'परिवर्तन' नाम की कविता में जब समय की तुलना शेषनाग से करते हैं तो योजना से उत्पन्न ध्वनि एकदम सर्प की ध्वनि से मिलती हुई ज्ञात होती है। जब पन्त जी 'गरज गगन के गान गरज गम्भीर स्वरों में', कहते हैं तो वास्तव में बादलों की गरज सी आवाज प्रतिध्वनित होती जान पड़ती है। भादों की सूनी अँधेरी रात में जब झींगुर एक स्वर में लगातार बोलने लगते हैं तो वह रात्रि की नीरवता को अधिक बढ़ा देता है। वह ध्वनि वातावरण को आन्दोलित नहीं करती वरन् उसकी नीरवता बढ़ाने में ही योग देती है। इसका पता ठीक-ठीक पन्त जी को है।

स्वच्छन्द कवियों में वैयक्तिकता की भावना बहुत अधिक रहती है। यहाँ कवि अपनी भावनाओं को व्यक्त करना चाहता है। वह अपने दुख-सुख के प्रकटीकरण में लीन रहता है। आत्मनिवेदन की इच्छा इस प्रकार से काव्य में बलवती रहती है। अपनी रूमानी दुनियाँ को वह पाठक के सम्मुख ले आना चाहता है, यहाँ उसी के आवेश हैं। यहाँ उसी की भावनाएँ हैं, यहाँ उसी की आत्मा की पुकार है और उसी का अपना अनुभव है। पन्त जी ने सबसे पहले इस ओर ध्यान दिया। पहले यह लड़कपन समझा जाता था, धीरे-धीरे लोगों को इसकी प्रभविष्णुता का पता चला और आज के काव्य में तो सर्वत्र वैयक्तिकता ही वैयक्तिकता दिखाई पड़ रही है। पन्त जी का समस्त काव्य वैयक्तिक भावनाओं से भरा है। 'ग्रन्थि' तो उनकी अपनी एक कहानी ही है। यद्यपि कवि ने एकदम खुलकर आधुनिक कवियों की भाँति वैयक्तिकता पर जोर नहीं दिया है पर इसका श्रीगणेश उसी के हाथों से हुआ है। काव्य में सर्वत्र उसके आत्मा की पुकार गूँजती सुनाई पड़ती है। निराश प्रेमी का रूप देखिए :

शैवलिनि! जाओ मिलो तुम सिन्धु से,
अनिल! आलिंगन करो तुम गगन का,
चन्द्रिके! चूमो तरंगों के अधर

× × ×

पर हृदय सब भाँति तू कंगाल है
चल किसी निर्जन विपिन में बैठ रह।

रोमांटिक कविताओं में गीत का अपना महत्व है। सुमधुर ध्वनि एक रोमांटिक मनोभाव को बहुत आसानी से उद्वेलित कर सकती है। रोमान्स और गीत में बहुत सम्बन्ध है। गीत रोमांस की भावना को उद्दीप्त करने का सुन्दर साधन है। अतः स्वच्छन्द कवियों को गीत बहुत प्यारे लगते हैं। दुनियाँ के सभी रोमान्टिक कवि गीत लिखना अधिक पसन्द करते हैं। पन्त जी का समस्त काव्य एक गीतमयता लिये हुए है। हिन्दी साहित्य में गीत शैली पुरानी शैली है। सभी भक्त कवियों ने इसे अपनाया था। पर आधुनिक गीत उस शैली पर न चल कर पाश्चात्य विदेशी शैली पर चलते हैं। विदेशी शैली के जितने गुण हैं सभी पन्त जी की कविता में विद्यमान हैं। भावात्मकता, हार्दिकता, स्फुरणशीलता, प्रवाहमयता आदि इस शैली के लक्षण हैं। इसमें एक तीव्र मनोवेग होता है जो समस्त काव्य पर छाया रहता है। प्रायः एक मनोभाव होने के कारण इसका आकार छोटा होता है। 'वीणा' के तुतले गीत बहुत प्यारे हैं। 'पल्लव' की कविताओं में एक आवेग है, एक प्रभाव उत्पन्न करने की शक्ति है। ज्यों-ज्यों पंत जी आगे बढ़ते जाते हैं उनकी कविताओं से गीत-तत्व निकलता जाता है। पर पहले की कविताओं में इसका प्राधान्य है। उदाहरण देखिये :

> अहो विश्वसृज ! पुनः गुँजा दो
> वह मेरा बिखरा संगीत,
> माँ को गोदी की थपकी से
> पला हुआ वह स्वप्न पुनीत।
> × × ×
> वह लेटा है तरु-छाया में
> सन्ध्या विहार को आया मैं।

यहाँ तक रही पन्त जी की रोमांटिक काव्य-साधना। जीवन के लम्बे दौरान में आदि से अन्त तक रोमान्स को ही स्थान नहीं है। रोमांस की एक निश्चित अवधि होती है और जहाँ पहुँच कर कल्पना लोक का पक्षी कठोर धरातल पर उतरने के लिए बाध्य होता है। यहाँ उसके जीवन का गम्भीर पहलू धीरे-धीरे उसकी समझ में आने लगता है। शेली और कीट्स जीवन की उस अवस्था तक नहीं पहुँच पाए थे अतः गम्भीर और कठोर जीवन की समस्याओं का प्रश्न उनके सम्बन्ध में उठता ही नहीं। अधेड़ उम्र प्रेम का राग अलापने की उम्र नहीं है। यहाँ एक परिवर्तन की

आवश्यकता है। सबके जीवन में वह परिवर्तन उत्पन्न होता है और धीरे-धीरे वह मनुष्य को स्थायित्व की ओर ले जाता है। पन्त जी के जीवन में भी यही बात सत्य है। विपत्तियों और ऐहिक कष्टों की ठोकर खाकर उन्हें जीवन की नश्वरता और क्षणभंगुरता का बोध हुआ। इस समय की 'परिवर्तन' नाम की उनकी कविता बहुत मार्मिक और महत्वपूर्ण है। यहाँ उसने कल्पना के विशाल महलों को ढहते हुए देखा, गुलाब के गालों को मुरझाते हुए देखा और देखा सर्वत्र एक विनाश की छाया। उसका कोमल काल्पनिक हृदय इसे देखकर रो पड़ा। उसके हृदय में मानव-मात्र के प्रति एक सहानुभूति की भावना उत्पन्न हो गई। उसने कल्पना का लोक छोड़ दिया, वह मानव का कवि बनने लगा। उसने जीवन का एक दृश्य देखा और उसे पहिचाना। अब वह दार्शनिक सत्यों की ओर झुकने लगा। अपने इस दृष्टिकोण को स्पष्ट करने के लिए उन्होंने 'ज्योत्स्ना' नाटिका लिखी, इसमें उन्होंने आधुनिक जीवन की समस्याओं को सुलझाने का प्रयत्न किया है। ज्योत्स्ना जीवन की एक 'ज्योत्स्ना' है। पर यहाँ भी कवि अपनी रोमांटिक भावनाओं का त्याग नहीं कर सका है। वातावरण और पात्र सभी रोमांटिक हैं। पर वह भावना मूक आदर्श की ओर उन्मुख है।

'युगान्त' तक पहुँचते-पहुँचते कवि का सौन्दर्ययुग समाप्तप्राय हो जाता है। यहाँ चिन्तन प्रधान हो उठता है। वह जीवन और जगत् के लिए प्रार्थना करता है और एक मंगलमय भविष्य की कामना करता है। संसार प्रगतिशील है। वह निरन्तर आगे बढ़ता जा रहा है। पुराने दृश्य लुप्त होते हैं और नया उनका स्थान लेते हैं। अब कवि युग के सम्पर्क में आने लगा जहाँ समाज की तत्कालीन स्थिति ने उसे उनके विषय में सोचने को बाध्य किया। 'युगवाणी' में वह एकदम प्रगतिवादी हो उठता है। यह है भारतीय साम्यवाद का रूप। उसने अनुभव किया कि अब गीत का युग समाप्त हो गया। यह गद्य का कठोर और प्रत्यक्ष युग है। 'युगवाणी' जीवन की समझ है और 'ग्राम्या' उसका एकदम व्यावहारिक रूप। ग्राम्या में मानों कोई सिद्धान्त निकलने के लिये सामग्री इकट्ठा की गई हो। यहाँ उसने जन-जीवन की परख की है।

इसके पश्चात् पन्त जी के विचारों में फिर एक परिवर्तन हुआ। यह था दार्शनिक परिवर्तन। कवि अब एकदम गम्भीर दर्शन की ओर झुक गया। 'स्वर्णकिरण' आदि आधुनिक रचनाएँ इसी प्रकार की रचनाएँ हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि सौन्दर्य-विषयक काव्य छोड़ने के पश्चात् पन्त जी किसी

भी विषय पर रुक नहीं सके। सुन्दर कल्पना का लोक उन्होंने छोड़ दिया पर उसके अभाव में अब उसका बूढ़ा कवि-हृदय कहीं भी शान्ति पा नहीं सका। यह है एक सच्चे रोमांटिक कलाकार की पहिचान। उन्होंने बहुत से ढाँचे अपनाने का प्रयत्न किया पर उनके मस्तिष्क की बनावट उनके अनुकूल है कि नहीं, यह सन्देहास्पद है।

वास्तव में पन्त जी सौन्दर्य-द्रष्टा हैं। इन परिवर्तनों में यद्यपि उनकी कविता का वाह्याकार बहुत बदल गया है, पर उसकी आत्मा सदैव ऊब कर उसी पुरानी राह पर जाने के लिये छटपटाया करती है। यह है उनके स्वभाव और सिद्धान्त का विरोध। वे अपना स्वभाव गढ़ने के फेर में लगे हैं, पर वह कभी नहीं बदलेगा ऐसा हमारा विश्वास है।

प्रकृति के क्रोड़ में पलने वाले कवि पन्त में प्रगतिशीलता की भावना लेकर एक महान् परिवर्तन हुआ। इस परिवर्तन का संकेत पाठक को 'युगान्त' में मिल जाता है, परन्तु ग्राम्या में वे विशेष प्रगतिशील दिखाई पड़े। कल्पना का लोभ पन्त जी कहीं भी संवरण नहीं कर सके हैं। धरती से दूर होने के कारण 'ग्राम्या' की आधार भूमि ठोस और दृढ़ नहीं है। उसे मिट्टी की गन्ध प्रिय नहीं है। उनकी पूर्व काव्य-प्रवृत्तियों में साम्यवादी भावना की क्रियात्मक शक्ति भी दृष्टिगोचर होती रही है। उनमें रूसी समाजवाद की अपेक्षा भारतीय प्रवृत्तियाँ अधिक परिलक्षित होती हैं। 'गुंजन' की कुछ कविताएँ इसी आशय की पुष्टि करती हैं। पाश्चात्य साहित्य के अध्ययन का भी प्रभाव इनकी रचनाओं पर पड़ा है, पर इतना अवश्य है कि यह प्रभाव प्रच्छन्नरूप में हो रहा और यह सत्य है कि उसका उन्होंने अनुकरण नहीं किया है। अध्ययन और अनुभव को अपने में पचा कर उसे मौलिक रूप प्रदान करना 'पंत' जी के काव्य की अपनी विशेषता है। जीवन और सत्य के प्रति उनमें उपेक्षा कहीं नहीं मिलती। ग्रामीणों, कामगरों या कृषक मजदूरों की स्थिति का दिग्दर्शन कराने के निमित्त साम्यवाद-समाजवाद से प्रभावित समीक्षकों ने उन्हें प्रगतिवाद के पोषकों में घोषित किया है। यथार्थ में पंतजी समाजवादी प्रगतिशील कवि होने से पहले स्वच्छन्दतावादी तथा रहस्यवादी कवि हैं। उनके काव्य में नए छन्दों की, नई भावनाओं की की जहाँ सृष्टि हुई है, वहाँ वे सच्चे अर्थों में प्रगतिशील कवि हैं। काव्यात्मक सौन्दर्य तथा कलात्मक अभिव्यक्ति की सृष्टि से भी 'पंत' जी अपने युग के सच्चे प्रगतिशील कवि कहे जा सकते हैं। प्रगतिशीलता के अन्दर आने वाली सारी संक्षिप्त जीवन-शक्तियाँ उनकी इस प्रगतिशीलता में नहीं मिलेगी।

उत्तेजक प्रवृत्तियाँ, पूँजीवाद के खिलाफ विद्रोह की हुंकृति, व्यक्ति के प्रति अविश्वास की भावना और अधिकारयाचना के निमित्त क्रान्ति का आह्वान भी इस प्रगतिशीलता में नहीं मिलेगा। परिवर्तन या विकास के अर्थ में 'पंतजी' सच्चे प्रतिनिधि प्रगतिशील कवि कहे जा सकते हैं। ग्रामीण वातावरण का उन्होंने निरीक्षण मात्र ही किया है और वह भी अत्यन्त निकट से नहीं, कुछ दूर से ही। इस निरीक्षण में जहाँ तक के विस्तार को कवि ने देखा है उसके मर्म तक पहुँचा है। परिस्थिति के आग्रह से मानव किस प्रकार ह्रास को प्राप्त होता है, देखिए :

> **ग्राम आज है पुष्ट जनों की करुण कथा का जीवित,**
> **युग-युग का इतिहास सभ्यताओं का इसमें संचित।**
> **घर-घर के बिखरे पन्नों में नग्न क्षुधार्त कहानी,**
> **जनमन के दयनीय भाव कर सकती प्रकट न बानी।**
> **मानव दुर्गति की गाथा से ओत-प्रोत मर्मान्तक,**
> **सदियों के अत्याचारों की सूची यह रोमांचक।**
> **—ग्राम्या, पृ० १४**

सच्ची मनुष्यता तो गाँव में ही निवास करती है, वहाँ दानवता कहाँ। मनुष्यता का मूल तत्व ग्रामीण केन्द्र में ही अन्तर्निहित है। परन्तु जब कवि कहता है कि—देख रहा हूँ अखिल विश्व को मैं ग्रामीण नयन से—वहाँ वह सत्य से दूर चला जाता है क्योंकि कोरी बुद्धिवादिता से ग्राम्य वातावरण का यथार्थ चित्र नहीं खींचा जा सकता। अधिक स्वच्छता और सत्यता लाने के लिये भौतिकवाद के आधार से बौद्धिक-आधार ग्रहण करने में अस्वाभाविकता आ जाती है क्योंकि ऐसी दशा में कोई भी कवि यथार्थ की भूमि से च्युत हो सकता है। यथार्थ के डग भर ही गाँवों तक पहुँचा जा सकता है। बौद्धिक आँखों से गाँव और उसके निवासियों को नहीं देखा जा सकता। बौद्धिक प्रयास से खींचा गया चित्र मध्यवर्गीय जीवन को ही दिखला सकता है, पर कवि की दृष्टि में जो उपेक्षित हैं उन्हें उपेक्षित कहना ही ठीक है क्योंकि उनका उपेक्षित और दलित होकर रहना भी परम्परा की एक कड़ी है :

> **यहाँ खर्व नर (वानर) रहते युग युग से अभिशापित,**
> **अन्न वस्त्र पीड़ित असभ्य, निर्बुद्धि पंक में पालित।**
> **यह तो मानव लोक नहीं रे, यह है नरक अपरिचित,**
> **यह भारत का ग्राम सभ्यता संस्कृति से निर्वासित।**
> **—ग्राम्या, पृ० १६**

'ग्राम्या' का आधार बौद्धिक अधिक हो गया है तो भी वह अपने अर्थ में वैशिष्ट्य रखती है। इससे कवि ग्रामचित्रण के अतिवाद तक पहुँच गया है। वह ग्रामीण नयन से ही सम्पूर्ण विश्व को देखता है। साम्यवादी भावनाओं का तो कवि वकील ही है इसलिये वह सबकी सामूहिक मंगल कामना करता है। कवि किसान की ध्वंसात्मक शक्तियों और प्रक्रियाओं से भी खिन्न है यद्यपि उसकी निर्माण-प्रक्रिया कवि की दृष्टि में वांछनीय है :

ललकार रहा जग को भौतिक विज्ञान आज,
मानव को निर्मित करना होगा नव समाज,
विद्युत औ बाष्प करेंगे जन-निर्माण काज,
सामूहिक हो मंगल समाज समदृष्टि राज।

ग्राम्या

सम्पूर्ण ग्राम्या में कवि का आशावाद मुखरित है। आशावाद के साथ ही साथ कवि ने शिव पक्ष को भी प्रधानता दी है। आशावाद में तो कवि बहुत आगे निकल जाता है :

सुनता हूँ इस निस्तल जल में रहती मछली मोती वाली,
पर मुझे डूबने का भय है भाती तट की चल जल-माली।
आएगी पुलिनों पर मेरे वह मोती की मछली सुन्दर,
मैं लहरों के तट पर बैठा देखूँगा उसकी छवि जी भर।

इस कृति से कवि प्रगतिवाद का झंडा अधिक से अधिक ऊँचा उठा सका है। "वास्तव में युगवाणी पन्त का सिद्धान्त वाक्य था और ग्राम्या उसका प्रयोग।"[१]

'पंतजी' की रचनाओं के क्रमिक विकास को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि वे कल्पना-लोक से उतर कर जीवन की यथार्थ भूमि पर आ रहे थे कि अरविन्द-दर्शन की चपेट में आ गए और उनकी कल्पना-शक्ति अध्यात्मोन्मुखी हो उठी। स्वर्ण किरण ( १९४७ ), स्वर्ण धूलि, उत्तरा, रजत शिखर, शिल्पी, सौवर्ण, अतिमा ( १९५५ ) और वाणी ( १९५८ ) आदि उनकी इसी कोटि की रचनाएँ हैं। उनकी यह दार्शनिकता सन्

---

१. सुमित्रानन्दन पन्त, पृ० २२४, प्रो० नगेन्द्र।

१९५६ ई० में प्रकाशित होनेवाले उनके काव्य 'कला और बूढ़ा चाँद' तक बनी रही जिसे देखकर लोगों को एक नवीन प्रयोग का भ्रम उत्पन्न हो गया था। इसमें सन्देह नहीं कि इस काव्य में 'पंतजी' काव्य के एक नए रूप ( Form ) की तलाश करते जान पड़ते हैं। मुक्त छंद लिखने का जो आग्रह इसमें दिखलाई पड़ता है उससे स्पष्ट हो जाता है कि गद्य की लोकप्रियता के दबाव की वास्तविकता का ये अनुभव करने लगे हैं। इसी बीच इन्होंने 'लोकायतन' महाकाव्य की भी रचना की जो सन् १९६४ ई० में प्रकाशित हुआ। कवि के शब्दों में ही यह लोक-जीवन का महाकाव्य है जिसमें 'पंत के चारो काव्य-चरणों की प्रवृत्तियाँ हमें एक साथ देखने को मिलती हैं—प्रकृति-वर्णन की क्षमता और स्वच्छन्दतावादी चेतना, प्रगतिशील सम्पर्क, आध्यात्मिक दार्शनिक चिन्तन तथा प्रयोगशील चेष्टा।'[1] इस प्रकार संख्या और विविधता, दोनों ही दृष्टियों से 'पंत' की काव्य-कृतियाँ स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्तियों को समझने में सर्वाधिक सहायक हैं।

## महादेवी

आधुनिक हिन्दी-साहित्य में 'प्रसाद', 'निराला', 'पन्त' और 'महादेवी' चार ऐसे प्रकाश स्तम्भ हैं, जिनके आलोक से आधुनिक हिन्दी-साहित्य जगमगा रहा है। इन चारों का हिन्दी साहित्य में अपना अलग व्यक्तित्व है। 'प्रसाद' में मस्ती, 'निराला' में विद्रोह, 'पन्त' में कोमलता और महादेवी में पीड़ा है। 'पन्त', 'प्रसाद' तथा 'निराला' ने जिस काव्य-शैली को गौरवान्वित किया था उनके बाद की रचनाओं में बिकार आने लगा। जब 'छायावाद' के नाम पर परिकल्पित सीमा का भी अतिक्रमण होने लगा तो उसी स्थान से विकार का सूत्रपात भी हुआ। सुख के विरुद्ध दुःख का आकर्षण तो उपयुक्त है, परन्तु जब महादेवी ने आँसू को मिश्री से भी अधिक मीठा मान लिया तो वहीं उन्होंने सीमा पार कर दी। उनकी जितनी भी ऐसी रचनाएँ हैं वे सन् १९३२ के बाद की हैं। जिनमें 'पन्त' 'प्रसाद' और 'निराला' की ताजगी नहीं रह पाई थी, जहाँ तक भावों की सूक्ष्मता का प्रश्न है, महादेवी में सबसे अधिक है। परिष्कार और मंडन आदि में तो महादेवी जी सबसे आगे हैं किन्तु उनकी अभिव्यक्ति उतनी जीवन्त नहीं है जितनी कि उनके अन्य समकालीन कवियों की। कला की दृष्टि से सबसे आगे होते हुए भी उन्हें कवि की दृष्टि से वह स्थान नहीं

---

१. हिन्दी स्वच्छन्दतावादी काव्य—डा० प्रेमशंकर

दिया जा सकता जो स्थान 'पन्त' 'प्रसाद' और 'निराला' को दिया जा सकता है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का मत है कि 'छायावादी कहे जानेवाले कवियों में महादेवी ही रहस्यवाद के भीतर आती हैं।' किन्तु इनकी कविताओं में बौद्धिकतत्व इतना उभड़ आया है कि सरल हृदय की वह सरस अभिव्यक्ति नहीं रह पाई है जो कि एक रहस्यवादी रचना के लिये आवश्यक है। जिसने अलौकिक ब्रह्म के चरणों में अपने को डाल दिया तथा उसे ही एकमात्र प्रियतम के रूप में स्वीकार कर लिया, उसके लिये फिर संसार तथा उसकी माया कैसी। जब तक साधक के सामने ब्रह्म का ऐसा आलोक नहीं छा जाता जिससे कि संसार की सभी विकारयुक्त वस्तुएँ अन्धकार की भाँति विलीन हो जाती हैं तब तक यही मानना चाहिए कि साधक की भावना किसी लौकिक अभाव के कारण भटक रही है। 'महादेवी' जी की रचनाओं में विरह की असह्य पीड़ा तो है, वेदना की विह्वल विवृति तो है, किन्तु स्वीकार करने का उतना साहस नहीं है जितना कि संकोच और झिकक। इनका प्रिय भी सब की आँख बचाकर, छिप कर आना पसन्द करता है, वह मीरा का नटनागर नहीं है कि जिसके लिये वे सभी लौकिक बन्धनों का त्याग कर सकेंगी। वे अपनी मर्यादा के हेतु प्रिय से दूर ही रहना चाहती हैं किन्तु मन पर काबू नहीं कर पातीं—'दूर रहकर खेलना, पर मन न मेरा मानता है।' इस मन और मर्यादा की दुविधा में उनकी भावना चक्कर काटती रहती है। प्रकट तो ऐसा करना चाहती हैं कि उनका प्रेम निष्काम है, वे अपने प्रेम का प्रतिदान नहीं चाहतीं, केवल विरह के रूप में ही जो कुछ उन्हें मिल गया है वह पर्याप्त है, किन्तु उसके मूल में उनकी असमर्थता ही है क्योंकि उनकी यह इच्छा सदैव बनी ही रहती है कि साध्य देख ले कि मैं उसके लिये कितनी साधना कर रही हूँ। यह दिखाने की भावना स्पष्ट कर देती है कि वे प्रतिदान चाहती हैं क्योंकि उन्हें विश्वास है कि यदि उनकी तत्परता अथवा विह्वलता साध्य देख ले तो वह द्रवित अवश्य हो जायगा। कवयित्री का लौकिक प्रेम ही बौद्धिकता एवं स्वाभाविक संकोच के सहारे साधना की ऐसी ऊँची भूमि पर पहुँच गया है कि अलौकिक जान पड़ने लगता है। अन्यथा हमें उनकी कविताओं में वैयक्तिक अनुभूति एवं वेदना की पराकाष्ठा दिखलाई पड़ती है। महादेवी जी जो यह कहती हैं कि—

**'मिलन का मत नाम ले**
**मैं विरह में चिर हूँ।'**

से स्पष्ट जान पड़ता है कि कवयित्री को जीवन में विरह ही मिला है और भविष्य में मिलन की आशा भी शेष नहीं रह गई है जिससे उन्होंने अपनी वर्तमान स्थिति के साथ समझौता कर लिया है। नहीं तो कभी भी घायल घाव नहीं चाहता। जो अभी घाव ही चाहता है, मालूम होता है उसकी गति घायल की है नहीं। महादेवी जी विरह और वियोग में रस अधिक ढूँढ़ती हैं, इसका अर्थ है विकलता का उतना अनुभव नहीं करतीं। बुद्धि जानती है इसी कारण वेदना में घुलने नहीं देती, यानी वह भक्ति से भिन्न है। भक्ति में एक विह्वलता होती है। महादेवी के काव्य में इतनी अधिक कविता है कि उसी के कारण हम जान लेते हैं कि विह्वलता नहीं है। विह्वलता में भाषा के किनारे टूटे-फूटे बिना नहीं रह सकते किन्तु महादेवी जी की कविता सुसज्जित भाषा का अनुपम उदाहरण है। वेदना वह है जो बुद्धि को भिगो दे। बुद्धि अलग से जिसे थामे रह सकती है, वह पीड़ा शायद बुद्धिगत है, प्राणगत नहीं, जब कि वेदना का मूल प्राण में है। इनकी कविताओं में से यदि संकोच और झिझक को निकाल दिया जाय तो निःसन्देह ही ये कविताएँ अभावजन्य प्रणयी-हृदय के स्वाभाविक स्वच्छन्द लौकिक उद्‌गार हैं। उनका काव्य व्यक्तिगत, मानसिक संघर्ष अभाव और बौद्धिकता के दुःखवाद से ओत-प्रोत है।'[१] जिन कविताओं के अन्दर महादेवी जी प्रेयसी की भूमिका में उतरी हैं उनमें लौकिकता की भूमि से जो वे अलौकिकता के आकाश पर भागती रहती हैं उनके लिए उनकी वैयक्तिक तथा सामाजिक परिस्थिति ही उत्तरदायी है और इसीलिए वे यह कह उठती हैं :

**'प्रिय चिरन्तन है सजनि,**
**क्षण-क्षण नवीन सुहागिनी मैं।'**

पांडित्य और बौद्धिकता के कारण इनकी कविताओं में साहित्यिकता अधिक भले आ गई हो :

**'जब असीम से हो जावेगा**
**मेरी लघु सीमा का मेल।'**

जैसे गीतों में एक कहीं कुछ दूर की पुकार, पवन का एक झोंका, लहरों की एक करवट तथा तारों का कुछ मौन सन्देश भले लक्षित हो किन्तु निःसन्देह कवयित्री के मन में एक हूक उठी है जिससे वे गाने लगी हैं,

---

१. शची रानी तथा जैनेन्द्र कुमार—प्रश्नोत्तर।

उसे इससे कुछ मतलब नहीं कि वह क्या है। प्रिय की चिर खोज तथा चिर-अतृप्ति की प्यास से उनका काव्य आपूर्ण है। महादेवी जी की अभिव्यक्ति चाहे जैसी हो किन्तु वह वैयक्तिक तो अवश्य है। 'महादेवी' जी की कविताओं में 'चिरन्तन' और 'असीम प्रिय' अत्यन्त कोमल, मोहन और उत्सुक प्रणयी के रूप में चित्रित हुआ है।'[1] काव्यों में वैयक्तिकता को जो महत्वपूर्ण स्थान मिला है उसका एकमात्र श्रेय हिन्दी साहित्य में बढ़ती हुई स्वच्छन्दधारा को है, जिसका अज्ञात प्रभाव महादेवी जी की रचनाओं पर भी है।

हिन्दी साहित्य के अन्दर कुछ विद्वान् ऐसे हैं जो स्वीकार करते हैं कि महादेवी जी के काव्यों में वैराग्य भावना का प्राधान्य है। किन्तु इनके काव्य के सम्बन्ध में इतनी सफलता से निर्णय दे देना उपयुक्त न होगा। एक ओर तो उनकी पीड़ा अन्तर्मुखी अधिक है जिसने कहीं भी अपने को उभाड़ कर सामने नहीं रखा है और दूसरी ओर सिवा अपने भावों के दूसरे किसी के भावों की बात भी नहीं करतीं। एक ओर तो वे प्रेममार्गी सूफी सन्तों की विचारधारा के निकट आती जान पड़ती हैं, तो दूसरी ओर अध्यात्म परम्परागत धार्मिक रूढ़ियों से बहुत दूर दिखाई पड़ती हैं। इनके 'नीरजा' के गीत अनुभूति एवं चिन्तन के अमूल्य रत्न हैं जिनमें विरह, दुःख, वियोग और अद्वैतपरक भावनाओं की ऐसी चमक निहित है कि सारा मानस आलोकित हो उठा है। अनुचित न होगा यदि डा० रामविलास शर्मा के स्वर में मिलाकर कहा जाय कि 'महादेवी' जी अपने गीतों में देवी के रूप में नहीं एक 'मानवी' के रूप में दर्शन देती हैं। वे अपनी भाव-व्यंजना में इस धरती पर काम करने वाली मनुष्य नामक प्राणी ही नहीं, वरन् उसका एक भेद नारी भी हैं।' उनका नारीत्व सामाजिक सीमाओं के अन्दर विकास के लिये पंख फड़फड़ाता है, उसकी यह व्याकुलता अनेक सांकेतिक रूपों में उनकी कविताओं में प्रकट होती है। महादेवी जी को नारी-प्रकृति की एक सरस विशेषता उनका हठ है। उनके प्राण पागल हैं तो हठीले भी हैं। अध्यात्मवादी महादेवी का अभिमान देखने योग्य है जो निजत्व देने में असमर्थ होकर प्रिय से मिलने नहीं देता :

> 'मिलन मन्दिर में उठा दूँ जो सुमुख से सजल गुण्ठन,
> मैं मिटूँ प्रिय में मिटा ज्यों तप्त सिकता में सलिल कण,
> सजनि मधुर निजत्व दे कैसे मिलूँ अभिमानिनी मैं।'

१. डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी—हिन्दी साहित्य, पृ० सं० १७५।

'महादेवी' जी की कविताओं के अन्दर आधुनिक युगीन नारी की इच्छा और माँग निहित है। रीतिकालीन नारी के सामाजिक स्तर और आधुनिक नारी के सामाजिक स्तर के अन्तर को यदि जानना हो तो दोनों युग की कविताओं को सामने रखकर स्पष्ट किया जा सकता है। रीतिकाल की नारी का अपना कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं था, वह पुरुष की केवल भोग्या थी, उसकी अपनी कोई इच्छा नहीं थी, उसे पुरुष की इच्छा पर निर्भर रहना था, वह सहचरी नहीं बल्कि दासी थी। इसके अतिरिक्त पुरुष ने कभी यदि उदार हो उसे अवसर भी देना चाहा तो वह अपने जकड़े हुए संस्कारों के कारण अपना प्राप्य भी नहीं ले पाती थी, उसका संसार उतना ही बड़ा था जितना कि वह छिपकर खिड़कियों से देख पाती थी। किन्तु आज की नारी को वे सभी बन्धन अस्वीकार हैं। वह समानता का दावा करती है तथा स्वच्छन्द वायु में साँस लेना चाहती है। सामाजिक बन्धन उसके लिये इतने असह्य हो गए हैं कि वह उन्हें तोड़ डालने के लिए छटपटा रही है, तभी तो वह ऐसे साथी की खोज में है जो वायवी उड़ान में उसका साथ दे सके। प्रतिक्रिया के कारण उसका मन साधारण चंचल नहीं। उसके मन की गति इतनी बढ़ गई है कि वह विश्व की सारी दूरी नापकर ही दम लेगी। वह कहती है :

> द्रुत पंखों वाले मन को
> तुम अन्तहीन नभ होना।'

उसके मन में यह भावना प्रबल हो गई है कि उसे स्वच्छन्द होना है चाहे मंजिल मिले या न मिले। वर्तमान से भविष्य अच्छा होगा, उसने ऐसा सोच लिया है जिसके लिए वह आजीवन दौड़ लगाने के लिए तैयार है :

> 'आते जाते मिट जाऊँ
> पाऊँ न पंथ की सीमा।'

वह वर्तमान दम-घुटनशील वातावरण से ऊब गई है जिसके प्रति विद्रोह करने के लिए तैयार है। उसका यह विद्रोह जीवन की प्रत्येक दिशा में है। वह अपने प्रत्येक रूढ़िग्रस्त सम्बन्धों को तोड़ना चाहती है, वे चाहे सामाजिक हों अथवा पारस्परिक या दाम्पत्य सम्बन्धी।

महादेवी जी निजत्व को मिटा कर प्रियतम तक से भी नहीं मिलना चाहतीं। इसका कदापि अर्थ नहीं कि वे मिलना नहीं चाहतीं। यदि उनके

स्वाभिमान को ठेस न लगे तो प्रियतम का स्वागत करने को तैयार हैं। पुरुष अपनी प्राचीन थोथी मर्यादाओं के कारण झिझकता सा जान पड़ता है इसीलिए तो वह तम के पर्दे में छिपकर आना चाहता है जिसे महादेवी जी भली-भाँति समझती हैं जिससे वे सिफारिश भी करती हैं—

'नभ की ओ दीपावलियो!

क्षण भर को तुम बुझ जाना।'

इस प्रकार हम देखते हैं कि जहाँ तक हो सका है 'महादेवी' जी ने अपनी कविताओं के द्वारा नारी अधिकारों की वकालत की है। इनकी सारी प्रणयानुभूति को अलौकिक मान लेना उनकी कविताओं के साथ अन्याय करना है। प्रेम का जो मधुर सम्बन्ध प्रेमी और प्रेमिका के बीच चलता है, वही सम्बन्ध हमें इनकी कविताओं में दिखाई पड़ता है। उसका जो सम्बन्ध उन्होंने परम पुरुष से स्थापित करा लिया है वह एक आवरण मात्र है, सो भी इसलिए कि उन्हें विश्वास है कि अभी समाज इस स्तर पर नहीं पहुँच पाया है कि वह पवित्र लौकिक प्रेम को सम्मान की दृष्टि से देख सके, क्योंकि वह अब तक प्रेम का अर्थ स्त्री-पुरुष के शारीरिक सम्बन्ध से ही लेता आया है। इस युग की सबसे बड़ी विशेषता यही रही है कि हिन्दी कविताओं के अन्दर पवित्र प्रेम की स्थापना हुई है। रीतिकाल की शृंगारिक कविता में जो स्थान रति और काम का था इस युग में वही स्थान प्रेम को मिला है और रीतिकाल की नारी जो नायिका थी इस युग में प्रेयसी बन गयी है। महादेवी जी के गीत उज्ज्वल प्रेम के गीत हैं, अतः उनका उच्चारण करते समय वासना की उष्ण गन्ध नहीं बल्कि पावन प्रेम की मादक गन्ध आती है। प्रेम पर लेखनी चलाने वाले प्रायः सभी कवियों में कहीं न कहीं असंयम आ गया है किन्तु इन्होंने अपने अन्तर की जिस सात्विकता और संयम-वृत्ति का परिचय दिया है वह इनके व्यक्तित्व की महानता ही नहीं है, बल्कि इनकी काव्य गरिमा का आधार स्तम्भ भी है।

'महादेवी' जी की कविताओं के साथ जो एक सबसे बड़ी समस्या है वह यह कि इन्हें एक विशेष पूर्वग्रह के साथ देखा जाता है, हठात् इनमें रहस्यवाद ढूढ़ने का प्रयत्न किया जाता है। थोड़ी देर के लिए यदि हम इनकी कविताओं को रहस्यवाद के भीतर मान भी लें तो किस रहस्यवाद के भीतर मानें, कबीर के रहस्यवाद के भीतर अथवा जायसी और मीरा के? इनकी कविताओं में निर्गुण सन्तों की वाणी ध्वनित अवश्य होती है

किन्तु उस ध्वनि में इनकी जीवन-साधना की अनुभूति का कितना अंश है स्पष्ट नहीं हो पाता। सन्तों की भावना में आत्मा और परमात्मा का इतना ऐक्य है कि द्वैत का भान ही नहीं हो पाता। कबीर कहते हैं—

'सुनु सखि पिउ महिं जिउ बसे, जिउ महिं बसे कि पीउ।'

किन्तु 'महादेवी' जी के काव्य में हम परोक्ष सत्ता की साक्षात् अनुभूति में विश्वास करने में इसलिए झिझकते हैं कि उसमें सन्तों के समान सघन एक स्वरता तथा सहज कांतता नहीं है। उनका मन कभी अद्वैत की ओर ललक पड़ता है तो कभी द्वैत की ओर दौड़ता दिखाई पड़ता है और कभी-कभी तो स्थूल के प्रति इतना आकर्षण दिखाने लग जाता है कि सब पर पानी फिर जाता है।

स्थूल के प्रति राग—

'कह दे माँ क्या देखूँ।
देखूँ खिलती कलियाँ
या प्यासे सूखे अधरों को।
या मुरझाई पलकों से झरते
आँसू कन देखूँ।

इनके काव्य का प्रधान तत्व प्रेम तो अवश्य है, पर सूफियों के अन्दर जो आध्यात्मिक श्रेणियाँ हैं वे इनमें नहीं, जिससे यह भी नहीं कहा जा सकता कि इनके काव्य पर सूफियों का प्रभाव है। मैंने पूर्व में ही प्रकट कर दिया है कि ये मीरा जैसी भक्त भी नहीं कही जा सकतीं। यद्यपि दोनों ने ही अपनी साधना विरह से ही आरम्भ की है किन्तु दोनों के प्रियतम में महान् अन्तर है। 'मीरा' का गिरिधर नागर भगवान् अपनी लीला दिखा चुका है और वह साकार ब्रह्म है किन्तु महादेवी जी का ब्रह्म साकार नहीं है। महादेवी के अन्दर भक्ति भी नहीं है क्योंकि उसके लिये दैन्य का होना अनिवार्य है जिसके स्थान पर इनमें स्वाभिमान है जिससे वैयक्तिकता की गन्ध आती है। इनका दुःखवाद, विरहवाद, वेदनावाद सब एक ही है जो बुद्धिगत होने के कारण भाषा और कला में उलझ कर मानसिक व्यायाम बनकर रह गया है।

महादेवी जी की रचनाओं में आधुनिक युग का नारीत्व मुखर हुआ है। जो नारी महलों की चहारदीवारों के भीतर पति के कठोर आलिंगनों में जकड़ी रहती थी, वही अब स्वच्छन्द होकर प्रकृति के विशाल प्रांगण में आ गई है। उसे अब केवल पति या पुरुष का ही सहारा नहीं चाहिए, उसके लिए प्रकृति ने अपनी विशाल भुजाएँ फैला दी हैं। वह उसके दुख में दुखी और सुख में सुखी होती है। इससे बढ़कर उसका सम्मान और क्या हो सकता है कि इनकी रचनाओं में प्रकृति पग-पग पर सहायता के लिए प्रस्तुत जान पड़ती है। यदि इनकी कविताओं से प्रकृति को अलग कर दिया जाय तो वे पंगु हो जायँ। उनका कोमल और कल्पनाशील हृदय जब इस लोक के व्यवहार से संतुष्ट नहीं हो सका और जब ये उसे अपनी असाधारण मानसिक स्थिति के कारण हृदय की बात न समझा सकीं तो प्रकृति को उपयुक्त पात्र समझकर उसके लिए चुन लिया। महादेवी जी प्रकृति के अन्दर विराट् और अपनी दोनों की छाया देखती हैं जिसे हम प्रकृति से तादात्म्य की संज्ञा भी दे सकते हैं। वे सन्ध्या से अपनी तुलना करती हैं :

'प्रिय सांध्य गगन मेरा जीवन।
नव अरुण अरुण मेरा सुहाग,
छाया सी काया वीतराग,
सुधि भीने स्वप्न रँगीले घन॥

अंग्रेजी साहित्य के प्रभाव से जो प्रकृति के मानवीकरण की परम्परा चली उसका भी प्रचुर प्रयोग इनकी कविताओं में पाया जाता है। किन्तु उसे ये अंग्रेजी साहित्य की देन नहीं मानतीं और उसकी परम्परा को वेद की ऋचाओं में मरुत्, अग्नि आदि से जोड़ती हैं। इन्होंने अपनी रचना—

'धीरे-धीरे उतर क्षितिज से आ वसन्त रजनी!
तारकमय नव वेणी बन्धन,
शीशफूल शशि का कर नूतन,
रश्मि वलय, सितघन अवगुण्ठन,
मुक्ताहल अभिराम बिछा दे
चितवन से अपनी।'

मैंने वसन्त रजनी को नारी रूप में चित्रित किया है। कभी, कभी तो इनकी कल्पना का क्षेत्र इतना बढ़ जाता है कि विराट् प्रकृति भी उसकी लपेट में आ जाती है :

'लय गीत मदिर, गति ताल अमर।
अप्सरि तेरा नर्तन सुन्दर॥
आलोक तिमिर सित असित चीर।
सागर गर्जन रुन-झुन मँजीर॥
...........................................

हिमकण बन झरते स्वेद निकर,
अप्सरि तेरा नर्तन सुन्दर॥

यहाँ पर विराट सत्ता को अप्सरा के रूप में चित्रित किया गया है।

आलम्बन रूप में प्रकृति का जो मोहक रूप 'पंत' के 'पल्लव' में आ सका है, वह महादेवी की कविताओं में देखने को भी नहीं मिलता। महादेवी जी प्रकृति के एक-एक रूप को स्वतन्त्र व्यक्तित्व प्रदान करती हुई उसके चेतन व्यापारों की कल्पना करती जान पड़ती हैं। काव्य में कल्पना का बाहुल्य छायावाद युग की सबसे बड़ी विशेषता रही जो महादेवी जी में प्रभूत मात्रा में मिल जाती है। अन्य स्वच्छन्दतावादी कवियों की भाँति महादेवी जी की कल्पना सीधी और वैयक्तिक अनुभूति का स्पष्ट प्रकटीकरण नहीं है, बल्कि उसमें बौद्धिकता के बाहुल्य के कारण कवयित्री का प्रत्यक्ष सहज आँखों के सामने से ओझल ही रहता है। "कहीं-कहीं तो वह काल्पनिक व्यापार हमारे सौंदर्य संस्कारों के प्रतिकूल पड़ जाता है और कहीं-कहीं वह इतना क्लिष्ट पड़ जाता है कि हम ईप्सित सौंदर्य की झाँकी नहीं पा सकते।" इन्हें उदाहरणों द्वारा देखा जा सकता है :

रजनी ओढ़े जाती थी झिलमिल तारों की जाली,
उसके बिखरे वैभव पर जब रोती थी उजियाली।

प्रभात काल में झिलमिल तारों की जाली ओढ़कर रजनी का जाना तो समझ में आता है पर उसके बिखरे वैभव पर उजियाली का रोना समझ में नहीं आता। साधारणतः प्रभात को हँसते हुए ही आता माना गया है जिससे सहज विश्वासों को दबाकर प्रभातकालीन नमी अथवा आँसूरूपी ओस के

आधार पर ही उजियाली के रोने की विलष्ट कल्पना करनी पड़ती है। इसी प्रकार :

विश्वासों का नीड़ निशा का बन जाता जब शयनागार
लुट जाते अभिराम छिन्न मुक्तावलियों के बन्दनवार,
तब बुझते तारों के नीरव नयनों का यह हाहाकार,
आँसू से लिख लिख जाता है कितना सुन्दर है संसार॥

ये कविताएँ इतनी अन्तर्मुखी हैं कि वे प्रकृति के प्रत्येक कंप और मर्मर संकेतों से अपना परिचय नहीं कर पातीं। महादेवी जी कविता के प्रत्येक बंद को स्वतन्त्र चित्र के रूप में प्रस्तुत करना चाहती हैं और उसके माध्यम से मानसिक वृत्तियों और वातावरणों को भी मुखरित करना चाहती हैं जिससे स्वाभाविक अभिव्यक्ति का कार्य उनके लिए अत्यन्त कठिन हो जाता है। महादेवी जी अपनी जिन कविताओं में अपने आग्रह से ऊपर उठ सकी हैं, उनमें हमें सजीव कविता का स्रोत बहता दिखलाई पड़ता है :

स्वर्ग का था नीरव उच्छ्वास, देव वीणा का टूटा तार,
मृत्यु का क्षण-भंगुर उपहार, रत्न वह प्राणों का शृंगार,
नई आशाओं का उपवन, मधुर वह था मेरा जीवन।

इसी प्रकार जहाँ वे अस्पष्ट एवं क्लिष्ट उपमानों को छोड़कर सरल भाव-भूमि पर उतरी हैं उनके चित्र काफी सुलझे हुए चित्रित हुए हैं, यद्यपि ऐसे चित्रों का महादेवी जी की कविताओं में अभाव है :

जाग-जाग सुकेशिनी री!
अनिल ने आ मृदुल हौले, शिथिल वेणी-बन्ध खोले,
पर न तेरे पलक डोले, बिखरतीं अलकें झरे जाते सुमन,
वरवेषिनी री॥

छाँह में अस्तित्व खोए अश्रु से सब रंग धोए,
मन्दप्रभ दीपक सँजोए, पंथ किसका देखती तू
अलस स्वप्न निवेशिनी री॥

करुणा की ओर महादेवी का झुकाव सर्वाधिक रहा है। अन्य स्वच्छन्द काव्यधारा के कवियों की भाँति इन्होंने व्यक्त प्रकृति के सौन्दर्य प्रतीकों को

न अपना कर उसकी अव्यक्त गतियों और छायाओं का संग्रह किया है। यही कारण है कि अपनी दुरूहता के कारण वे वर्णन पाठकों को रहस्यात्मक जान पड़ते हैं यद्यपि उनमें वेदना की विवृति ही निहित है। उदाहरण के लिए हम रख सकते हैं :

उच्छ्वासों की छाया में पीड़ा के आलिंगन में,
विश्वासों के रोदन में, इच्छाओं के चुम्बन में,
उन थकी हुई सोती सी उजियाली सी पलकों में,
बिखरी उलझी हिलती थी मलयानिल की अलकों में।

× × ×

जो बिखर पड़े निर्जन में निर्झर सपनों के मोती
मैं ढूँढ़ रही थी लेकर धुँधली जीवन की ज्योती॥

वेदना के क्षेत्र में व्यक्तिगत भावुकता से आरम्भ कर महादेवी जी क्रमशः भावना क्षेत्र में बिखरती गई हैं। जिसे उनकी एक उड़ान में देखा जा सकता है :

चाहता है यह पागल प्यार अनोखा एक नया संसार,
कलियों के उच्छ्वास शून्य में ताने एक वितान,
तुहिन कणों पर मृदु कंपन से सेज बिछा दे गान,
जहाँ सपने हों पहरेदार अनोखा एक नया संसार।

भावना जगत् में विचरण करनेवाली महादेवी जी संयम की अधिकता के कारण जागरूक कलाकार के रूप में ही पाठकों के सम्मुख आती हैं। उनके काव्य में प्रकृति घुली-मिली है, उसका प्रयोग भाव और कला दोनों पक्षों में हुआ है किन्तु ऋतु आदि के वर्णनों को उन्होंने कहीं पर भी आधार नहीं बनाया है जो स्वच्छन्दतावादी साहित्य का मूलाधार है। इन्होंने अभिव्यक्ति के प्रत्येक क्षेत्र में अपनी वैयक्तिकता और नवीनता का परिचय दिया है। किसी भी प्रकार का अंकुश इनकी कल्पनाओं को रोक नहीं सका है और न तो कहीं भी उनकी स्वच्छन्द भावनाओं का मार्ग ही अवरुद्ध हो पाया है, जो कुछ थोड़ा सा दुराव-छिपाव रह गया है उसके लिए उनका नारी व्यक्तित्व उत्तरदायी है।

●

## गुरुभक्तसिंह 'भक्त'

श्री गुरुभक्तसिंह जी 'भक्त' का प्रवेश काव्य-जगत् में निराला और पन्त के साथ ही होता है किन्तु उनकी प्रथम कविता-पुस्तक 'पन्त' के 'पल्लव' के बाद प्रकाशित हुई। भक्त जी के काव्य का दृष्टिकोण आध्यात्मिक पृष्ठभूमि और रहस्यात्मक अनुभूतियों से दूर मानववादी ही है। कवि ने उस समय जब कि पन्त और निराला अपनी आध्यात्मिक और प्रकृति-परक रहस्यात्मक रचनाएँ कर रहे थे, शुद्ध रूप में प्रकृति और मानव अनुभूतियों को अपना काव्य-विषय बनाया था। इस दृष्टि से कदाचित् 'भक्त' जी पर बहुत कम विचार हुआ और अपने समय में उन्हें आरम्भ में जो सम्मान मिला उसकी ऐतिहासिकता को नवीन आलोचना भूलती-सी जा रही है। वास्तव में प्रचार और प्रदर्शन से दूर रहने वाले इस सच्चे मानवतादी कवि ने एकान्त भाव से काव्य-सर्जन को ही अपना लक्ष्य बनाया; दल-वर्ग और शिविरों से अलग प्रेम और सौन्दर्य के गायक इस कवि ने सभी मंचों और गद्य रचनाओं में कुछ न कहकर अपने अरबी, फारसी, इतिहास और संस्कृत काव्यों के विस्तृत और गम्भीर अध्ययन को कवि की व्यापक और मानवीय सहानुभूति देते हुए जो कुछ कहा केवल कवि रूप में ही। आरम्भ में **कविवर पं० अयोध्याप्रसाद उपाध्याय 'हरिऔध' आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, डा० भगतवतशरण उपाध्याय, पं० अमरनाथ झा** आदि द्वारा लिखे गए प्रशंसात्मक निबन्ध 'भक्त' जी की लोकप्रियता और काव्यगत नवीनता के परिचायक रहे हैं। स्वयं निराला जी ने भी भक्त जी पर एक प्रशंसात्मक लेख लिखा था। डा० भगवतशरण उपाध्याय ने तो संपूर्ण 'नूरजहाँ' की एक व्याख्यात्मक आलोचना ही लिख डाली है। स्वच्छन्दतावादी कवियों की भाँति इनके काव्य का प्रारम्भ भी स्फुट कविताओं के रूप में हुआ।

सरससुमन, कुसुम-कुंज, वंशीध्वनि और वनश्री उनके स्फुट काव्य संकलन हैं। प्रकृति के सामान्य रूप पर वर्डस्वर्थ की भाँति रीझने वाले इस कवि ने हिन्दी काव्य-साहित्य में प्रकृति-वर्णन की एक नवीन परम्परा ही चलाई। पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी जी के शब्दों में, न उन्होंने किसी का अनुगमन किया और न कोई उनका अनुगमन कर सका। वैज्ञानिक दृष्टि से यह भक्त जी के स्वच्छन्दतावादी कवि के विषय में एक विशिष्ट तथ्य है। न इस कवि ने किसी परंपरा के सूत्र के सहारे पदार्पण किया और न एक

व्यापक जीवन दृष्टि और विषय-विस्तार के अलावा किसी स्थूल परम्परा के स्थापित करने की चिन्ता ही की। 'वर्डस्वर्थ' ने प्रकृति में एक स्वतंत्र आत्मा का दर्शन किया था और प्रकृति के प्रति वह एक धार्मिक विश्वासपूर्ण तीव्र भावना से देखता था, किन्तु भक्त जी ने ऐसा नहीं किया। अपने भावातिरेक में वे 'वर्डस्वर्थ' की भाँति उस सीमान्त तक नहीं जा सके। एक प्रकृति-प्रेमी कवि की प्रकृति के सहज रूप के साथ कितनी सहज रागात्मक एवं मानवीय सवेदना हो सकती है, 'भक्त जी' का प्रकृति-प्रेम उस भूमि पर पल्लवित और प्रसरित हुआ है। अनेक प्रकार की घासों, चिड़ियों और पौधों का उन्हें अत्यन्त सूक्ष्म परिचय था। कहीं-कहीं उनका यह परिचय नाम-गणना की लम्बी सूचियों में प्रकट हो गया है किन्तु अधिकांश स्थलों पर जहाँ वह काव्य संतुलन को नहीं भूल सके हैं, रचना बड़ी मार्मिक और हृदयस्पर्शी हुई है। नगरों के जीवन से दूर ग्रामों, उसके चारागाहों, नदी के कछारों और वनों की प्राकृतिक विविधता 'भक्त जी' के काव्य में बड़ी ताजगी के साथ प्रस्तुत हुई है। इसीलिये 'आचार्य शुक्ल-जी' ने 'अर्थ भूमि के संकोच', 'बँधी लकीर के वादों' एवं 'प्रेम गान की परिपाटी' से आगे बढ़कर 'प्रकृति प्रांगण के सचराचर प्राणियों के रागपूर्ण परिचय' 'विविध विषयों पर आत्मीयता व्यंजक दृष्टिपात' एवं 'सुख-दुख में उनके साहचर्य की भावना को' विकास देने वाले तत्कालीन कवियों में भक्त जी को गौरव के साथ स्मरण किया है।

'नूरजहाँ' का कवि हठीली-सलोनी भोली बालिका के रूप पर ऐसा रीझा कि अपनी वैयक्तिक अनुभूतियों की गहराई में उतर कर भी उसे न भूल सका। प्रकृति के मनोरम वातावरण में कोयल की कूक के साथ ही किसी के साहचर्य के कारण कवि के हृदय में भी अप्रकट हूक उठी थी जो अभावजन्य स्मृति के कारण सस्वर कविता की वाणी में फूट पड़ी :

फिर बोल उठी कोयल कू ! कू !
फिर बोल उठी कोयल कू ! कू !

दिन थे हम दोनों होड़ लगा पंचम के स्वर में गाते थे।
दे मींड़ सरित की लहरों पर तारों से तार मिलाते थे॥
हम भी रसाल की डालों पर चढ़ आमों में छिप जाते थे।
हम तेरे आम चुराए बिन ही चोर बनाए जाते थे॥

तू दाँव न देकर चली गई जब गई हमारे हाथों छू।
फिर बोल उठी कोयल कू ! कू ? फिर..................॥
जब चातक प्यासा चिल्लाता फूलों में ओस टपकती थी।
सरिता जल में जुग-जुग करते तारों की ज्योति चमकती थी॥
विरहाकुल की गति बरबस ही बढ़ती थी, कभी ठसकती थी।
आशा के स्वप्नों में विभोर जब मेरी आँख झपकती थी॥
अंगुली के बल आ दबे पाँव तब नयन किसी के पड़ते चू।
फिर बोल उठी कोयल कू ! कू ! फिर.......................॥

वेदनामय भावों की तीव्रता, स्मृति का वेग, सहज एवं स्वाभाविक चित्रांकन तथा प्रकृति के अतीत-वर्तमान भावात्मक एवं स्थूल मनोहारी दृश्यों का जो समन्वित रूप 'भक्त जी' की एक ही कविता में सम्भव हो सका है उससे उनकी लेखनी की शक्ति का परिचय मिल जाता है। प्रत्यक्ष को सामने रखकर अप्रत्यक्ष की ओर देखना तथा वर्तमान के साथ ही साथ समानधर्मा चित्रों को स्मृति के माध्यम से चित्रित करते जाना 'भक्त जी' की अपनी विशेषता है। सूक्ष्म और स्थूल का यह समन्वय ऐसा ही मोहक है जैसा कि लहरों पर का तैरता हुआ संगीत। 'शरद पूनो' शीर्षक का एक अंश कथन की सत्यता को प्रमाणित करने के लिए पर्याप्त है :

आज है शरद्पूर्णिमा रात।
आज है शरद्पूर्णिमा रात।
डूब गया राधा के रँग में श्याम गगन का गात।
श्याम सलोना कृष्ण अम्बुनिधि रसमय मधुबन करके,
निज हिय में उतार नभ-शशि को मृदुल अंक में भरके,
विविध रूप धर लोल लहर में शशि किरणों संग नचता,
स्वर वंशी पर हृदय-ताल पर आज रास है चलता।
रास देख यह याद आ गई कोई भूली बात॥
आज है शरद पूर्णिमा रात।

बिम्ब-ग्रहण की अद्भुत क्षमता 'भक्त' जी को मिली है जिसके लिये न तो उन्होंने काव्य के विहित सिद्धान्तों का अनुसरण किया है और न

शब्दजाल के निर्माण का द्रविण प्राणायाम ही। 'भक्त' जी मूलतः 'प्रकृति' के कवि हैं क्योंकि उनका मानवीय प्यार भी तो उसी की गोद में उत्फुल्ल हो पाता है। 'पंत' जी की प्रकृति और 'बाले तेरे केशजाल' विषयक द्विविधा को 'भक्त जी' के यहाँ स्थान नहीं क्योंकि वे प्रकृति को सर्वोपरि समझते हैं और सबको प्रकृति सुषमा को दिल खोलकर अंकस्थ करने का सन्देश देते हैं। 'मधुऋतु' नामक अपनी कविता में उन्होंने धरती के अंक और सुन्दरता के आलम्बन रूप में तो चित्रण किया ही है, साथ ही साथ मानव जीवन पर उसके पड़नेवाले प्रभावों का भी सजीव भावुकतापूर्ण वर्णन किया है। कवि का विश्वास है कि कुसंस्कार अन्य सामाजिक दुराव-छिपाव को मिटाकर स्वस्थ एवं सुखद जीवन का निर्माण यदि कहीं हो सकता है तो प्रकृति की गोद में ही :

मिलो सब तोड़कर बन्धन यही तो प्यार के दिन हैं।
रसवंती ने करवट बदली मधुऋतु हँसती आई।
स्नेह भरे दीपक की बत्ती हिमकर ने उकसाई।
सकुच लाज लघु सीमा तजकर संयम से टकराया।
पोर-पोर रस भरी ऊख अब, नव यौवन गदराया।
इन्हीं खेतों की दुनियाँ में चलो अभिसार के दिन हैं।
मिलो सब तोड़कर बंधन यही तो प्यार के दिन हैं॥

... ... ...

आज माँग लो हम से सब कुछ तन मन धन दे डालूँ।
जो कुछ भी मैं करूँ याचना, चुपके से मैं पा लूँ॥
युग की स्वतंत्रता कहती बंधन सारे तोड़ो।
सरिता की बहती बाहों को, कूल बाँह में मोड़ो॥
यही दिन हैं समर्पण के हृदय की हार के दिन हैं।
मिलो सब तोड़कर बंधन यही तो प्यार के दिन हैं॥

विस्तृत अर्थ भूमि पर स्वाभाविक स्वच्छन्दता का मर्म पथ ग्रहण कर चलनेवाले कवियों में भक्त जी का ऐतिहासिक महत्व है।

'भक्त' जी की भावधारा में एक अंगूरी मादकता है। स्वच्छन्द आवेग अपनी सहज उष्मा के साथ उनकी कविताओं में अभिव्यक्त हुए हैं। इस सहज भाव विस्तार में कहीं भी दर्शन और विचार रूढ़ियों की गाँठ नहीं है। समस्त भाव-विस्तार के पीछे कवि का एक फड़कता हुआ स्वच्छन्द व्यक्तित्व विद्यमान है। उनके विक्रमादित्य नामक प्रबन्ध काव्य में भी उपर्युक्त विशेषताएँ देखी जा सकती हैं।

# द्वितीय उत्थान

स्वच्छन्दतावाद के द्वितीय उत्थान के कवियों में डॉ० रामकुमार वर्मा, श्री **भगवतीचरण वर्मा, 'बच्चन' और नरेन्द्र शर्मा** के नाम प्रमुख हैं। इन कवियों ने स्वच्छन्दतावाद के प्रथम उत्थान के कवियों में आए हुए रहस्यात्मक तत्व और अस्पष्ट भाव-वर्णन के विरुद्ध एक विद्रोह किया था। इन्होंने मानव-सुलभ भावों और तीव्र अनुभूतियों को उन्मुक्त रूप से अपने काव्य में स्थान दिया। मानव का प्रेम और उसकी वासना भी निःसंकोच भाव से इनकी कविताओं में प्रकट हुई। नारी के प्रति सहज आकर्षण को इन्होंने लज्जा, गोपन अथवा सुसंस्कृत बनाकर व्यक्त करने की प्रणाली से भिन्न स्वच्छन्द रूप में लिया। इसलिए इनके प्रेम में अशरीरी वायवीयता और सूक्ष्म कल्पना के स्थान पर मांसलता तथा शारीरिकता की प्रधानता भी है।

## रामकुमार वर्मा

डा० रामकुमार वर्मा स्वच्छन्द काव्य के 'द्वितीय उत्थान' में आते है। छायावादी कविनाओं के क्षेत्र में उनका नाम जयशंकर प्रसाद, 'निराला', 'पन्त' और महादेवी जी के बाद सादर लिया जा सकता है। रहस्यवाद के कवियों में ये महादेवी के बाद ही स्मरण किए जाएँगे। समीक्षण, अनुशीलन एवं चिन्तन उनकी काव्य-प्रवृत्ति की एक प्रमुख विशेषता है। 'वीर

हम्मीर', 'कुल-ललना', 'चितवन' प्रारंभिक रचनाएँ हैं। 'चित्तौड़ की चिता' एक ऐतिहासिक कथानक वाला प्रबन्ध है। 'अभिशाप', 'अंजलि', 'रूप-राशि' 'निशीथ', 'चित्ररेखा', 'चन्द्रकिरण' और 'आकाश गंगा' इनके स्फुट गीत-संग्रह एवं 'एकलव्य' इनका महाकाव्य है। 'चित्ररेखा' पर 'देव-पुरस्कार' तथा 'चन्द्रकिरण पर 'चक्रधर पुरस्कार' मिले हैं। इनके गीतों का कथ्य चिन्तन के आलोक से प्रोद्भासित होता है। लगता है, कवि ने मनन और अनुशीलन के साथ अपनी अनुभूतियों पर निदिध्यासन किया है, इसी से उनकी अनुभूतियों की रीढ़-स्वरूप आदि से अन्त तक गीत के भीतर एक दार्शनिक चिन्तन का सूत्र विस्तृत होता है। यही कारण है कि उनके चित्रों में क्लिष्ट चित्र-संकुलता न होकर स्पष्ट-बिम्बता होती है, उदाहरणार्थ निम्न पंक्तियों की स्पष्ट-चित्रता प्रस्तुत है :

"मैं तुम्हारे नूपुरों का हास।
चरण में लिपटा हुआ करता रहूँ चिर वास।"

इस चिन्तन ने संसार की सुख-दुःख-मयी नश्वरता की ओर भी उन्हें प्रेरित किया है :

"दया कहाँ है ? द्वेषित उसको
करता रहता रोष;
पुण्य कहाँ है ? उसमें भी तो
छिपा हुआ है दोष।
धूल हाय ! बनने ही को
खिलता है फूल अनूप;
वह विकास है मुरझा जाने
ही का पहला रूप।"

नश्वरता के साथ दुःखवाद और क्षण-वाद का विषादी स्वर ही नहीं, जीवन के विरह-मिलन के प्रति भी श्री 'वर्मा' का ध्यान केन्द्रित हुआ है, अतः वे एकांगी नहीं हैं—

"आज तुम्हारे उर से मेरे उर का नव शृङ्गार है;
बाहु-पाश का स्पर्श कंठ पर मानो पुलकित हार है।
मेरे उर में आज तुम्हारी चितवन का अभिसार है;
यह जीवन मधु भार है।"

मिलन-वियोग की रचनाओं में चिन्तन के साथ कल्पना और भावना का आलेप भी परिलक्ष्य है। 'ओस के प्रति', 'ये गजरे तारों वाले', 'एकान्त गान' एवं 'अंजलि' कविताओं में कल्पना का सुन्दर विलास एवं भावुकता का मनोहर नर्त्तन है।

डा० रामकुमार वर्मा हिन्दी खड़ी बोली के रहस्यवादी कवियों में भी ऊँचे स्थान के अधिकारी हैं। महादेवी जी के रहस्य गीत भावुकता और कल्पना के पंखों पर उड़ते हैं तो डा० वर्मा के रहस्यात्मक गीत चिन्तन के आलोक से सप्रभ हैं। हृदय में ही कोई अनजान रूप से छिपा है :

"एक वेदना विद्युत-सी खिंच-खिंचकर चुभ जाती है;
एक रागिनी चातक स्वर में सिहर-सिहर गाती है!
कौन समझे समझावे गान!
छिपा उर में कोई अनजान!"

डा० वर्मा के गीतों पर कबीर के रहस्यवाद और अद्वैतवाद का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। कवि की प्रेमसाधना इसी से विराट् की भूमिका पर झलक मारती हुई दिखलाई पड़ती है। वह सारी सृष्टि से भी अनुभूत है :

"रवि शशि ये बहते चले कहाँ, यह कैसा है भीषण प्रवाह?
मैं भूल गया हूँ कठिन राह।"

अपने ही सा वियोगी वह प्रकृति के उपकरणों को भी मानता है :

"इतना विस्तृत होने पर भी क्यों रोता है नभ का शरीर!
वह कौन व्यथा, जिस कारण है सिसका करता तरु में समीर?"

वर्मा जी ने अपने रहस्यवाद को आधुनिक युगीन मनोविज्ञान की उपलब्धियों की भूमि पर विस्तीर्ण किया है, अतः वह कबीर की उलटवाँसी से भिन्न मनोवैज्ञानिक हो गया है। कदाचित् दार्शनिक गुत्थियों की इन्हीं उद्धरणियों के अभाव में पुरातनवादियों ने इसमें अविश्वास भी व्यक्त किया है, पर यह रहस्यवाद मनोविज्ञान-सम्मत है। कवि कभी 'जलद-जाल' बनकर विश्व को सींचने की अभिलाषा भी करता है :

"मैं आज बनूँगा जलद-जाल!"

'वर्मा जी अपने गीतों में छोटे-छोटे चित्रों के सजाने में बड़े निपुण हैं। कभी रात को जुही-सी खिली और कभी चुम्बन-सी मीठी कहकर एक ससीम चित्र में ही अरूप और अत्यन्त व्यापक सौंदर्य को मर्म-केन्द्रित कर देते हैं। अधिक को थोड़े में कसकर स्पष्ट अप्रस्तुतों और प्रतीकों के चयन से प्रभाव-वृद्धि में बड़ी सहायता मिलती है :

उषा अभी सुकुमार क्षणों में
होगी वही सतेज,
लता बनेगी ओस-बिन्दु की
सरल मृत्यु की सेज;

× • × ×

दिन को क्यों लपेट लेती है
श्याम वस्त्र में रात?
और काँच के टुकड़े बिखरा
कर क्यों पथ के बीच
भूले हुए पथिक शशि को दुख
देता है नभ नीच?

डा० वर्मा के गीतों पर अभिव्यक्ति-पक्ष में उर्दू की विरोधात्मक एवं सम-तुल्य युक्ति-विन्यास की शैली का भी प्रचुर उपयोग हुआ है। इससे अभि-व्यक्ति में बल आया है। डा० वर्मा ने कवीन्द्र रवीन्द्र का भी अध्ययन किया है। काव्य के दर्शन पक्ष पर डा० वर्मा की अटूट निष्ठा है, इसीसे उनकी पंक्तियाँ भावुकता से लुंजपुंज नहीं, वरन् विचारों से सतेज हैं। उनकी कल्पना उनके चिन्तन के वृत्त से विलग नहीं, उससे सदैव अनुशासित है। उनके गीतों के गीतात्मक तत्वों एवं सम्यक् सन्तुलन में निरन्तर विकास हुआ है। आरम्भ के गीतों की भाषा किंचित् शुष्क और गद्यवत् भी लगती है, पर धीरे-धीरे उनमें कल्पना की मसृणता एवं अनुभूति की मेदुरता से माधुर्य एवं रंग-मयता बढ़ती गई है। 'निराला' का दर्शन बौद्धिक, 'प्रसाद' का भाव सहगत, 'पन्त' का कल्पना-प्रेरित, महादेवी का अनुभूति अनुगत और डा० वर्मा का दर्शन-पक्ष चिन्तन-प्रणोदित है। उसमें नवीन उद्भावना तो नहीं, पर प्राप्त सरणि पर ही कवि का आलोक-मय चिन्तन प्रमुख होता है।

गीतकार के साथ ही डा० वर्मा प्रवन्धकार भी हैं। यह प्रबन्धात्मक रुचि आरम्भिक ऐतिहासिक कथाओं के आधार पर नहीं है, जिनमें राजपूती इतिहास तथा मुगल इतिहास प्रमुख हैं। यहाँ प्रवृत्ति 'एकलव्य' नामक महा-काव्य में परिस्फुट हुई है।

पीड़ा, दुःख, विषाद, निराशा और उल्लास—जीवन के सभी पक्षों का 'वर्मा' जी के गीतों में मार्मिक चित्रण हुआ है। 'वर्मा' जी के गीत भाव, कल्पना, विचार और कला, किसी भी दृष्टि से अभावग्रस्त नहीं हैं, फिर भी चिन्तन का प्रकाश उनके गीतों की विभाजक विशेषता है। भाषा की दृष्टि से वर्मा जी विशुद्धतावादी दिखलाई पड़ते हैं। अरवी-फारसी के शब्दों का प्रयोग ('बच्चन की भाँति) उनमें विरलतम और न्यूनतम है। प्रकृति के उपकरणों को उन्होंने अपने काव्य में उपादान-रूप में सुन्दरता से ग्रहण किया है। अधिकांशतः उनके गीतों का प्रकृति-वर्णन रहस्यात्मक, मानव-भाव-रंजित और उद्दीपन-रूप में प्रयुक्त हुआ है। स्वतंत्र प्रकृति पर उनकी उक्तियाँ बहुत कम अथवा नहीं के बराबर हैं।

## भगवतीचरण वर्मा

भगवतीचरण वर्मा की वे कविताएँ जिनमें उन्होंने वियोगावस्था का वर्णन किया है, मानवीयता की भूमि पर अत्यन्त मार्मिक और विषादमय हैं—

होंठों पर नाच रहा था
मेरे वैभव का प्याला,
मैं बना हुआ था साकी,
मैं ही था पीने वाला।
कोई कहता था विष है,
कोई कहता था हाला,
मैं हँसता था मस्ती में
मेरा था रंग निराला

(प्रेम संगीत)

अन्य स्वच्छन्दतावादी कवियों की भाँति वर्मा जी ने भी प्रकृति को प्रत्येक क्षण की सहचारी बना लिया है :

देखो वियोग की शिशिर रात !
दिन का रक्तांचल छोड़ चली।
ज्योत्स्ना की वह ठंढी उदास।
आँसू का हिम जल छोड़ चली॥

(प्रेम संगीत)

प्रकृति कवि के जीवन में इस प्रकार घुल-मिल गई है कि प्रकृति के स्थूल-सूक्ष्म उपकरण उसकी अभिव्यक्ति के माध्यम बन गए हैं। इसके अतिरिक्त 'वर्मा जी' की कविताओं में कहीं-कहीं ऐन्द्रिकता और अश्लीलता के वर्णन भी मिल जाते हैं :

यह तन्मयता की बेला है
यह है सँयोग की रात प्रिये।
अधरों से कह लें आज अधर
जी भर कर अपनी बात प्रिये।
सुख से सुरभित इन श्वासों में
कितना मधुमय उच्छ्वास भरा,
इन अलस अधखुली आँखों में
कितना मादक उल्लास भरा,
प्राणों का होगा आज मिलन,
कम्पित है पुलकित गात प्रिये !
तुम सम्मोहिनि, मैं विसुध स्वप्न,
यह है सँयोग की रात प्रिये !

मनोवेग की तीव्रता के साथ-साथ कवि का शील और संयम भी बिगड़ता गया है और अन्त तक पहुँचते-पहुँचते वह अश्लीलता के निकट होकर चलने लग जाता है :

तुम आदि प्रकृति, मैं आदि पुरुष,
निशि-वेला शून्य अथाह प्रिये !
तुम रतिरत, मैं मनसिज सकाम,
यह अन्धकार है चाह प्रिये !

हम-तुम मिलकर के चलो सृज
सुख का अपना संसार यहाँ,
क्रीड़ा के शत-शत रंगों में
हो अपना ही अभिसार यहाँ!
ढक ले पृथ्वी, ढक ले अम्बर
जीवन का मुक्त प्रवाह प्रिये!
तुम अक्षय छवि, मैं अमिट साध
यह अन्धकार है चाह प्रिये!

●

## हरिवंशराय 'बच्चन,

आधुनिक स्वच्छन्द काव्य की गीतिधारा को बच्चन ने सर्वाधिक प्रभावित किया है। उनके समसामयिक कवियों ने विषय एवं रूप—सभी दृष्टियों से उनके काव्य से प्रेरणा प्राप्त की है। प्रेम की जिस मस्ती का शंखनाद बच्चन जी ने किया और सौन्दर्य की जो आकर्षक मधुमय धारा उन्होंने अपने काव्य के माध्यम से बहाई उसमें कवि एवं सहृदय जिन्दादिल पाठक डूब गए। स्वच्छन्दतावाद के नाम पर परम्पराओं के प्रति जो जेहाद हिन्दी कविताओं में बोला गया 'बच्चन' का स्वर उसमें सबसे ऊँचा रहा। आधुनिक युग के प्रथम खेवे के स्वच्छन्दतावादी कवियों की कुछ कविताओं को छोड़ कर वैयक्तिक अनुभूति एवं महत्वाकांक्षा के प्रकटीकरण के क्षेत्र में एक सामाजिक सीमा एवं मर्यादा का पालन सर्वत्र दिखलाई पड़ता है, पर कविवर 'बच्चन' की दृष्टि में वह केवल आत्मप्रवंचना एवं एक सामाजिक धोखा है। वे जो कुछ है उसे छिपा कर रखना उचित नहीं समझते जब कि दूसरे छिपाते हैं और यदि यह दुराव-छिपाव अब भी बना रहा तो हम परम्परावादी कवियों से आगे कहाँ? उनका कवि इसका अनुभव करता है कि अब भी समाज में ऐसे लोग विद्यमान हैं जिनके सम्मुख खुलकर आने की हिम्मत स्वच्छन्दतावादी कवियों की नहीं पड़ रही है, पर 'बच्चन' की विद्रोही भावनाएँ उस अवांछित नियंत्रण को अस्वीकार कर देने को तैयार हो गई हैं—

वृद्ध जग को क्यों अखरती
है क्षणिक मेरी जवानी ?
मैं छिपाना जानता तो
जग मुझे साधू समझता।
शत्रु मेरा बन गया है
निष्कपट व्यवहार मेरा !
कह रहा जग वासनामय
हो रहा उद्‌गार मेरा !

( मधुकलश )

स्वाच्छन्दतावादी कवियों की प्रेमपरक वैयक्तिक अनुभूतियाँ वासनामय ही रहीं पर वे आभिजात्य शैलीकारों के हाथों पड़कर अपना स्वरूप खो बैठीं अथवा उनका संस्कार कर लिया गया। जिसमें महादेवी वर्मा सबसे आगे रहीं। इस संस्कार और परिष्कार से कलात्मकता तो आई है पर वह ताज़गी नहीं रह पाई है जो 'बच्चन' की कविताओं में अक्षुण्ण है।

हिन्दी काव्य जगत् में 'बच्चन' का प्रवेश उनके काव्य संग्रह 'मधुशाला' से हुआ जो उनकी प्रथम प्रकाशित रचना है। फारसी के प्रसिद्ध हालावादी कवि उमर खैयाम की रुबाइयों की ओर उत्तरोत्तर बढ़ते हुए आकर्षणों के कारण हिन्दी कविता में भी एक नए जीवन का अंकुर फूटा। अंग्रेजी साहित्य के माध्यम से अनूदित होकर सन् १९२७–२८ के आस-पास 'सरस्वती' पत्रिका के द्वारा 'खैयाम' की रुबाइयों का उल्लेख हुआ जिसमें इतनी मादकता थी कि भावप्रवण कविहृदय तत्काल उससे प्रभावित हुए। भारतीय इतिहास का यह एक ऐसा समय भी था जिसमें राजनीतिक और सामाजिक क्षेत्रों में घोर निराशा का वातावरण छाया हुआ था जिससे इस मस्तीवाद को प्रसार पाने की अनुकूल भूमि भी प्राप्त हो गई। जीवन से निराश मानव साकी की अंगूरी दुनियाँ में ही अपने गम को डुबाने जाता है। अभिव्यक्ति के दृढ़ आधार के अभाव में तथा टूटते हुए विश्वासों की आकुलता में ही तो निराशा के गीत लिखे जाते हैं। फलतः पद्मकान्त मालवीय, हरिवंश राय 'बच्चन', हृदयनारायण पाण्डेय 'हृदयेश' एवं बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' आदि प्रमुख कवियों का झुकाव इस हालावाद की ओर हुआ, जिनमें 'बच्चन' अग्रणी रहे। उन्होंने 'खैयाम'

की कविता का रूपान्तर किया, उसकी समता पर मधुशाला, मधुबाला और मधुकलश आदि संग्रहों में संगृहीत कविताओं की सफल रचनाएँ कीं। इसके अतिरिक्त 'बच्चन' के अन्य संग्रहों में प्राप्त कविताओं का आधार नारी-आकर्षण है जिसमें वायवीय उड़ान की अपेक्षा मांसलता अधिक है और उससे वासना की तीव्र गंध आती है। इन कविताओं में मानसिक जगत् में चलने वाले प्रेम पर अनास्था और स्थूल मांसलता के प्रति आग्रह व्यक्त किया गया है। 'बच्चन जी' प्रेम को केवल भाव-भंगियों के आदान-प्रदान तक ही नहीं सीमित रखना चाहते और न मात्र कायिक चेष्टाओं से व्यक्त किए गए प्रेम से ही उन्हें तृप्ति मिल पाती है, वे तो उसका प्रतिदान 'अधर-रसपान' के रूप में ही चाहते हैं—

तब तक समझूँ कैसे प्यार,
अधरों से जब तक न कराए
प्यारी उस मधु रस का पान,
जिसको पीकर मिटे सदा को
अपनी कटु संज्ञा का ज्ञान,
मिटे साथ में कटु संसार,
तब तक समझूँ कैसे प्यार।

( आकुल अंतर )

ज्ञानी, कवि और प्रेमी सभी सौंदर्य के पारखी एवं उसके ग्राहक होते हैं। 'बच्चन' की दृष्टि से नारी सौंदर्य का केन्द्र बिन्दु है तभी तो वे अपनी भावनाओं के साथ उसके आस-पास चक्कर लगाते दिखलाई पड़ते हैं। नारी वह तत्व है जो पुरुष के लिए आनन्द की सृष्टि करती है और जिसके नैकट्य से आनन्द की सृष्टि हो वही सौन्दर्य तत्व है—

मूढ़ो, मैंने अब तक उसको
कभी नहीं सुषमा समझा
जिसके निकट पहुँचते ही
आनन्द नहीं मैंने पाया ?

( मधु कलश )

नारी कवि 'बच्चन' के लिए वह अमृत तत्व है जिसके द्वारा ही विश्वनियन्ता ने विष-पूरित जगत्-घट को आकर्षक बनाया है। जगत् में व्याप्त दुःख, विषमता एवं अतृप्ति से कवि व्याकुल हो उठा है, जिससे संसार में उसके लिए अब कोई आकर्षण नहीं रह गया है और इतने पर भी यदि कोई आकर्षण शेष है तो वह नारी-सौन्दर्य जिसके लिए ही वह जी रहा है—

जगत-घट को विष से कर पूर्ण
किया जिन हाथों ने तैयार,
लगाया उसके मुख, पर नारि,
तुम्हारे अधरों का मधुसार;

नहीं तो कब का देता तोड़
पुरुष विष-घट यह ठोकर मार,
इसी मधु का लेने को स्वाद
हलाहल पी जाता संसार।

एक ओर तो कवि नारी को सृष्टि का सारभूत अमृततत्व स्वीकार करता है और दूसरी ओर उसके आकर्षण से उद्भूत वेदनाओं का भी उल्लेख करना नहीं भूलता जिससे उसकी नारी के प्रति अस्वस्थ मांसल दृष्टि स्पष्ट हो जाती है, जिसके अनुसार नारी पुरुष के लिए एक समस्या है, जिससे वह आनन्द और वेदना एक साथ प्राप्त करता है—

अभी तो हो न सकी थी पूर्ण
अधर की अधरों से पहचान,
हुआ था केवल पहली बार
चुंबनों का आदान-प्रदान,

कि होठों पर की पहली चोट
गरल ने उठ ऊपर की ओर,
गई, मानो विद्युत की धार
हृदय-तन-मन मेरा झकझोर।

तृषातुर अधरों से जिस काल
किया था मदिरा का आह्वान,
मुझे इसका था पूरा ज्ञान
गरल भी करना होगा पान;
मधुर ले, कटु को दूँगा छोड़
समझता, क्या था मूर्ख-गँवार,
हलाहल के स्वागत को किंतु
न था इतनी जल्दी तैयार।

( हलाहल )

इस प्रकार हम देखते हैं कि भावों के अनुरूप भाषा का स्वाभाविक निर्वाह, अनुभूतियों की कलात्मक व्यंजना एवं सहज स्वाभाविक आकर्षणों के प्रति की गई ईमानदारी कविवर 'बच्चन' का अपनी विशेषता है जिसके कारण वे समस्त आधुनिक गीतकारों में अलग रह कर विशिष्ट स्थान के भागी बने। 'बच्चन' की मौलिकता उनकी रचनाओं में प्रमाणित है। उन्होंने अपने लिये नये मार्ग का निर्माण भी किया और उस पर चलकर मंजिल भी मार ली। परवर्ती गीतकारों ने 'बच्चन' का अनुकरण करना चाहा है पर वे उनके काव्य से प्रेरणा ही प्राप्त कर सके हैं, उस काव्य-परम्परा को आगे बढ़ा नहीं सके हैं।

नारी की अंगूरी मादकता में 'बच्चन' इतने अधिक रम गये हैं कि अपने रोमानी गीतों में वे काव्य के अन्य विधायक तत्वों का प्रभूत मात्रा में समन्वय तो नहीं कर पाये हैं, पर जहाँ कहीं उन्होंने उनका स्पर्श किया, उन्हें पर्याप्त सफलता मिली है, इसमें सन्देह नहीं। प्रकृति को निज भावों के अनुरूप देखना स्वच्छन्दतावादी कवियों की प्रमुख विशेषता रही है। 'बच्चन जी' का भी अन्तर जब आकुल होता है तो उन्हें सर्वत्र प्रकृति में दुःख ही दुःख व्याप्त दिखलाई पड़ता है :

लहर सागर का नहीं शृंगार,
उसकी विकलता है;
अनिल अम्बर का नहीं खिलवार,
उसकी विकलता है;

विविध रूपों में हुआ साकार,
रंगों से सुरंजित;
मृत्तिका का यह नहीं संसार,
उसकी विकलता है।

( आकुर अन्तर )

इस प्रकार उन्हें सर्वत्र विलकता ही विकलता दीख पड़ती है जो उनके ही अन्तर की छाया है। कुल मिलाकर 'बच्चन' का काव्य मिलन-काल में बिछुड़न की आशंका और नारी के स्थूल एवं मांसल सौंदर्य की अतृप्ति से ओतप्रोत है। विचारों और भावों का समन्वय उन्होंने अत्यन्त कलात्मक ढंग से प्रस्तुत किया है पर उनमें स्थूलता के दर्शन हो ही जाते हैं :

आज सजीव बना लो प्रेयसि !
अपने अधरों का प्याला।
भर लो-भर लो-भर लो इसमें,
यौवन मधुरस की हाला।
और लगा मेरे अधरों से
भूल हटाना तुम जाओ।
अथक बनूँ मैं पीने वाला,
खुले प्रणय की मधुशाला।

( मधुशाला )

विषय एवं रूप को लेकर कविता के क्षेत्र में इधर जो नये-नये प्रयोग किये जा रहे हैं उनका प्रभाव 'बच्चन' की बाद की लिखी जाने वाली कविताओं पर भी पड़ा है।

## नरेन्द्र शर्मा

नरेन्द्र शर्मा भाषा के क्षेत्र में सुमित्रानन्दन पन्त के अनुयायी होते हुए भी भावों के क्षेत्र में 'पन्त' से अधिक स्पष्ट मानवीय और मांसल हैं। 'कर्णफूल', 'प्रवासी के गीत', 'प्रभात फेरी' आदि संकलनों की रचनाएँ

जहाँ एक ओर रहस्यात्मक सूक्ष्मता से भिन्न हैं वहीं दूसरी और नारी के सौंदर्य के प्रति सजग, संवेदनशील ऐंद्रिक भी :

प्रिये अभी मधुराधर चुम्बन गात-गात गूँथे आलिंगन।
सुने अभी अभिलाषी अन्तर मृदुल तरंगों का मृदुकंपन ॥

( प्रभात फेरी )

नारी सौंदर्य की स्थूलता के प्रति आग्रह तो नरेन्द्र शर्मा की कविताओं में मिलता है पर उनमें उद्दाम वासना से उद्भूत पौरुष की उतनी छटपटाहट नहीं जितनी कि निराशा, हाहाकार और परवशता है :

आयगा मधुमास फिर भी,
आयगी श्यामल घटा घिर।
आँख भर कर देख लो,
यह मैं न आऊँगा कभी फिर ॥
प्राण तन से बिछड़कर कैसे मिलेंगे।
आज के बिछुड़े न जाने कब मिलेंगे ॥

... ... ...

'कब मिलेंगे ?' पूछता जब विश्व से मैं विरह कातर,
'कब मिलेंगे ?' गूँजते प्रतिध्वनि-निनादित व्योमसागर,
कब मिलेंगे ? प्रश्न, उत्तर 'कब मिलेंगे ?'
आज के बिछुड़े न जाने कब मिलेंगे ?

( प्रवासी के गीत )

संध्याकालीन परिवर्तन के कारण प्रकृति जैसा रूप धारण करती है उसका एक सजीव चित्र 'शर्मा जी' ने तो खींचा ही है, साथ ही साथ उन्होंने विरहा की अनुभूतियों की साकार प्रतिभा के रूप में भी उसे देखा है। भावों के माध्यम से विराट् चित्रों के निर्माण में द्वितीय उत्थान के कवियों में नरेन्द्र शर्मा को अपेक्षाकृत सफलता अधिक मिली है :

साँझ होते ही न जाने छा गई कैसी उदासी ?
क्या किसी की याद आई, ओ विरह व्याकुल प्रवासी ?

... ... ...

जल प्रिया की याद में जल, चिर-लगन बनकर प्रवासी।
स्नेह की बन ज्योति जग में, दूर कर उर की उदासी।

(प्रवासी के गीत)

रहस्यात्मकता से प्रभावित होकर जब 'शर्मा जी' चाँदनी को देखते हैं तो उनके मन में एक जिज्ञासा उत्पन्न होती है, वे अनुभव करते हैं कि विराट् सत्ता का अप्रकट सौंदर्य ही आज चाँदनी में बिखर पड़ा है, पर उनका यह भाव अधिक देर तक नहीं टिक पाता और उनमें वे किसी के दृगों को याद करने लग जाते हैं जिसके बिछोह का दुख उन्हें सहन करना पड़ रहा है:

बिम्ब किसका, ज्योति किसकी, आज रवि के शशि मुकुर में।
बहुत दिन के बाद फिर आह्लाद कवि के मौन सुर में।
कौन सी सम्मोहिनी, जिससे धरा चुपचाप सुनता—
आज छन-छन आ रही जो जीर्ण तरु-से भग्न उर में ?

.... ... ...

उन दृगों की याद क्यों आई मुझे इस चाँदनी में ?
थी कमी सुख-शान्ति जो, वह अब नहीं इस चाँदनी में।
विवशता की याद आई, लपट उठ्ठी धुआँ उमड़ा,
आज जग में चाँदनी है, मैं नहीं पर चाँदनी में।

(प्रवासी के गीत)

इस प्रकार ऐहिक सौंदर्य की तीव्रानुभूति के कारण कवि प्राकृतिक सुषमा में भाव-विभोर नहीं होने पाता। यहाँ आकर नरेन्द्र शर्मा की अभिव्यक्ति 'पंत' से अधिक स्पष्ट और ऐहिक हो जाती है।

●

# तृतीय उत्थान

इसका संकेत ऊपर किया जा चुका है कि स्वच्छन्दतावादी काव्य की छायावाद एक प्रमुख प्रवृत्ति है। द्विवेदीयुगीन स्थूल वस्तुपरकता, गद्यात्मक बाह्यात्मकता और रुक्ष नीतिमत्ता के विरुद्ध आधुनिक युग में जो स्वच्छन्दतावादी चेतना प्रोद्भासित हुई, हिन्दी-साहित्य में उसे छायावाद का नाम प्रदान किया गया। इस काव्य की अति सूक्ष्मता, आभ्यंतरिकता एवं उपचार वक्रता ने उस समय के पाठकों को जिस छायात्मकता की अनुभूति का आभास दिया, उसने ही इस काव्य-प्रवृत्ति के छायावाद नाम को चरितार्थता प्रदान की थी। यही सूक्ष्मता गहनतर होकर रहस्यवाद के आध्यामिक स्तर पर पहुँची। **श्रीमती महादेवी वर्मा** एवं डा० **रामकुमार वर्मा** जिसके ज्वलंत प्रतीक हैं। इस काव्य धारा के भीतर निहित लौकिक तथा मानववादी वर्मा के वाद **श्री भगवतीचरण वर्मा, श्री हरिवंश राय बच्चन** एवं **नरेन्द्र शर्मा** के काव्यों में अभिव्यक्ति पाई। किन्तु इन कवियों के भीतर छायावादी संकुल सूक्ष्मता के दूसरे छोर स्थूलता, नग्नता एवं अतिप्रत्यक्षता तक खिंच आए। अतिसूक्ष्मता एवं अतिप्रत्यक्षता के इन दोनों छोरों के बीच हिन्दी खड़ी बोली-गीतधारा की एक संतुलित एवं सहज अभिव्यक्ति प्रकट हुई, जिसे आलोचकों ने छायावाद के तृतीय उत्थान का नाम दिया है,[1] किन्तु मैं इसे 'छायावादोत्तर मानववादी गीतधारा' अथवा 'नव्य स्वच्छन्दतावाद' का नाम देना अधिक

१—छायावाद की काव्य साधना—प्रो० क्षेम।

उपयुक्त समझता हूँ क्योंकि यह धारा छायावाद का क्षयकालीय रूप नहीं, उसका एक सहज-संतुलित अङ्ग-विकास है। छायावादी सर्जना के अंतिम छोर पर दो धाराएँ स्पष्टतः देखी जा सकती हैं—पहला, छायावादोत्तर 'नव्य स्वच्छन्दतावादी गीतिकाव्य' और दूसरा 'प्रगतिवाद।' नव्य स्वच्छन्दतावादी गीति परम्परा छायावादी कविता की ही एक विशेष प्रकार की विकास यात्रा है जो अपने समस्त शिल्पगत चारुत्व वायविक मार्दव के बावजूद अपने कथ्य में लगभग अमौलिक तथा अपनी पूर्ववर्ती परम्परा की अनुकृति मात्र है। यह धारा किसी न किसी रूप में आजतक प्रवाहित है और इसमें इधर के दिनों में कुछ एक अच्छी रचनाएँ भी सामने आई हैं। इस दिशा में **रामकुमार वर्मा, हरिवंशराय 'बच्चन', भगवतीचरण वर्मा, नरेन्द्रशर्मा, रमानाथ अवस्थी, शम्भुननाथ सिंह, गिरधरगोपाल,** प्रो० **क्षेम** के अतिरिक्त **उमाकान्त मालवीय, शिशुपाल सिंह 'शिशु', गोपाल सिंह 'नेपाली', 'नीरज', विद्यावती 'कोकिल', रामेश्वरीदेवी 'चकोरी'** आर **सुभद्राकुमारी चौहान** आदि के योगदान विशेष महत्व रखते हैं। स्वछन्द या छायावादी कविता से यह धारा कुछ अर्थों में भिन्न है।

छायावाद अथवा स्वच्न्दतावाद का अपना एक लक्ष्य था—'विराट् मानव का अन्वेषण।' इस काव्य धारा में प्रस्तुत 'विराट् मानव' का स्वरूप उपनिषदों के 'अहं ब्रह्मास्मि', पौराणिक आदर्शवाद, बुद्धदेव की करुणा, प्लेटो के सत्यं-शिवं-सुन्दरं तथा प्रभाव-रूप में अंशतः पश्चिमी स्वच्छन्दतावादी कवियों की काव्य-चेतना से रन्चित था, जिसे कल्पना के नेत्रों से देखने, छाया की तूलिका से चित्रित करने की चेष्टा की गई थी। साथ ही, समकालीन दासता-जन्य विषम स्थितियों को चुनौती देने के भाव भी उस 'मानव' में विद्यमान थे, पर बन्धन न तोड़ पाने की विवशता-जन्य यन्त्रणा-पीड़ा के स्वर भी बार-बार सुने जाते थे। नवता की इस प्रवृत्ति ने बंगाल को सर्वप्रथम आन्दोलित किया था और वहाँ से यह प्रवृत्ति हिन्दी काव्य में आई थी। इस खेवे के कवियों के संकल्प में तो समानता रही पर दृष्टि में पर्याप्त भेद देखने को मिलता है। **जयशंकर प्रसाद** ने उस 'विराट् मानव' की खोज सुदूर अतीत के इतिहास में की जिसे 'मनु', 'चन्द्रगुप्त', 'स्कन्दगुप्त' आदि चरित्रों में अभिव्यक्ति मिली है। 'निराला जी' का अन्वेषण 'राम की शक्ति-पूजा' और 'तुलसीदास' में पूर्ण हुआ। **महादेवी** ने प्राचीन भारतीय अध्यात्मवाद तथा दर्शन-ग्रन्थों में उस व्यक्तित्व के दर्शन

किए। 'नीरजा', 'दीपशिखा' जैसी उनकी रचनाओं को प्रमाण-स्वरूप देखा जा सकता है। सुमित्रानन्दन पंत ने निसर्ग से उस 'विराट' का परिचय प्राप्त किया। छायावादी काव्यधारा की समाप्ति तक यह स्थिति बदलती जान पड़ती है। इन कवियों की चर्चा प्रथम उत्थान के अन्तर्गत की गई है जिससे इस स्थान पर उसे विस्तार देना मैं समीचीन नहीं समझता। नव्य स्वच्छन्दतावाद में 'विराट्-मानव' के स्थान पर 'अहं-ग्रस्त' मानव के सीमाबद्ध संवेदनों की अभिव्यक्ति हुई और किसी-किसी गीतकार में वह 'निरंकुश होकर की ओर ही अग्रसर होती है। 'हाला', 'प्याला', 'मधुशाला' में इसका साक्ष्य मिल सकता है।[1]

इस गीतधारा के उन्नायकों में डा० शम्भुनाथ सिंह, कविवर 'नेपाली' एवं प्रो॰ 'क्षेम' प्रमुख हैं। इन्हीं लोगों के साथ एक ओर जानकीवल्लभ शास्त्री एवं हंसकुमार तिवारी तथा दूसरी ओर सर्वश्री गिरधर गोपाल, रमानाथ अवस्थी एवं 'नीरज' आदि भी हैं। श्री शास्त्री जी में रवीन्द्र एवं निराला का सूक्ष्म संगुम्फन अपेक्षाकृत अधिक है और गिरधर गोपाल, अवस्थी एवं नीरज में बचन के काव्य के क्रमशः 'ज्वलन-वादी', 'मुखवादी' एवं 'मरणवादी' तत्वों का प्राधान्य है। इसी दृष्टि से इन पंक्तियों के लेखक ने छायावादोत्तर 'मानववादी गीतधारा' के विशिष्ट कवियों के विवेचन पर विशेष बल दिया है।

स्वच्छन्दतावादी काव्यधारा के प्रथमोत्थान के कवियों के अन्तिम चरण काव्य में चले आते विभिन्न वादों के बोझिल तत्वों के कारण डगमगाने लगे और उनमें परिवर्तन इतनी तेजी से उपस्थित होने लगे कि उनके एक निश्चित रूप की परख करना अत्यन्त कठिन हो गया। काव्य-धारा के पीछे सामाजिक और राजनीतिक चेतना जो शक्ति के रूप में स्पन्दित रहती है, उसके कारण ही सामाजिक और राजनीतिक विश्वासों के परिवर्तन के साथ-साथ काव्य-विषयों एवं रूपों में भी परिवर्तन होता रहता है। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पूर्व का राष्ट्रीय आन्दोलन विदेशी शक्तियों से लोहा लेने की दिशा में केन्द्रीभूत हो गया था और देश की अधिकांश जनता एकोन्मुख होकर एक ही लक्ष्य की ओर बढ़ी जा रही थी, पर स्वतंत्रताप्राप्ति के पश्चात् की स्थिति वैसी नहीं रह पाई और वैसा रहना संभव भी नहीं था क्योंकि अब

१— हिन्दी साहित्य एक परिचय, द्वितीय संस्करण ( लेखक की ही दूसरी कृति )।

त्याग का प्रश्न नहीं बल्कि भोग का सवाल था, जो थोड़े लोगों के बीच सुलझी हुई प्रश्नावली बनकर रह गया था। नव-निर्माण का एक नया राजनीतिक नारा अवश्य सामने आया पर उसके सम्बन्ध में सभी एकमत नहीं हो सकते थे। शासक वर्ग ने उसे अपनी ढाल और विरोधियों ने उसे तलवार के रूप में ग्रहण किया। अब इसकी उपयोगिता का निर्णय करना जनता अथवा तटस्थ लोगों पर आ पड़ा था। जिसके कान दलगत प्रचारों से भरे जा रहे थे जिसमें साहित्यकार पीछे नहीं रहे। जिस प्रकार असंतुष्ट कांग्रेसी समाजवादी, प्रजासमाजवादी तथा साम्यवादी पार्टियों में चले आए उसी प्रकार स्वच्छन्दतावादी कविगण भी समय की माँग के साथ-साथ प्रगतिवादी, प्रयोगवादी तथा नई कविता के नाम से चल पड़ी काव्य-धारा की ओर टूटते गए। कुछ ऐसे कवि भी मिल जाएँगे जिन्होंने काव्य की लम्बी उम्र पाई है और वे उसके बदलते हुए मूल्यों के साथ स्वयं भी बदलते गए हैं। उदाहरण-स्वरूप **श्री सुमित्रानन्द पंत** का नाम लिया जा सकता है। इस प्रकार साहित्यिक वादों का ऐसा घाल-मेल मचा कि सहसा कविताओं का वर्गीकरण कर पाना कठिन हो गया। इस प्रकार तृतीय उत्थान में आकर प्रयोगों की धूम मच गई और हम देखते हैं कि एक निश्चित काव्य परम्परा खड़ी भी नहीं हो पाई कि दूसरी ने उसका गला दबाकर उठ खड़ी होने की चेष्टा की। द्वितीय उत्थान प्रौढ़ता की ओर बढ़ ही रहा था कि प्रगतिवाद ने उसे धर दबाया क्योंकि प्रथम उत्थान की कोमलता में ही उसके अंकुर कठोर हो चुके थे और वह भी पूर्ण रूपेण जवान नहीं होने पाया था कि प्रयोगवाद आ धमका। प्रयोगवाद कूड़ा-कर्कट इकट्ठा करके हरियाली का स्वप्न देखने का उपक्रम ही कर रहा था कि अनुकूल भूमि पाकर नई कविता का एक स्रोत बह निकला जिसमें अपेक्षाकृत स्वच्छन्दता के भाव उग्र रूप में वर्तमान थे, यद्यपि बौद्धिकता की इसमें भी कमी नहीं थी। जिस प्रकार अभागा पिता जीवन काल में ही पुत्र शोक को निरुपायता में सहन करता ही है, उसी प्रकार इन कवियों और उनके समर्थकों ने भी अपने जीवन काल में ही अपनी प्रचारित कविताओं का निर्वाण हृदय थाम कर देखा है। इन विभिन्न वादों की शक्ति और उपयोगिता का निर्णय समय ने ही कर दिया। काव्य सौंदर्य की स्थिरता और अस्थिरता का सच्चा निर्णायक काल ही होता है।

पिछले दो दशकों से जो कविता के पैर टिकने नहीं पा रहे थे और वह अपने स्थिर मूल्य निर्धारण के लिये अनुकूल भूमि की तलाश में जो इतनी

भटक रही हैं, इसके लिये देश की सामाजिक एवं राजनीतिक परिस्थितियाँ ही उत्तरदायी हैं। सामाजिक विकास की गति के साथ ही साथ साहित्य का विकास होता है। आधुनिक काव्य का विकास जिस सामाजिक परिस्थिति में हो रहा है, उसके विकास एवं परिवर्तन की गति अपेक्षाकृत पर्याप्त तीव्र रही। नित्य नये परिवर्तन सामाजिक स्वीकृति प्राप्त करते जा रहे हैं जिससे उसके अभिव्यक्ति के माध्यम—काव्य-रूपों में भी परिवर्तन का आना स्वाभाविक ही है। "गतिमत्ता ही युग की विशेषताओं की परिचायिका है। हिन्दी कविता अपने उदय एवं विकास काल में जिस समाज के बीच से होकर अपनी प्रगति के पथ पर बढ़ रही थी, वह युग अधिक से अधिक अश्व की पीठ पर बैठ कर दौड़ रहा था, पर आज का युग धरती का आँचल छोड़ चुका है और वह मन की गति की भाँति जेट विमानों से आगे बढ़ता हुआ नक्षत्रों की परिक्रमा करने चल पड़ा है। सभी भौतिकवादी दिशाओं में प्रगति अत्यन्त तीव्र गति से हो रही है और किसी भी एक स्थिति का स्थिर रहना कठिन हो गया है जिससे मानव के ज्ञान-विज्ञान का परिवेश भी जल्दी-जल्दी आगे बढ़ता जा रहा है। ऐसी स्थिति में साहित्यकार युग की माँग को ठुकराकर अपने को पीछे कैसे छोड़ सकता है? साहित्य-कार का अनुभव क्षेत्र भी युग की प्रगति के साथ उत्तरोत्तर बढ़ता जा रहा है।"[1] ऐसा लगता है कि युग का वैविध्य काव्य की सीमा में नहीं समा पा रहा है जिसके लिये गद्यकाव्य एक सुन्दर विकल्प रूप में वर्तमान है। साहित्य की यह बीसवीं शताब्दी विज्ञान की शताब्दी है जिसमें हृदय की अपेक्षा बुद्धि का प्राधान्य है, भावुकता एवं कल्पना की अपेक्षा तर्क और यथार्थ पर विशेष बल दिया जा रहा है। विज्ञान की प्रगति के कारण धरती छोटी हो गई है, प्रकृति-निर्मित अलंघ्य सीमाएँ टूट चुकी हैं और किसी भी देश की राष्ट्रीयता अन्तरराष्ट्रीयता में बदल चली है। विश्व के सभी नागरिक परस्पर एक दूसरे से प्रभावित हो रहे हैं। 'मार्क्स' और 'फ्रायड' ऐसे युगचिंतकों ने लोगों को नए सिरे से सोचने के लिए विवश कर दिया है। सामाजिक एवं राजनीतिक परिवर्तन आने अनिवार्य थे। इस विषम परिस्थिति में 'स्वान्तः सुखाय' को एक मात्र आदर्श मान लेना कवियों के लिये कठिन था। गद्य की बढ़ती हुई शक्ति एवं लोकप्रियता को दृष्टिपथ में रखते हुए काव्य-रूपों में परिवर्तन अनिवार्य हो गया क्यों कि यहाँ पहुँच कर उसके अस्तित्व पर भी प्रश्नवाची चिह्न लगने लग गया था। प्रगतिवाद, प्रयोगवाद, एवं नई कविता के प्रति आग्रह इन्हीं सामाजिक एवं राजनीतिक

---

१. हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद—तृ० सं० पृ० ३८८

परिस्थितियों की देन हैं, परिवर्तन की भावना जिनके मूल में विद्यमान हैं, चाहे वह विषयगत हो अथवा स्वात्मगत। स्वच्छन्दतावादी काव्यधारा के मूल में भी परिवर्तन की ही भावना कार्य करती है। अतः किसी न किसी रूप में विभिन्न वादों के माध्यम से स्वच्छन्दतावादी काव्य धारा का विकास ही हुआ है। वर्गविशेष एवं सिद्धान्त विशेष के आग्रह के कारण ही काव्य की ये नई प्रकृतियाँ अलग सी दिखाई पड़ती हैं पर वास्तव में उनकी आत्मा में कोई भेद नहीं है। यह भिन्नता ऊपरी शरीरगत है, जिसमें ढलकर उसे परिवर्तित होना पड़ता है। इसकी चर्चा सुविधानुसार आगे की जायगी।

## छायावादोत्तर प्रगतिवादी काव्य-धारा

सन् १९३६ में ही लखनऊ में स्व० प्रेमचन्द के सभापतित्व एवं मुल्कराज आनन्द जैसी प्रतिभाओं के सहयोग से 'प्रगतिशील लेखक संघ' (प्रोग्रेसिव राइटर्स असोसिएशन) की स्थापना हुई। मार्क्स का 'द्वन्द्वात्मक भौतिक दर्शन' एवं उसके प्रकाश में की गई समूची मानवता के सामाजिक विकास और इतिहास की आर्थिक व्याख्या (दि इकानामिक इन्टरप्रिटेशन आव हिस्ट्री) विश्व के विचार-चिन्तन की जगह एक अविस्मरणीय महत्व रखती है। मार्क्स ने हीगेल की अध्यात्म-मूलक सृष्टि-व्याख्या के आदर्शवादी दर्शन को 'शिर के बल' से उलट कर 'पाँव के बल' पर खड़ा कर देने का दावा किया। सम्पूर्ण विश्व मानव-चिन्तन में सामान्य जन-सभूह, श्रमजीवी बहुमत समाज और शोषित 'सर्वहारा' मानवता को प्रथम बार विश्व-विकास की प्रक्रिया में महत्तम साझीदार घोषित किया। उसने हीगेल जैसे पाश्चात्य दार्शनिकों और उसके पूर्व पूर्वेशिया और भारत के आदर्शवादी आध्यात्मिक दर्शन और 'आत्मा' की सर्व-श्रेष्ठता अथवा अद्वैतता के दर्शन को अस्वीकार करते हुए कहा कि विश्व का विकास आत्म-तत्व या विचार (आइडिया) से न होकर 'रयी', 'द्रव्य' अथवा 'भूत (मैटर) से हुआ है। आदर्शवादी दार्शनिक मानता है कि सृष्टि का विश्व-रूप मूलतः और प्रथमतः 'आत्म-तत्व' से विकसित हुआ जो एक मात्र सत्य है तथा यह भौतिक जगत् उसके विकरण का विकृत परिणाम है, जबकि मार्क्स और उसके समानधर्मा ऐन्जेल्स ने कहा कि 'भूत' तत्व ही प्राथमिक तत्व है और 'आत्मा' (आइडिया) इसका पश्चाद्वर्त्ती परिणाम है। इस प्रकार आदर्शवादी विचारक व्यक्ति-विशेष, महापुरुष और महात्माओं की भूमिका को महत्व देते हुए ईश्वर, परमात्मा अथवा ब्रह्म को एकमात्र सत्य

और सर्व-कर्ता-धर्ता मानता है, जब कि भौतिकवादी मार्क्स का निष्कर्ष है कि विश्व की मूल रचनात्मकता का श्रेय उस जन-समूह ( मॉस ) को है जो अब तक उपेक्षित, शोषित, और पीड़ित ही रखा गया है और उसके श्रम-स्वेद से हो जीवन तथा संस्कार की समस्त विभूतियाँ साकार हुईं और होती हैं। उसने 'श्रम' को एक मात्र 'मूल्य' ( वैल्यू ) माना और इसमें भी, शारीरिक श्रम को सर्वोपरि और मानसिक बौद्धिक श्रम को द्वितीयक (सेकेंडरी) स्थान दिया। मार्क्स अर्थ-शक्ति ( इकॉनामिक पॉवर ) को ही सर्व-सत्ता-निर्धारक और अर्थ शक्ति-सम्पन्न वर्ग को ही समाज में वास्तविक सत्ता का प्रभु कहा। श्रम ही समस्त उत्पादनों का मूल है, किन्तु श्रमिक उसकी आर्थिक इतिहास-व्याख्या में सर्वत्र और सदैव शोषित और दमित मिला। समाज का अर्थ-सत्ता-सूत्रधार वर्ग शोषक और शेष श्रम-वर्ग शोषित रहा। उसने अब तक के समाज के इस क्रम को बदलने का सुझाव दिया और कहा कि समाज में मुट्ठीभर 'शोषक वर्ग' और बहुतायत के 'शोषित वर्ग' में आदि-काल से संघर्ष चला आ रहा है। यह वर्ग-संघर्ष होते हुए भी सुप्त रहा है, क्योंकि सर्वहारा श्रमिक वर्ग अशिक्षित, अ-सजग और इतिहास-विकास के इस मर्म से अनभिज्ञ रखा गया है, कि समाज उसके सर पर चल रहा है और वह नगण्य और अस्तित्व-हीन कर दिया जाता रहा है। जब सर्वहारा शोषित वर्ग अल्प-संख्यक शोषक-वर्ग के विरुद्ध वर्ग-संघर्ष की चेतना से कटिबद्ध होकर संघर्ष का जुझारू बाना लेगा, तभी उसकी सच्ची मुक्ति होगी, तभी यह शोषणाधृत समाज शोषण-मुक्त समाज होगा और विशाल मानवता सच्ची मुक्ति और जीवन-सुख की उपलब्धि में समर्थ हो सकेगी।

अर्थशक्ति को उसने 'पूँजी' ( कैपिटल ) से प्रतीकायित किया है। शोषक पूँजीपति निःस्व श्रमिक से अस्थि-भंजक श्रम सस्ते में लेकर बेचता है और इस प्रकार पूँजी-संचय द्वारा पूँजीपति बनकर अपने शोषण-यंत्र को और मज़बूत करता जाता है। पूँजी पूँजी को लाती है और श्रमिक निरन्तर दीन-हीनतर होता जाता है। शोषक-शोषित वर्गों के द्वन्द्व का समाज विकृत, सामन्ती और पूँजीवादी समाज रहा है। योजन-सत्ता और अर्थ-सत्ता के विस्तार की एक प्रक्रिया भीतर ही भीतर चलती रहती है, पर शोषक वर्ग अपने चातुर्य्य के छल-छद्म से उसे विफल करता रहता है। आदर्शवाद व्यक्तिवादी रहा है और मार्क्स-दर्शन शोषित सर्वहारा-वर्ग को महत्व देने के कारण 'समष्टिवादी' ( कम्यूनिस्ट ) रहा है। मार्क्स-वाद ईश्वर को सत्ता द्वारा उत्पादित भ्रम, भाग्यवाद को कुटिल दुष्चक्र,

धर्म को सामान्य जनता को छलने और अचेत करने वाला षड्यंत्री मादक द्रव्य (अफीम) मानता है। उसने कहा कि 'धर्म जनता को बेहोश करने वाली अफीम है।' फलतः मार्क्सवाद निरीश्वरवादी, भौतिकवादी, अर्थ-वादी, संघर्षवादी, समष्टिवादी अथवा जनवादी रहा। इसने श्रमिकों द्वारा पूँजीवाद और पूँजीपतियों के विरुद्ध अन्तिम युद्धाभियान छेड़ने का मंत्र दिया, जिसका नेतृत्व क्षेत्र अथवा देश-विशेष का 'साम्यवादी दल' (कम्यूनिस्ट पार्टी और उसका नेता) करेगा। मार्क्स-दर्शन के आधार पर सन् १९१७ में रूस में लेनिन के नेतृत्व में ज़ारशाही हारी और जनवादी सरकार बनी। मार्क्सवाद भाग्यवादी तो नहीं, किन्तु वह एक अविचल 'भविष्य-वादी' अवश्य है, क्योंकि उसकी दृढ़ मान्यता है कि जन का जनवाद और जन-शासन एक अटल सत्य है जो देर-सबेर आकर ही रहेगा। पूँजीवाद अपने अन्तर्विरोधों से ही मरेगा और जनवाद अवश्यमेव विजयी होगा। उसकी व्याख्या के अनुसार इतिहास-विकास की प्रक्रिया और उसके निर्धारक शक्ति-तत्व जनवाद के ही पक्ष में निश्चित हैं। रूस में श्रमिक-शासन की स्थापना ने विश्व भर के श्रमिक विचारकों, संसार के श्रमिकों और कम्यूनिस्टों को अतीव बल और आशावाद से भर दिया। आज के पूँजीवादी, व्यक्तिवादी, शोषक और अन्याय-मूलक समाज के विकल्प के रूप में श्रमिकों की समष्टिवादी, शोषण-विहीन, साम्य-मूलक, श्रम को सर्वाधिक मूल्य देने वाली और न्याय-मूलक समाज-व्यवस्था का स्वप्न और उसको चरितार्थ करने वाली 'सर्वहारा-अधिनायकीय शासन-पद्धति' (डिक्टेटरशिप आव दि पोलेतैरिएत) ने जन-सामान्य को आकृष्ट किया।

भारत उस समय दास था। विदेशी अंग्रेजों के चंगुल में कराहती जनता के प्रबुद्ध वर्ग को शोषण-विहीन, रोटी-पानी की व्यवस्था करने वाली, सर्व-कल्याणकारिणी व्यवस्था से युक्त विशेषाधिकारों और विशेषाधिकार-सम्पन्न निहित-स्वार्थों को उन्मूलित कर सबकी सुख-सुविधा का प्रबंध करने-वाली यह नव-पद्धति पर्याप्त आकर्षक लगी। इस आकर्षण का मूल कारण मार्क्सवाद का आर्थिक कार्यक्रम और सामाजिक सांस्कृतिक वैषम्यरूप को ध्वस्त कर सबके लिए समता-न्याय-मूलक विधान का स्वप्न रहा है। ऐसा नहीं था कि अध्यात्म और धर्म को प्रधानता देने वाले भारत के सभी आकृष्ट जन धर्म-विरोधी या अनीश्वरवादी हो गए हों या सब समता और न्याय के लिए उस वैषम्य को भी छोड़ने को तैयार हो गए हों, जिसका सुफल वे स्वयं भोग रहे थे। सभी वर्गों में विदेशी दासता के प्रति भरी वितृष्णा,

विदेशी अन्यायों के लिए प्रतिशोध की भावना, अपने आस-पास ही अपने ऊपर शासन और अत्याचार करने वाले देशी-समाज की विशिष्ट विधिक स्थिति और अपने से सम्पन्नतर के प्रति सहजात द्वेष ने 'साम्यवाद' के लिए काफी अनुकूल वातावरण बना दिया था। राष्ट्रीय परतन्त्रता के विरोधी में, तब जाति-पाँति, धर्म, वर्ग आदि पर आने वाले भावी संकटों का बोध उतना जागरित नहीं हुआ था। खेतों पर श्रमिक, कल-कारखानों में मज़दूर और विदेशियों या उनके पिट्ठुओं के सामने आए दिन अपमानित-दलित होने वाली जनता तत्काल भले ही साम्यवादी न हो गई हो, पर सामन्तों के अत्याचार और महाजनों के अन्यायी शोषण से तो अधिकांश जन असन्तुष्ट और पीड़ित थे ही। इस तरह मार्क्सवाद पहले राजनीति के क्षेत्र में आया। मार्क्सवाद साहित्य को सत्ताधारी वर्ग का शस्त्र और प्रचार-यन्त्र मानता था, अतः साहित्य के सशक्त प्रचार-माध्यम के प्रति उपेक्षाशील रहना बुद्धिमत्ता नहीं थी। उसने साहित्य में भी 'प्रगतिशीलता' की चेतना का प्रचार किया और अपने प्रचार यन्त्र के रूप में उपयुक्त और अनुकूल पड़ने वाले साहित्यकारों को प्रश्रय, प्रचार और मान्यता देना आरम्भ कर दिया। प्रेमचन्द जी जीवन भर गांधीवादी प्रभाव से ही सही, दीन-दुखी-समाज के लेखक रहे, अतः यह दर्शन उनके लिए प्रतिकूल नहीं था और प्रेमचन्द साम्यवादियों के लिए सबसे अधिक आवश्यक महान् व्यक्तित्व थे, जिनके माध्यम से वह व्यापक आकर्षण पैदा करने में समर्थ हो सकता था। मार्क्सवाद निरीश्वरवादी, भौतिकवादी, धर्म-विरोधी और अधिनायकवादी भले ही रहा हो, पर यह तो आगे की बात थी, जो अभी साकार नहीं थी और न निकटतर भविष्य में उसके साकार होने की कल्पना ही थी। उसका आर्थिक आदर्श बड़ा ही मनोमोहक था और उसके माध्यम से विदेशी शासन-सत्ता को कुत्सित करने और उखाड़ने की तात्कालिक प्रेरणा-शक्ति भी उसमें प्रचुर मात्रा में वर्त्तमान थी। धीरे-धीरे ब्रिटिश शासन के विरोधी, सामाजिक वैषम्य से असन्तुष्ट, वस्तु-वादी यथार्थ और जन-कल्याण की दृष्टि से रचना करने वाले साहित्यकार-कवि इस 'संघ' से सम्बद्ध हो गए। 'सर्वहारा साहित्य', 'जनवादी साहित्य' और 'जन-कविता' तथा 'जन-हित' का नारा उठा और छायावादी काव्य की काल्पनिकता, वैयक्तिक भावुकता, रोमान और भाषिक दुरूहता से असन्तुष्ट साहित्यकार और चिन्तक 'प्रगतिशील साहित्य' का सिद्धान्त-शास्त्र और 'समीक्षकीय आचार-संहिता' के साथ 'कवि आचार-संहिता' रचने में भी संलग्न हो गए। रांगेय राघव, मुक्तिबोध, भारतभूषण अग्रवाल, शिव-

मंगल सिंह 'सुमन', नागार्जुन, शील, केदारनाथ अग्रवाल, रामविलास शर्मा और शमशेर बहादुर सिंह-आदि कवियों ने इस प्रगतिवाद को अपनी कविताओं में उतारना आरम्भ कर दिया। मजदूर, शोषण, कारखानों का जीवन, पूँजीपतियों के अन्याय, वर्ग-संघर्ष का आह्वान और एक बद्ध अभियान इनके मुख्य विषय बने। रूस का लाल झंडा और साम्यवादी दल का हँसिया-हथौड़ा के प्रतीक वाला रक्तध्वज इनकी प्रेरणा का केन्द्र और दर्शन का प्रतीक रहा। लाल रंग, उससे संयुक्त ध्वज एवं नाना भाषिक विशेषण और प्रतीक 'रक्त क्रान्ति', 'सशस्त्र क्रान्ति' और 'हिंसक क्रान्ति' को प्रतीकायित करने लगे। 'लाल मास्को', 'लाल सेना', 'लाल अभियान' के जय-गान से प्रगति-साहित्य प्रतिध्वनित हो गया। विश्व-राजनीति में यह साहित्य-वर्ग, रूस को अपना नेता, विचारों का मन्दिर और अप्रत्यक्ष 'पितृ-भूमि' मान ले तो इसमें कोई संकोच नहीं था। इस साहित्य के अपने समीक्षक भी बन गए। डा० रामविलास शर्मा, शिवदान सिंह चौहान, प्रकाशचन्द्र गुप्त और आज डा० नामवर सिंह इस श्रेणी के आलोचकों में अग्रगण्य माने जाते हैं।

मार्क्सवाद और प्रगतिशील प्रगतिवाद में साहित्य या काव्य, साध्य नहीं, 'साधन', प्रचार का एक मजबूत यंत्र और शुद्ध उपयोगितावादी, सिद्धान्तवादी ( सम्प्रदायवादी, इस अर्थ में कि यहाँ शिविर-सम्प्रदाय की निष्ठा सर्वोच्च मानी जाती है। ) और दर्शन-प्रतिबद्ध लेखन है, जिसकी एक मात्र कसौटी है जन-वाद और साम्यवाद का भावात्मक अथवा साहित्यिक प्रचार-प्रसार तथा समय-समय पर 'साम्यवादी दलों के तात्कालिक निर्देशों के अनुसार सुविधावादी एवं समयानुसारी नारे गढ़कर, उसे पूर्ण निष्ठा, तत्परता और एक-स्वरता के साथ लेखन में उतारना। यहाँ साहित्य या काव्य सौंदर्य सर्जना, आनन्द दान या रस-प्रदान का लक्ष्यधर नहीं, वरन् वह मार्क्सवाद की एक 'रक्षा-पंक्ति' होता है। यहाँ कला-शिल्प गौण एवं विशिष्ट कथ्य ही सर्वेसर्वा होता है। अन्यत्र किसी कथ्य के काव्य-कला बनने के लिए उसे कला-सौंदर्य, अनुभूति, भाव अथवा संवेदना के प्रथम परीक्षण-निकष पर खरा उतरना होता है, पर यहाँ कविता और साहित्य को वैसा होने के लिए सर्व-प्रथम मार्क्सवाद की दर्शन-नीतियों की कसौटी पर खरा उतरना पड़ेगा। यहाँ कवि भी एक श्रमिक है और जैसे सभी प्रकार के श्रमिक हैं और उनमें भेद-भाव नहीं किया जाना चाहिए, उसी प्रकार साहित्यकार भी एक बौद्धिक श्रमिक है, उसकी लेखनी मार्क्सवादी

क्रान्ति के अभियान में एक तलवार से कम कार्य करने के लिए स्वतन्त्र नहीं है। साहित्यकार भी 'साहित्यिक सैनिक' है, अन्य कुछ भी नहीं। रस, सौन्दर्य और आनन्द का, प्रगतिवाद के अनुसार, कोई स्वतन्त्र अस्तित्व या महत्व नहीं है। वह जीवन के मूल्यों की उस शिला पर ही प्रतिध्वनित और सच्चे अर्थों में प्रतिफलित हो सकता है, जो मार्क्स दर्शन के अनुसार जीवन के विकास-इतिहास और जीवन धारण का मूल तत्व है। रस, आनन्द और सौन्दर्य के मूल्य, मार्क्सवादी लेखक के लिए, इस मूल दर्शन की धारणा से विलग एक काल्पनिकता, निस्तत्व स्वप्न अथवा भुलावा है। यही यथार्थ या सत्य ( रियलिटी ) है, और इससे इतर सब कुछ भ्रम ( इल्युज़न ) मात्र। मार्क्स, लेनिन, एँजेल्स आदि मार्क्सवादी ही इस साहित्य के मान-निर्धारक, मूल्य-विधाता और पथ-प्रदर्शक रहे हैं। साहित्य-कला में ये गुम्फन, जटिल प्रतीकात्मकता और भाव औदात्त्य की अलंकृतियों की अपेक्षा उसके सारल्य, सुबोधत्व और सामान्य जन-समूह के लिए प्रत्यक्ष प्रभावकारिता को पूर्ण महत्व प्रदान करते हैं। समष्टिवादी होने से ये अति-मनोवैज्ञानिकता, कल्पना-प्रवणता, सज्जा-शिल्प-मयता को वैयक्तिकता अथवा व्यक्तिवाद का प्रच्छन्न मोह मानते हैं। साहित्य को स्वतन्त्र, अन्य विधाओं से विलग और अपने निजत्व में एक विशिष्ट कलात्मक अस्तित्व न मानने के कारण, भावनाशीलता, कल्पना-प्रवाह और सूक्ष्म व्यंजकता को वैयक्तिक भटकाव, आत्म-मोह, आत्म-विशिष्टता की साम्य-विरोधी अन्तस्तृषा का आलोड़न एवं प्रतिक्रियावादी तत्व का ही आवृत व्यामोह मानना, इनके मूल निष्कर्ष रहे हैं। प्रत्यक्षता, जन-प्रभाव की तात्कालिकता और आर्थिक-राजनीतिक दर्शन की वैचारिक धारणाओं को सुस्पष्टता के आग्रह ने प्रगतिवादी काव्य को प्रधानतः अभिधावादी, सैद्धान्तिक, विचाराक्रान्त, अति-उपयोगितावादी और अकलात्मक बना दिया है। सामाजिक चेतना और प्रगति के नाम पर शुष्क राजनीतिक सिद्धान्त-विज्ञापन और घृणा-प्रसार का, वर्ग-विद्वेष के अंधड़ों में मानवीय औदात्त्य और उसकी भावात्मक-रागात्मक गरिमा के प्रद्योतन प्रकाशन के सन्दर्भ, गौणतम हो गए। घृणा, विद्वेष, विरोध और आघात ही इस काव्य-धारा के मूल लक्ष्य बने रहे। इस साहित्य ने मानव, मानवीय समस्याओं और सामाजिकता को एक दूसरे ही छोर से पकड़ा, अतः इसके मूल्य-मान परम्परा-विकसित काव्य-साहित्य से सर्वथा भिन्न हों यह स्वाभाविक ही है।

दीन-हीनों, श्रमिकों और शोषितों के प्रति एक बौद्धिक ( रागात्मक कम ) और सैद्धांतिक सहानुभूति का प्रकाशन मूल आदर्श बन गया। ये

कवि मजदूर-श्रमिक वर्ग से तो आए नहीं थे, अतः उन्हें निम्नवर्गीय जीवन की प्रत्यक्ष अनुभूति नहीं थी। इनका बोध पुस्तकीय, दार्शनिक और बुद्धि स्तरीय ही था। गहरी संवेदना, गहन भावात्मकता या रागात्मक आयाम की कविता-गत शर्त्त का यहाँ अधिकांश में अभाव दिखलाई पड़ता है। छायावाद की प्रतिक्रिया ने उसे भावना-कल्पना से यों भी दूर कर दिया। आनुभूतिक गहनता उनके लिए वैयक्तिकता का चिह्न थी। इस धारा में शिवमंगल सिंह 'सुमन', नागार्जुन और केदारनाथअग्रवाल, जैसे कुछ ऐसे प्रतिभाशाली कवि कम ही हुए जो कथ्य को काव्य के वैशिष्ट्य से भी सम्पन्न बना सकते। प्रयोगवाद की भाषिक खोज के महत्व को भी न मानने के कारण, इनका भाषा-विधान सामान्य और वैचारिक ही बना रहा। उत्तर-छायावाद-काल में छायावाद के दो महारथी 'निराला' और 'पन्त' भी प्रगतिवाद की ओर झुक गए। छायावाद के चूड़ान्त विकास तक भारत परतंत्र ही था। दो महायुद्धों के बीच की सामान्यजन की मनःस्थिति कुछ आशामय नहीं थी, जन-मानस सुख-शान्ति का कोई सुदृढ़ आधार नहीं पा सका था।[१] इस सन्दर्भ में महादेवी वर्मा वास्तविकता को साथ पकड़ने की आवश्यकता पर अधिक बल दे रही थीं। 'आधुनिक कवि' की भूमिका में 'पन्त' ने भी यह स्वीकार कर लिया था कि स्थूल इतिवृत्तात्मकता के विरुद्ध प्रतिक्रियाशील होने के कारण छायावाद सूक्ष्मतम समष्टि-चेतना और सौन्दर्य-सत्ता के पीछे चल कर सूक्ष्म से सूक्ष्मतर हो चुका था और अग्राह्य भी। 'रूपाभ', सन् १९३२ के प्रथम अंक से भी यह ध्वनि फूट चुकी थी कि जीवन के लिए कविता को जन-भावना और संघर्ष-रत जन-संघर्ष के साथ खड़ा होना होगा और जीवन का मंत्र वास्तविकता की भूमि से ही मिलेगा। सूक्ष्मातिसूक्ष्म सौन्दर्य-चेतना और अपार्थिव-वायवीय ऐन्द्रियता के स्थान पर स्थूल, पार्थिव, यथार्थ आदि को स्थापित करने की प्रतिक्रिया के फल-स्वरूप 'प्रगतिवाद' प्रतिष्ठापित किया गया। उसे मार्क्सवाद का भारतीय और हिन्दी संस्करण भी कहा जाने लगा और ऐतिहासिक चेतना का वह प्रोद्भास आर्थिक और राजनीतिक परिखाओं में घिर कर, काव्य के शाश्वत और व्यावर्त्तक उदापानों से विलग-सा होने लगा। 'प्रगतिवादी समीक्षा—दृष्टि, कुछ मान्यताएँ', 'आधुनिक समीक्षा' में डा० देवराज ने इसी से 'शाश्वत प्रगतिशील चेतना' एवं 'विशेष राजनीतिक

१. 'आधुनिक हिन्दी कविता में चित्र-विधान', डॉ० रामयतन सिंह 'भ्रमर', ने० प० हा०, दिल्ली, १९६५, पृ० २९७।

मतवाद के आग्रह' के आधार पर प्रगतिवादियों में दो श्रेणियाँ की हैं। 'हंस' के 'प्रगति-अंक' में श्री उदयशंकरभट्ट ने प्रगतिवाद का भ्रम दूर करते हुए उसे 'जीवन में गति' का नाम कहा। 'मिटी की ओर' नामक पुस्तक में दिनकर ने भी अन्दर की मिट्टी प्रेम-भावना और मानवीय सद्भाव के पुनरुज्जीवन के लिए ही राजनीति के आधार का औचित्य माना और उसकी समकालीनता की समीचीनता स्वीकार की। रामेश्वर शुक्ल 'अंचल' ने 'साहित्य में प्रगतिवाद' नामक पुस्तक में प्रगतिवाद की भूमिका का सम्बन्ध अतीत-विस्मरण के फल-स्वरूप जगी जातीय मुमूर्षा, एवं मरणशील वृत्तियों के उन्मूलन, भौतिक उपलब्धियों की समाप्तप्राय संभावनाओं के पुनरानयन, आध्यात्मिक चिन्तन-मनन के नवीनीकरण और समाज की मूर्च्छा-मुक्ति से जोड़ा। वास्तविकता उसका सत्य और पराजय या समझौता के स्थान पर संघर्ष और सार्वजनीनता उसका लक्ष्य कही गयी। 'आधुनिक हिन्दी-साहित्य' के सम्पादक डा. नगेन्द्र ने भी प्रगतिवाद की शुद्ध चेतना का सम्बन्ध सांस्कृतिक उद्धार और जागरण से माना। स्वस्थ प्रगति-चेतना का संबंध पारस्परिक ऐक्य, सहयोग, संकट के समकालीन बोध, समता-समृद्धि और मुक्ति के प्रसार, सामूहिक चेतना के जागरण, नव-मूल्यांकन एवं सामाजिकता में उनकी सही सहभागिता से ही सम्भव है और इसे जाग्रत जन-चेतना और युग-धर्म का प्रकृत उद्घोषक भी होना पड़ेगा।[1] 'आलोचना का मार्क्सवादी आधार' पर विचार करते हुए अमृतराय ने मार्क्सवाद के दर्शन से प्रगतिवाद की अन्तर्वर्ती धाराओं के सम्बन्धाधार को स्पष्ट करते हुए, मार्क्सवाद को गतिशील जीवन-दर्शन, साहित्य की खरी कसौटी, आर्थिक शक्ति की मौलिक सर्जकता, जनवाद की थाती, उद्दाम कर्म-प्रेरणा का अजस्र स्रोत, भविष्य-वरण में मानवीय भूमिका की महत्ता, युग-समाज के प्रति पूर्ण सजगता, सत्यों की सापेक्षता में ही पूर्ण सत्य की संभावना, मानवीय महत्ता, भाग्यवाद के विरोध[2], दमन की अस्वीकृति और शोषण से रहित समता-मूलक समाज का दर्शन कहा। नरेन्द्र शर्मा भी गीत से प्रगति की ओर आए।

डॉ० कन्हैयालाल सहल ने 'द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद और प्रगतिवाद', डा० नगेन्द्र ने 'वादसमीक्षा (संपादन), अमृत राय ने 'नयी समीक्षा', हिन्दी में 'जनवादी साहित्य मोर्चा' का प्रश्न उठाया। आचार्य नंददुलारे

---

१. चन्द्रबली सिंह, 'नयी चेतना', अंक ५, १९५१ (प्रगतिवादीकला)।

२. प्रकाशचन्द्र गुप्त, 'हिन्दी साहित्य की जनवादी परम्परा', पृ० १४३।

वाजपेयी ने आधुनिक साहित्यिक प्रश्न का सन्तुलित मूल्यांकन किया और धीरे-धीरे प्रगतिवाद का आरम्भिक प्रचार-ज्वार कम हुआ तथा प्रगतिवादी कवियों को भी सन्तुलन और साहित्यिकता के प्रश्नों पर सोचने को विवश होना पड़ा। 'सुमन', केदारनाथअग्रवाल, नागार्जुन, 'अंचल', त्रिलोचन, शील, रांगेयराघव आदि इस विधा के प्रमुख कवि हैं।

## डा० शिवमंगल सिंह 'सुमन'

डा० सुमन उन प्रगतिवादी कवियों में हैं जो प्रगति को भारतीय परिवेश और अतीत सन्दर्भ से जोड़कर समकालीनता में उसे आगे रखने में विश्वास करते हैं। 'जीवन के गान' उनकी प्रगतिशील रचनाओं का महत्त्वपूर्ण संकलन रहा है। वे भारतीय सांस्कृतिक इतिहास से जोड़कर और उसके वरीय तत्त्वों को पुराने प्रतीकों की नवसन्दर्भिक व्याख्या द्वारा समकालीन सार्थकता देकर ही, जनवाद का समर्थन करते हैं। हिमालय उनकी दृष्टि में भारतीय शान्ति-प्रियता का प्रतीक है।[1] 'विश्वास बढ़ता ही गया' दूसरी महत्त्वपूर्ण रचना है। यहाँ प्रगति-भाव भारतीत पुराण-इतिहास की परम्परा में भी अपनी खोज करता है। भगीरथ सरिता-धार मोड़ने वालों, राम रूढ़ि-धनुषों के भंजनों और सीता नये हल की नोकों से जन्म लेनेवाली फसल-के प्रतीक बन गए हैं। 'जीवन के गान', 'विश्वास बढ़ता ही गया', प्रलय-सृजन आदि 'सुमन' के प्रमुख संकलन हैं।

सुमन 'निराला' के अटूट भक्त रहे हैं। उन्हें आर्यों का मूर्तिमान पौरुष मानते हैं। इनका रचनाएँ प्रगतिवाद के सम्प्रदाय के आग्रह से उस प्रकार आग्रस्त नहीं रही हैं, जिस प्रकार अन्य प्रगतिवादी कवियों की रचनाएँ प्रायः रही हैं। इन्हें 'प्रगतिवाद' से अधिक 'प्रगति-शीलता' से सम्बद्ध कहा जा सकता है।' 'वाद' साम्प्रदायिक आग्रह का संकेतक है और 'शील' आन्तरिक आस्था और रचना-धर्मिता से सम्बद्ध होता है। इसी से 'सुमन' जी की रचनाओं में काव्य की अनुभूति-शीलता और विषय-वस्तु के साथ संवेदनात्मक सहभागिता अधिक प्राप्त होती है। 'प्रगति' को 'वाद' के रूप में मानकर चलने वाले कवि एक 'आन्दोलन' से बँधकर चलते हैं और आन्दोलन का प्रचारात्मक पक्ष उनमें प्रतिबद्धता का प्रश्न

---

१. 'शान्ति की बाहें बढ़ाये है हिमालय'—'विश्वास बढ़ता ही गया', सुमन, पृ० १०१-२०।

बनकर बद्धमूल होता है। आन्दोलन विचार-प्रतिष्ठापना की भूमिका को लक्ष्य में रखकर परिचालित होते हैं और उनसे काव्य-सर्जना में नयी वैचारिक पीठिका का शिलारोपण हाता है, किन्तु उसी आन्दोलन के परिवेश में कुछ ऐसी प्रतिभाएँ भी होती हैं जो अपनी सर्जकता में आन्दोलन से प्रभावित अवश्य होती हैं, किन्तु उनकी प्रतिबद्धता अपनी सृजन-शीलता से होती है। 'सुमन' जी ऐसी ही प्रतिभा हैं जिन्हें प्रगतिवादी अपने आन्दोलन के साथ रखते रहे हैं, किन्तु 'सुमन' स्वयं आन्दोलन से उतना ही सम्बद्ध होते हैं, जहाँ तक उनकी रचना-धर्मिता उसे स्वीकार कर सृजन में परिणत करने को समुद्यत होती है। 'सुमन' स्वभावत: एक भावुक कवि रहे हैं, उनका व्यक्तित्व मूलत: भाव-प्रधान रहा है और वे प्रगतिशील रचनाएँ इसलिए करते रहे हैं कि उसके कुछ पक्षों ने उन्हें भीतर से छुवा है। विचार-प्रतिपादन के आवेश और बौद्धिक तर्क-वितर्क के झमेले में न पड़कर वे स्थितियों-परिस्थितियों के साथ अपने आन्तर संवेदन और विश्वास को काव्यायित करते रहे हैं। यही कारण है कि उन्होंने प्रगतिवाद के सिद्धान्त गत मुद्दों तक ही परिसीम न रहकर, मानवीय संवेदनाओं और मानवीय मूल्यों के रूपायन को भी प्रतिभा का संस्पर्श प्रदान किया है। उनकी सुप्रसिद्ध रचना 'मैं नहीं आया तुम्हारे द्वार, पथ ही मुड़ गया था' उनके इस वैशिष्ट्य का प्रमाण है। विचाराग्रह के आवेग में वे भाव-शील की उपेक्षा नहीं कर सके हैं। अपने 'जीवन के गान' की भूमिका के पृ० ९ पर 'सुमन' ने प्रगतिवाद को 'जीवन और साहित्य का नया दृष्टिकोण' माना, ( सम्पूर्ण दृष्टि नहीं )। 'सुमन' वाद और सिद्धान्तों को जीवन की रक्त-मज्जा और अस्थि-चर्म में देखने की दृष्टि रखते हैं। उनका 'युग-पंथी' के प्रति संबोधन इस तथ्य को नहीं भूलता कि 'रूढ़ि-रीतिगत भीति-पलायन की भारी-भारी चट्टानें सीने की टक्कर से प्रतिपल मौन तोड़ते' युग-पंथी में एक मानव-हृदय भी है, यह 'मात्र लोहे का पुर्जा या भाव-शून्य भौतिकवादी पशु' भर नहीं है। वे युग-पंथी की साँसों में चाँद और पुतलियों में तारों की चमक तथा मोती लुटते भी अनुभव करते हैं। फिर भी वे पीड़ित मानवता के प्रतिनिधि की उस नियति से परिचित हैं कि वह सचमुच देव-दानव से विलग एक मानव ही है जिसे मानव होकर भी मानव की भाँति जीने का अधिकार नहीं मिल पाया है :

**'तुम तो सचमुच मानव ही थे**
**देव न थे अथवा दानव ही,**

किन्तु जिसे मानव होने का
सुख न मिल सका।'

यही नहीं वे उसके रीते यौवन-घट, सिकता के अंगारों पर उसकी जलन-तड़पन और खुद अपनी प्यास ही पीने की विवशता की करुण-मार्मिक अनुभूति भी करते हैं :

'जो सिकता के अंगारों पर
चलता चलता
जलता जलता
खुद ही अपनी प्यास पी गया।'

वाद उन्हें जीवन की करुण-मार्मिक परिस्थितियों की ओर ले जाने की प्रेरणा बनता है, पर वहाँ जाकर वह बौद्धिक सिद्धान्त का तर्क-जाल न फैलाकर, जीवन-रस का उद्घाटन करता मानव की मानवीयता का आकलन करता है। उनकी कवि-प्रतिभा बौद्धिक प्रत्ययों से आगे बढ़कर, जीवन का संवेदनात्मक बिम्ब-विधान करती है और यही संवेदना-पूर्ण बिम्ब-विधान उनके प्रगतिशील कवि का लक्षण है।

इसी प्रकार उनकी रचनाओं में मानववाद के साथ उसके भविष्य के प्रति एक दृढ़ आशावाद भी पाया जाता है। वे भारतीय प्रतीकों के माध्यम से प्रगतिशीलता को अभिव्यक्ति देने में नहीं हिचकते, जब कि अनेक सम्प्रदाय-बद्ध प्रगतिवादी कवि भारतीय पौराणिक एवं सांस्कृतिक प्रतीकों में ही छूत मानते तथा हँसिया-हथौड़े और लाल झंडे के प्रतीक को ही अपनी सैद्धान्तिक निष्ठा का प्रतीक मानते दिखलाई देते हैं। वे शोषण का दुष्परिणाम आर्थिक विपन्नता से अधिक मानवीयता-मनुष्यता की गिरावट में अनुभव करते हैं—

'आज आसुरी बनी समस्त सभ्यता'

× × ×

'खो गयी कहीं मनुष्य की मनुष्यता।'

अपनी 'मैं मनुष्य के भविष्य से नहीं निराश' कविता में 'देश-जाति-धर्म-वर्ग-बाँध लाँघकर' समस्त 'विराट्' में 'एक ही हृदय प्रकम्पमान'

अनुभव करते हैं। भारतीय अद्वैत-चिन्तन उन्हें मानव-मात्र की एकता और उसकी अजेयता की अनुभूति कराने में सहायक सिद्ध होता है—'एक बीज में निहित असंख्य वन-वितान, एक बिन्दु में निहित असंख्य सिन्धु-गान।' जब 'सुर' ( न्यायार्थी शोषितजन ) और 'असुर' ( न्याय-विरोधी शोषक-वर्ग ) से मंथित जलधि ( समाज-संघर्ष-स्थल ) गरल उगल रहा हो तो ऐसे समय में इस गरल को पीने वाले नवीन 'नीलकण्ठ' की आवश्यकता है जो विषम तरल-गरल ( संघर्ष तिक्तता ) को पी, पचा और समाहित कर सके, ऐसा नेतृत्व जो नव-चिन्तन की नव-विधा को प्रतिष्ठापित कर, शोषकों की अपवंचना से अपहृता जन-तुष्टि की कामधेनु को द्वार-द्वार पहुँचा सके। इसी प्रकार 'प्यासों को प्रणाम' रचना में जिस निर्झर से बहने, नदी बनने और चट्टानों से शतधा-सहस्रधा टकराने के उच्छ्वास का चित्रण हुआ है, वह कवि-व्यक्तित्व के रोम-रोम में भिदा वह प्राणावेग है जो शतियों की परम्परा शृंखलाओं की चिन्ता किये बिना केवल जन-जीवन को सिक्त करने, 'जीवन को मिलाने', 'खुद को पिलाने' और अपने 'अस्तित्व-सीकर को यत्र-तत्र, पत्र-पत्र बिखराने की' लालसा से विह्वल हो उठा है और जो 'सदियों की सत्ता' को 'कोरी बकवास' घोषित कर देता है। यहाँ जनवाद, समष्टि में व्यष्टि को बिखेरने, पहाड़ों ( बाधक शोषकों ) की छाती तोड़कर जन-मानस को सींचने और 'प्यासों' ( शोषितों ) को तृप्त बनाने वाले संघर्ष-दर्शन का आनुभूतिक स्वरूप है जो सिद्धान्त नहीं, मानववादी भाव-संवेदना के काव्य-स्तर और बिम्बमयी भाषा में उच्छ्वसित हो उठा है :

> 'जीवन को जिलाने में
> खुद को पिलाने में
> गिरि के गुरुत्व को
> साभार राम-राम है,
> प्यासों को प्रणाम है।'

'सुमन' की 'जय हो' कविता में संघर्ष-दर्शन का काव्यात्मक और बिम्बात्मक भाषा में सुन्दर निरूपण हुआ है। गति-भरे चरणों के लिए कवि पैर देने वाले विधाता का आभार मानता है, ठोकरें निर्झर की भाँति उसे नई छलकन देती हैं—'समतल राहों में चलने से क्या पाऊँगा?' कवि समतलीय ( सामान्य व्यवस्था-बद्ध प्रणाली में जिलाने वाले ) भूमि

( मूल्य-विधान ) में वास्तविक जीवन नहीं मानता। जंगली पेड़-फल-फूल यहाँ सभ्यता के बँधे मानों से अलग अपनी वास्तविकता में जीने वाले जन-समाज का प्रतीक हैं। वह नहरों के बद्ध-नियोजित जीवन की अपेक्षा निर्बन्ध जीवन-वेग के साथ जुड़ जाना चाहता है :

'पर मुक्त प्रवाहों का सरगम
प्यारा-प्यारा
गाते-गाते
मिटने की साध नहीं जाती।'

इस प्रकार शिवमंगल सिंह 'सुमन' प्रगतिवादी होते हुए भी मानववादी, गतिशील, जीवन की गेयता के समर्थक और स्वच्छन्द-मना कवि की भाँति अपनी मस्ती में स्वच्छन्दतावादी भी हैं। यह स्वच्छन्द भावना सौन्दर्य-लोक की निरी कल्पना नहीं, जीवन की वास्तविक मानवीय धारा में रस लेने, अपनाने, बाधाओं से टकराने और कल-कल गाने की अलमस्ती है। 'सुमन' ने प्रगति, संघर्ष और जनवाद को बुद्धि नहीं, भावानुभूति के स्तर पर ग्रहण किया है। उनकी भाषा बिम्बमयी, भावोच्छल और काव्य-भंगिमा से संयुक्त है। अभिधेय कथनों, वैचारिक प्रत्ययों और नारों से आगे बढ़कर 'सुमन' का कवि संवेदन, चित्रण और जीवन-सम्पृक्त अभिव्यंजना के सोपनों से हृदय-संवाद का मार्ग अपनाता है। उनके वर्णनों और प्रतीकों में आधुनिकता और सैद्धान्तिकता के प्रदर्शन की अपेक्षा भावाभिव्यक्ति की प्रमुखता रही है, इसी से वे श्रोता-हृदय को छूकर लोकप्रिय भी रहे हैं।

## केदारनाथ अग्रवाल

प्रगतिवाद की परिधि में सहज कवि-प्रतिभा से दमकने वाले दूसरे कवि श्री केदारनाथ अग्रवाल हैं। इन्होंने प्रगति-दर्शन को कवि-हृदय से ग्रहण किया है। वाद-विवाद और तर्कों की भाषा छोड़कर 'अग्रवाल' जी बिम्ब-योजना और संवेदना-पूर्ण चित्रों के कवि के रूप में सभी प्रगतिवादियों से विशिष्ट रहे हैं। 'सुमन' में वर्णन की प्रधानता है तो 'अग्रवाल' में बिम्बना की। उनके भाषा-विधान में ताजगी और संरचना का प्रयोग

भी सुस्पष्ट रहा है, पर महानगरों की महानगरीयता के संस्कारी कवियों की श्रेणी में न आने और काव्य को साधना के स्तर पर ग्रहण करने वाले रचनाकार के सरल-निश्छल किन्तु स्वाभिमानी स्वभाव के कारण वे 'अज्ञेय' के निकट नहीं हो सके या पसन्दीदा नहीं हो सके, यद्यपि भाषा-विधान में प्रयोग, उपयुक्त शब्द-संधान और टटकेपन में वे किसी प्रयोगशील कवि से पीछे नहीं, वरन् कुछ स्वस्थ अर्थों में आगे भी रहे हैं। अच्छा ही हुआ, वे 'सप्तक'—बद्ध नहीं हुए, अन्यथा वे वह न दे पाते जो उनकी कविताओं ने प्रगतिशीलता को प्रदान किया है। प्रगतिवाद के प्रचारवाद से विलग, हथकण्डों के प्रति उदासीन और पत्र-पत्रिकाओं के शिविरवाद से अनासक्त रहने के कारण वे प्रयोगवाद से तो कटे ही रहे, प्रगतिवाद की दुन्दुभी के साथ भी प्रचारात्मक नहीं हो सके, अन्यथा वे उस अनुभूति को जीने के पात्र भी न रह सके होते जो 'माझी की वंशी पर पोर-पोर टूटने लगता है' :

**'माझी, न बजाओ वंशी पोर-पोर टूटता।'**

उनके भाषा-बिम्ब में संगीत-लय और संगीत-लय में भाषा की बिम्बात्मकता कसमसाती रही है। यह आनुभूतिकता और लयात्मकता प्रगतिवाद के दर्शन में भी उन्हें कवि अक्षुण्ण रख सकी है। उनकी अनुभूतियों में न प्रदर्शन का घटाटोप है और न भाषा में अनावश्यक सज्जा, उनकी भाषा लोक-जीवन के रस और लोच से पूर्णतः संजीवित और प्रत्यग्र रही है। लोकात्मकता और लोक-माधुरी उनकी अभिव्यक्ति-गत निश्छलता में चार-चाँद लगा देती है। परम्परित छन्दो-विधान के साथ वे मुक्त छन्द की लयात्मकता से भी शराबोर रहे हैं। भाषा में लोक-भाषा की मिठास के साथ अकृत्रिमता का सहज जादू भी वर्तमान है। तत्सम-तद्भव शब्दावली का सम-स्वभावी विन्यास यह प्रकट करता है कि कवि सायास कविता के अभ्यास और अभिव्यक्ति की झूठी वर्चस्विता के मोह से मुक्त रहा है।

कवि 'अग्रवाल' भी मानव की मानवीयता और जीवन में निरन्तर बढ़ते सपाट रूखे-सूखेपन के प्रति सशंकित रहे हैं। 'कंकरीला मैदान' नामक रचना में यह चित्र कितना प्रतिरूपक है :

'कंकरीला मैदान,
ज्ञान की तरह जठर-जड़ लम्बा-चौड़ा
गत वैभव की विकल याद में—
बड़ी दूर तक चला गया है खोया-खोया ।'

वे परिवेश के बिम्बात्मक और सरल-सहज वर्णन को भी मर्ममय और तरल बना देते हैं, जिसमें लोक-जीवन का पुट उसे और उभारकर सँवार देता है :

'हर बिरवे पर एक फूल है
अनुपम, मनहर
हर ऐसी मनहर मुँदरी को
मीनों ने चंचल आँखों से
नीले सागर के रेशम के रश्मि-तार से
हर पत्ती पर बड़े चाव से-बड़े जतन से
अपने-अपने प्रेमी जन को देने की खातिर काढ़ा था
सदियों पहले ।'

फूल को 'मनहर मुँदरी' कहने में लोक-जीवन की मिठास दृश्य को अनोखी किन्तु सहज माधुरी से प्लावित कर देती है। 'यत्न' को लिए 'मनहर' तद्भव शब्द रूप कितना संवेदन-पूर्ण है ! कवि की व्यथा 'मीनों के घर' के 'बड़ा मैदान' बन जाने के अमानवीय और नीरस परिवर्तन पर सिसक उठती है। यह मानवीय हृदयवाद और आन्तर संवाद 'अग्रवाल' की रचनाओं की एक ऐसी विशेषता है जो अपनी आत्मीयता में पाठक को खींचकर अपनत्व की डोर से बाँध देती है। मानवीय सम्बन्धों के असुन्दर परिवर्त्तनों और शुष्क बौद्धिकता की जीवन-रहितता से कवि दुःख का अनुभव करता है। वे वर्णन की अपेक्षा अनुभूति-संवेदनों के लघु-लघु संस्पर्शी बिम्ब-चित्रों के कुशल और मर्मी चित्रकार हैं। उनके बिम्ब सहज प्रकृति-परक और प्रतीकात्मक, दोनों ही कोटियों के होते हैं। भाषा-बिम्ब अनुभूतियों से ऊष्म और तरल होते हैं। सचमुच बुद्धि के शुष्क, जड़-जठर और गुमसुम मैदान की अपेक्षा, वे 'फूलों की मनहर मुँदरी को मीनों की चंचल आँखों द्वारा काले, नीले सागर ( आकाश ) के रेशम के रश्मि-तार ( तार-सरीखी

किरणें ) से झलमल ( ओस-बिन्दुओं से तरल मत्स्याकार सुमनों की शोभा ) प्रेमोपहार को अधिक सुन्दर, वांछनीय और मोहक अनुभव करते हैं। 'मछलियों का कंकड़ बन जाना' कितना बोधक है !

**'किन्तु नहीं वे प्रेमी आए**
**और मछलियाँ सूख गई हैं—कंकड़ हैं अब !'**

'कहाँ नहीं पड़ती है किस पर' कविता में कवि सागर, पृथ्वी, आकाश और आग के प्रतीकों के माध्यम से यह संकेत करता है कि जिस प्रकार इनमें भी परिवर्त्तन और संघर्ष की प्रक्रियाएँ उभरती हैं, पर इनका अस्तित्व समाप्त नहीं होता और ये अपने मूल धर्म में प्रेरणा और सर्जना के स्रोत बने रहते हैं, उसी प्रकार विशाल जन-समूह, चोट खाकर और आलोड़ित-विलोड़ित होकर भी गति, उल्लास, उत्साह, छवि, प्रकाश और क्रान्ति की प्रेरणाओं का अजस्र स्रोत बना रहता है—उसकी सर्जकता नाना घात-प्रतिघातों से समाप्त नहीं होती। नवीनतर सायाएँ—प्रतिमाएँ उसी से उठती हैं—

**'और अब भी लहराता है सायर भरपूर जवान,**
**अब भी फल-फूल से भरी रहती है पृथ्वी छविमान,**
**अब भी नये-नये चाँद और सूरज उगाया करता है आकाश,**
**अब भी आग मशाल जलाया करती है आदमियों की,**
**युग की,**
**सत्य की टोह के लिए,**
**विचार को शिक्षा देने के लिए।'**

भाषा-विधान में अज्ञेय-मार्गी शब्द-संयोजना की नवीनता और विचार-दीप्तता भी है, और साथ ही असम्बद्धता और आयासित जटिलता के स्थान पर एक निश्छल अभिव्यक्ति और समझने-समझाने की सहज भंगिमा अकृत्रिम रूप में उजागर है। भाषा-विन्यास, व्याकरणिक ढाँचे की अपेक्षा, संलाप की सहजता के भाव-बद्ध क्रम से विहित होकर आई है। 'पत्थर' कविता में शिल्प-प्रयोग और शब्द-चित्र की शैली का नयापन है, पर जहाँ कवि शिल्प-चेता हो जाता है, वहाँ बिम्ब तो सुन्दर उठते हैं, पर भाव-ऐक्य बिखरा-सा प्रतीत होने लगता है। जर्जर समाज-व्यवस्था की असार्थकता

और प्रतिकूल-प्रयोजनीयता यहाँ उभरकर व्यक्त हुई है। नदी अपने में बिम्बित आकाश को लिए बेसुध होकर गति-हीन हो गई है। उसमें चाँद-सितारे भी बिम्बित हैं, पर वह उनसे बेखबर है। दिन कौड़ियों सा पट्ट है, डूबते सूरज-सा सत्य दाँव हारे की भाँति, सत्य को दबा देने वाले वर्ग की हथेली में छिप रहा है, पछता रहा है। सामाजिक विसंगति और अ—यथार्थ पर कवि व्यंग्यशील हो उठा है। विवश-पीड़ित जनता 'चाकुओं का सदारत में सलाम ठोंकते हुए बकरे'—सी मजबूर खड़ी है—

> 'बकरे बोलते हैं, चाकुओं की सदारत में सलाम ठोंकते।
> प्यासा आदमी कब्र से उठा, खून के इन्तजार में खड़ा है।'

इसी प्रकार 'ज्यामितिक जीवन' नामक कविता में 'अग्रवाल' ने ज्यामितिशास्त्र के पारिभाषिकों के माध्यम से समकालीन जीवन की निरर्थकता, विसगति, विद्रूपता, अर्थ-विपर्यस्तता को व्यंगित किया है। शब्दों से फूटती श्लिष्टता राजनीतिक व्यंग्य को सतेज करती हुई, एक शब्द क्रीड़ा का विनोद तो देती ही है, साथ ही गहराई में उतर कर हमारी आँखें भी खोलने में सफल हुई है—

> 'लकीर ने लकीर को निगल लिया
> ग्रहण में केन्द्र और
> वृत्त में अँधेरा है
> —अमावस है
> केन्द्र अब अन्धा है।'
>
> ×　　×　　×
>
> 'वृत्त का स्वामी केन्द्र
> नपुसक है
> बिन्दुओं का वेद,
> हिंसक है।'

परम्परित बुझौवल और कूटोक्तियों की पद्धति का कवि ने नवीन सन्दर्भों और समकालीन प्रसंगों में नूतन प्रयोग किया है। इस तरह श्री केदारनाथ अग्रवाल में सामाजिक-सांस्कृतिक परिबोध की तीव्र चेतना तो है, पर उन्होंने

उसे शब्द कौशल, शब्द-क्रीड़ा, शब्द-चित्रण और प्रतीकता के माध्यम से व्यक्त कर पाठकों में कथ्य के प्रति अपेक्षित कुतूहल उत्पन्न करने की कला को भी साथ रखा है। वे एक ऐसे प्रगतिशील कवि हैं जिसमें प्रगति-भाव के साथ-साथ प्रयोगशीलता का भी समानान्तर विकास हुआ है। संज्ञा पदों द्वारा अमूर्त्तन की विभा भी उनकी रचनाओं में समाविष्ट रही है तथा चित्रात्मक विशेषणों द्वारा अमूर्त्त को मूर्त्त बनाने की कला भी देदीप्यमान हुई है। 'कहाँ नहीं पड़ती है किस पर' कविता में गद्यात्मक लय और अर्थ-चित्र देने वाले स्फुट विशेषणों के एकत्र प्रयोग की कला भी परिस्फुट हुई है।

'अग्रवाल' सिद्धान्त-ग्रस्तता से आगे बढ़कर जब कवि की भूमिका पर उतरते हैं तब वे लोक-जीवन से पूर्णतः सम्पृक्त होकर जन-जीवन की माधुरी पर मुग्ध होने लगते हैं। जहाँ 'पन्त' ने ग्राम्या में जन-जीवन के चित्रण में अश्लीलता और यौन भावना के चित्र उरेह दिये हैं और ग्राम-युवती के नमित दृष्टि से 'उरोजों के युग-घट' देखने को अपनी सौन्दर्यानुभूति का विषय बना लेते हैं, वहाँ 'अग्रवाल' ने खुरदुरेपन की गद्यात्मकता और वैचारिकता को छोड़कर जन-जीवन के कोमल-अनगढ़ उपकरणों को, मर्म-दृष्टि से चुनकर तद्भवात्मक भाषा की चाशनी में समो दिया है। उपेक्षित मानवता के साथ उपेक्षित ग्रामीण प्रकृति के चित्र उनके यहाँ बड़े मीठे और मनोहर हैं। उनकी 'युग की गंगा' कविता-पुस्तक इस दृष्टि से बड़ी महत्वपूर्ण है। यहाँ जनवाद ग्राम-परम्परा से जुड़कर भारतीय बना है—

> एक बीते के बराबर यह हरा ठिंगना चना
> बाँधे मुरेठा शीश पर छोटे गुलाबी फूल का
> सजकर खड़ा है।
>
> × × ×
>
> और सरसों की न पूछो हो गई सबसे सयानी
> हाथ पीले कर लिये हैं, ब्याह-मण्डप में पधारी।"[1]

यहाँ परम्परा के नाम पर परम्परा-विरोध का आग्रह नहीं है और जनवाद और उपेक्षित मानवता के प्रति प्रेम के नाते ग्राम-प्रकृति की छटा से भी

---

१. 'युग की गंगा', पृ० ९

प्रेम हो गया है। ग्रामीण मानव-समाज खेतों, फसलों और अपने प्रकृति परिवेश में प्रतिबिम्बित होकर मन मोहने लगता है। नयी आजादी क दर्शन परम्परित नई-नवोढ़ा के अवगुंठन के उठाए जाने के मधुर व्यापार रं समतुलित हो उठता है—

'स्वस्थ नवोढ़ा आज़ादी का घूँघट खोल दिखा देना है',[1]

एक अनगढ़ कलात्मकता जो उनके वर्ण्य के अनुकूल हो सकती थी अग्रवाल की कविताओं में सर्वत्र वर्त्तमान है। केदारनाथ अग्रवाल ने, ऐस नहीं है कि प्रगति के सिद्धान्त-पक्ष की उपेक्षा की हो। जिस प्रकार शिवमंगल सिंह 'सुमन' ने पुरा-पौराणिक एवं सांस्कृतिक प्रतीकों को नये सन्दर्भों रं सार्थक बनाने का प्रयास किया है और प्रगति का गायन और अधिवक्तृत्व किया है, उसी प्रकार अग्रवाल ने भी ग्राम-प्रकृति, वन्य-जीवन आदि कं मनोरमता के साथ प्रगति के सन्देश को भी भावोच्च किया। मार्क्सवादं क्रान्ति-चेतना की लहर का 'नींद के बादल' में बड़ा ही भाव-परक चित्रण किया है—

'बड़ी सुन्दर लहर न जाने किस सागर की,
गहने पहने, सम्मुख आकर,
पुलकाकुल बाहों में भर कर,
गले लगा लेती है मुझको।

[ 'नींद के बादल', पृ० २९-३० ]

'युग की गंगा' में पृ० ५२ पर श्वेत प्रसार खण्ड में नग्न-नारी कं सुन्दर देह की चिर-प्रतीक्षा-भरी अपलक मूर्ति का भाव-भीना और हृदय वेधक सौन्दर्य, उनकी रूप-लालसा और नारी-आकृष्टि की स्वस्थ भावनाअं की प्रमाणक रचना है। प्रगतिवादी कवियों में जो भी भाव-शील औ अनुभूति-परक रहे हैं, शरीर-सौंदर्य का मुक्त और निर्निषेध चित्रण किया है सुमन, केदार, अंचल, प्रभाकर माचवे आदि के नारी-वर्णन उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत किये जा सकते हैं। ये भौतिकवादी रहे हैं, अतः सामन्ती विलास से विलग जीवन-जगत् के स्वस्थ भोग का इन्होंने नकार नहीं किया।

---

१. केदारनाथ अग्रवाल, 'हंस', जुलाई, १९४८ ( कामधेनु-सी कांग्रेस अब )

## नागार्जुन—

प्रगतिवादी कवियों में नागार्जुन का स्थान भी महत्वशाली माना गया है। कथ्य और भाषा को अपनी अनुभूतियों और व्यंग्यविद्रूपों के अनुकूल गढ़ने-मोड़ने के कारण इन्हें प्रयोग की दृष्टि से भी महत्वपूर्ण समझा जाता है, पर प्रगतिवाद और मार्क्स-दर्शन के प्रति अरुचि-विरुचि रखनेवाले 'अज्ञेय' जी ने अपनी दूरदर्शिता की दृष्टि से, डॉ० रामविलासशर्मा को ही 'सप्तक' के उपयुक्त समझा, नागार्जुन या अग्रवाल को नहीं। प्रयोग करते हुए भी, इन कवियों ने भाषा-संयोजना में वैयक्तिकता को महत्वपूर्ण न मानकर सार्वजनिकता और सुबोध अर्थ-व्यंजकता को अपना आदर्श रखा। भाषा-भाव के क्षेत्र में इनकी प्रयोगशीलता और नवीनता जनबोध की सहजता को ही अपना प्रतिमान मानती रही। वयःक्रम में नागार्जुन 'अज्ञेय' आदि से पूर्ववर्त्ती हैं। प्रगतिवाद उनके लिए न केवल बौद्धिक सिद्धान्त हैं, वरन् उनकी जीवन-परिस्थितियों और परिवेश-गत यथार्थ की माँग भी रहा है। वे मूलतः ग्राम के निवासी और कृषक-वर्गीय परिवार के प्रबुद्ध व्यक्ति रहे हैं, अतः असंगति, विसंगति ('नयी कविता' के आलोचनात्मक अर्थ में नहीं), विद्रूप, अन्याय, असमानता, अत्याचार, शोषण, विभेद और उच्च-वित्तीय षड्यंत्रों से उनका प्रत्यक्ष सम्पर्क रहा है और इसी से उनका कथ्य अधिकांशतः व्यंग्यात्मक, विडम्बनात्मक और विद्रूप के तीखेपन से युक्त रहा है। 'प्रेत का बयान' कविता में भुखमरी और उच्च-सत्ता-वर्ग की निष्ठुरता पर तीक्ष्ण व्यंग्य किया गया है :

"'ओ रे प्रेत—'<br>
कड़ककर बोले नरक के मालिक यमराज—<br>
सच-सच बतला !<br>
कैसे मरा तू ? भूख से, अकाल से, बुखार, कालाजार से ?<br>
पेचिश, बदहज़मी, प्लेग, महामारी से ?<br>
कैसे मरा तू, सच सच बतला !"

कविता की अन्त की पंक्तियाँ हैं—

'सुनकर दहाड़ स्वाधीन भारत के भुखमरे,<br>
स्वाभिमानी, सुशिक्षक प्रेत की

रह गये निरुत्तर,

महामहिम नरकेश्वर।"

सामान्य जन-जीवन के प्रश्नों और विडम्बनों को, नागार्जुन अपनी कल्पना से उद्भूत हास्य-विनोद कर किन्तु गम्भीर आघात कर प्रसंगों के तार-तार धुनकर रूई-सा उड़ा देने की कला में निष्णात हैं। उक्त कविता में एक कायस्थ प्रायमरी अध्यापक की परिस्थितियों का मर्मोद्घाटन किया गया है। पांडित्य और गम्भीर अध्ययन होने से, कवि जहाँ स्वयं बोलता है, वहाँ 'तदनन्तर शान्त-स्मित स्वर में प्रेत बोला' जैसे पद-समुच्चय सहजता से आ जाया करते हैं। इनकी कविताओं की भाषा सामान्यत: पात्र और परिस्थिति के अनुसार है और उसमें सुपरिचित भाव-भंगिमाओं, उक्ति-प्रणालियों और मुहावरों का भी प्रवाहमय प्रयोग हुआ है। नागार्जुन की दृष्टि प्रमुखत: व्यक्तिगत यथार्थ की अपेक्षा वर्ग-गत और सामाजिक यथार्थ पर धँसती रही है। वाक्य-विन्यास सीधा और जनात्मक होता है तथा अनावश्यक जटिलता और कलात्मक संगुफन उनकी मूल रुचि नहीं रही है। स्वतंत्रता-प्राप्ति के पश्चात् शोषण की बढ़ोत्तरी तथा स्पष्ट दो वर्ग ( शोषक-शोषित ) बन जाने की बात दो-टूक कह दी गयी है:

'बात-बात पर नाक रगड़ना पड़ता है इंसानों को।

हरी फ़सल चरने को छुट्टा छोड़ दिया हैवानों को।'

× × ×

'पुलिस और पल्टन के हाथी कितना चारा खाते हैं।'

संस्कृत काव्य-परम्परा से निकटत: परिचय-प्रगाढ़ता के कारण, नागार्जुन की कुछ कविताएँ प्रगतिवादी वैचारिक भाषा-प्रयोजना से भिन्न, एक काव्यात्मक स्तर पर पूर्ण कला-सज्जा के साथ निरूपित हुई हैं। 'भस्मांकुर' और 'बादल को घिरते देखा है' नामक कविताएँ इसके उदाहरण में प्रस्तुत की जा सकती हैं। 'भस्मांकुर' कविता पुराण-वृत्त पर आधृत मदन-दहन के प्रसंग को लेकर रचित हुई है। देवता चाहते हैं कि वीतराग शिव पार्वती से रागारुण होकर युगनद्ध हों और गौरीनंदन स्वामी कार्तिकेय के सेनापतित्व में भयानक राक्षस तारकासुर का वध हो। काम अपने को दूसरों के हित में भस्म कर 'सार्थक-नाम' होना चाहता है। पर-कल्याण और लोक-हित के हेतु आत्म-बलिदान को वरण करने की सार्थक गरिमा को यहाँ पुराण-कथा के माध्यम से उभारा गया है और प्रगतिशील भावना

को अपनी संस्कृति की परम्परा में भी ढूँढ़ने का सुन्दर प्रयास हुआ है। विचार-प्रेरणा प्रगतिवादी है, पर भाषा-विधान वृत्त की पौराणिक गरिमा के परिवेश से अनुरंजित है :

'अपनों के हित आऊँ यदि मैं काम,
समझूँगा, सार्थक है अपना नाम।'

वसन्त की छटा का नितान्त सांस्कृतिक भाषा और जीवन-परिवेश में चित्रण किया गया है। यहाँ कवि की संस्कृतज्ञता दर्शनीय है। प्रगतिवादी व्यंग्य-विद्रूप की रुक्ष भाषा एक अभिनव परिधान उठा लेती है :

'पग-पग पर ऋतुपति का छवि-संभार
दिशा-दिशा में किशलय-कुसुम-प्रसार
विविध गंध बंधुर समीर-संचार,
पिक-रव अलि-गुंजन झिल्ली-झंकार।'

संस्कृत के तत्सम पदों का चयन, समस्त योजना, नाद-प्रसृति और भाषा-भाव-लय की समरसता की यह खोज 'निराला' की भाषा-बंध-शैली का विकास समझा जाना चाहिए। दूसरी कविता 'बादल को घिरते देखा है' भी इसी भाव-भाषा-भूमि पर अपना रचना-शृंगार करती है। इसमें गिरि-शिखर पर बादलों के घिरने की छटा और उसके प्राकृत एवं मुक्त-मन से किये गये भोग का रमणीय चित्रण है। 'पन्त' की 'बादल' कविता में बादल के नाना रूपों का वैविध्य कल्पना की दूरस्थ कूँची से उरेहा गया है, पर यहाँ एक विशिष्ट पर्वतीय परिवेश में बादल-सुषमा के आदिम रस का पान किया गया है :

'तुंग हिमालय के कंधों पर
छोटी-बड़ी कई झीलें हैं,
उनके श्यामल नील सलिल में
समतल देशों से आ-आकर
पावस की ऊमस से आकुल
तिक्त-मधुर बिस-तन्तु खोजते
हंसों को तिरते देखा है
बादल को घिरते देखा है।

अमल धवल गिरि के शिखरों पर
बादल को घिरते देखा है।

यहाँ कल्पना में खोज-खोज कर उतारे गये बादल के विविध चित्रों की अपेक्षा, उस पर्वतीय परिवेश में मेघावतरण से समन्वित सारे रमणीय परिवेश और उसकी मार्मिक सुषमता को सहज भावोच्छ्वास की भाषा-लय में खचित किया गया है। कवि ने वहाँ धनपति कुबेर, अलका और उसके विश्व-मोहक चितेरा कालिदास को भी स्मृति-तरल किया है। शृंगार-चित्रण की एक झाँकी अपनी भाव-मूर्च्छना में अद्भुत रूप से कलात्मक हो उठी है :

नरम निदाग बाल-कस्तूरी
मृगछालों पर पलथी मारे
मदिरारुण आँखोंवाले उन
उन्मद किन्नर किन्नरियों को
वंशी पर फिरते देखा है
बादल को घिरते देखा है।'

ये रचनाएँ यह सिद्ध करती हैं कि नागार्जुन कविता को केवल सैद्धान्तिक और साम्प्रदायिक विचार-परिधि का व्यायाम नहीं मानते। युग-धर्म, तात्कालिक आवश्यकता, समाज मुक्ति, अन्याय-अत्याचार के शोषण और नव्य मानवीय सम्बन्धों के प्रस्थापन की ऐतिहासिक माँग के नाते वे अधिकांशतः उन सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक व्यामोहों के निर्मोकों को तोड़कर मानवता को शोषण–मुक्ति दिलाने हेतु अपने कवि-कर्म का सामाजिक-सामूहिक नियोजन भी करते हैं, किन्तु उनके लिए मानवीय चेतना के मूल रस-स्रोत उपेक्षणीय नहीं हैं जो उसके जीवन की सार्थकता के प्रमाण हैं।

## श्री रामेश्वर शुक्ल 'अंचल'

'अंचल' प्रगतिवादी कवियों के बीच अपना एक व्यावर्तितव्य स्थान रखते हैं। उन्हें एक सुदीर्घ पिष्टपेषी गड्डुलिका-प्रवाह से सहजतया अलग भी पहचाना जा सकता है। मार्क्स-दर्शन के वे विचारक-चिन्तक भी रहे हैं और रचनाधर्मी कवि भी। उनकी इसी रचना-धर्मिता को पहचान कर

आचार्य 'वाजपेयी' ने उनकी अलग से प्रवर्धना और अभिनन्दना की है। उनकी वाणी में प्रगतिवाद का ओजस और वर्चस्व अवश्य है, पर डा० सुमन की भाँति, उनमें भी एक कवि-सुलभ भावुकता और अन्तर्मुखीनता है जो उन्हें मन के सरस् कोणों और हृदय की अन्तःरस-स्रोतस्विनियों तक ले जाती है। उनके मांसल रोमांस को प्रगतिवादी बहुत अच्छी दृष्टि से नहीं देखते होंगे, पर उनकी वाद-प्रवण रचनाओं की शक्ति को देखकर उन्हें प्रगतिवाद की सूची से निकाल भी नहीं सकते थे। हर भौतिकवादी मार्क्सवादी, जब शृङ्गार, प्रेम-सौन्दर्य और जीवन-धर्मी रोमान तक जायगा तो वह छायावादी कवियों की भाँति सूक्ष्मतावादी, कल्पनानन्दी और वायवीयता का आस्वादक नहीं हो सकता। मांसल सौन्दर्य की रसात्मकता का मादक चित्रण इनकी शृङ्गारी कविताओं एवं गीतों का मूल लक्षण है। इस मादकता पर अनेक कोणों से आक्षेप भी हुए हैं, पर 'अंचल' इस अभिव्यक्ति से विमुख नहीं हुए, यह उनकी रचना-धर्मिता का प्रमाण ही कहा जायगा 'किरण वेला', 'लाल-चूनर, 'मधूलिका' 'अपराजिता', 'विराम-चिह्न', 'वर्षान्त के बादल' आदि श्री 'अंचल' के महत्वपूर्ण काव्य-संकलन हैं, जिनमें मांसल रोमानी मस्ती, प्रेमोन्माद, रूपसौन्दर्योच्छ्वास और हार्दिक तरलता के साथ, प्रगतिवादी क्रान्ति के मानवता-परक उद्‌गार अभिव्यक्त हुए हैं। श्री 'अंचल' न केवल प्रगतिवादी कवि, वरन् विचारक-समीक्षक भी रहे हैं। 'साहित्य में प्रगतिवाद' नामक उनके समीक्षा-ग्रंथ में प्रगतिवादी दर्शन, प्रगति के साहित्य-दर्शन और प्रगति-काव्य की मूल मान्यताओं पर विस्तृत विवेचन किया गया है।

'अंचल' ने रोमानी एवं प्रेम-सौन्दर्य-परक रचनाओं में मांसलता के उद्‌गारक विशिष्ट संवेदक रंगों और उनसे रचे विशेषणों का सुन्दर प्रयोग किया है जो इन स्थलों पर उन्हें 'बच्चन' और नरेन्द्र शर्मा के समानान्तर खड़ा कर देते हैं। कपूर, संगमर्मर, सिन्दूर, रक्त, चम्पा, हल्दी आदि के रंगों और उनके रूप-रंग-व्यंजक विशेषणों के तद्‌भव रूप बड़े प्रभाव-पूर्ण ढंग से प्रयुक्त हुए हैं। छायावाद ने 'अप्रस्तुत' रूप में पुष्पों और मणियों (मुक्ता, माणिक्य, नीलम, पुष्पराग, रजनीगंधा, हरसिंगार आदि) के संज्ञा प्रयोगों से 'द्विवेदी-युगीन' अप्रस्तुत-विधायक और रंग-योजना में नवीनता का द्वार खोला था। 'अंचल' और नरेन्द्र शर्मा आदि ने उत्तर-छायावाद एवं छायावादोत्तर काल में जीवन के निकट पदार्थों, पुष्पों और रंगों के तद्‌भवात्मक विशेषणों के ताजे प्रयोग किये हैं। नारी का रूप-सौन्दर्य

और रक्तगत आकर्षण-संवेदन इनमें तीव्रतर हुआ है। 'अंचल' में कपूरी, मर्मरी, सिन्दूरी, आवारा, रक्तिम, चम्पई आदि विशेषण बड़े सहज रूप में प्रयुक्त हुए हैं। 'गोती रात' चाँदनी और 'कर्पूरी शिखर' हिमोज्ज्वल चोटियों का रूप उभारने में सुप्रयुक्त हैं। 'वर्षान्त के बादल' पृ० २१ पर 'संगमर्मरी झरना' पद निर्झर के उज्वल निर्माण को साकार कर देता है। वहीं पृ० ८८ पर 'सिन्दूरी स्नेह' शब्द आया है जो प्यार के साथ विवाहिता का तथ्य भी व्यंजित कर देता है। 'लाज रक्तिम मान' लज्जा और रूप-गर्व तथा 'कसमसाती जाफरानी प्यार' पद रूप-प्रेम, लज्जान्त पलकों, मादक आकर्षण आदि के सन्दर्भ को साकार कर देते हैं। 'लाल चूनर' पृ० ७, ३३ एवं ३५ पर 'चम्पाई रेशमी पर्दा' 'मुस्कानों की गोरी प्याली,' 'गुल्लाल सी आँखें', 'कनक-सी देह' आदि प्रयोग रूप, सुषमा, हाव, अनुभाव और अनुभूति भंगिमा को भाव-भरी लक्षणाओं से उद्भासित करने में अतीव सफल हुए हैं।

'अंचल' ने प्रगतिवादी कथ्यों को भी अपनी कविताओं में उकेरा है :

(१) 'किन्तु कहाँ वह उदर भरा रह जाता है सुख से दो दिन,
पीसा करते हैं पिशाच दे रोटी के टुकड़े गिन-गिन।'

( 'मधूलिका' )

(२) मुट्ठी भर दानों की तृष्णा महाक्रान्ति को आग लगाती,
आज क्षुधा इन कंगालों की सोये ज्वालामुखी जगाती।'

( 'किरन-बेला' )

भूखे शिशुओं की चीत्कारें, आँसू से सूखे नेत्र, सूखी-मिचुड़ी-चुसी हड्डियाँ, मुट्ठीभर दाना, शोषकों का पैशाची रूप, धनिकों से गरीबीनियों की लज्जा की लूट, धनपतियों के अत्याचार, सूखे शिशु, अस्थिपंजर, दलित शरीर, उदर में आया अनाहूत शिशु-आदि तथ्यों के वितृष्णा, रोष, घृणा, विद्रोह, असन्तोष और आक्रामक प्रहार 'अंचल' में भी उसी प्रकार आते रहे हैं जैसे अन्य ढर्रे पर चलने वाले प्रगतिवादी कवियों में। अकाल, रोग, भुखमरी, जी तोड़ परिश्रम के बाद आधा भोजन, टूटता पाँजर, धँसी आँखें कुचैल-लदे शरीर, कल-कारखानों में रिसते-तपते श्रमिक, गन्दी बस्तियाँ, धुमैले प्रात, धुँधली शामें, टूटे छप्पर, चूते घर, अंधी झोपड़ियाँ, दिया बिना उदास अँधेरे घर, बढ़ते त्रास, अन्नाभाव आदि घिसे पिटे दैनिक बहिर्दृश्य 'अंचल' की प्रगतिवादी रचनाओं के परम्परित विषय हैं। यहाँ लक्षणाओं

से अधिक अभिहित कथनों का ही प्राधान्य है। भाषा बौद्धिक, वर्णनात्मक, सपाट, आक्षेपात्मक, चित्र-विहीन और विचारावेग से आन्दोलित रही है। इसमें कविता-तत्व और भाषा की संरचनात्मक अन्वेषणा तथा नये प्रयोग नहीं गृहीत हुए हैं। सच तो यह है कि 'अंचल' के कवि के दो व्यक्तित्व हैं १. प्रगतिवादी २. रोमानी। प्रगतिवादी 'अंचल' पंक्ति में खड़े उस साहित्यिक जुलूस में उसी प्रकार मुट्ठिया बाँध और बाहें तानकर कविता में नारे देते चलते दिखाई पड़ते हैं जैसे अन्य शिविरबद्ध प्रगतिवादी कवि। रोमानी 'अंचल' अपने मानवीय, मन मानव-हृदय और रूप-सौन्दर्य की उस तृषा के आकलन में कविता को सहायिका बनाते हैं जो 'छायावाद' युग में पनपी, 'उत्तर-छायावाद युग' में फैली और 'छायावादोत्तर मानववादी गीत प्रगति धारा' में आगे सजाई सँवारी जाकर आज तक विकसित होती आ रही है, जिसमें प्रो० क्षेम, डॉ० शम्भुनाथ सिंह, रमानाथ अवस्थी, नीरज, वीरेन्द्र मिश्र, भारत भूषण और सोम ठाकुर आदि के गीत विकसित परिमार्जित हुए हैं।

## शील—

प्रगतिवादी कवियों में 'शील' का भी एक जाना-पहचाना स्थान रहा है और प्रगतिवादी आलोचकों ने गम्भीर रूप से उनकी चर्चा भी की है। यह दूसरी बात है कि प्रगतिवादी घेरे के बाहर शुद्ध साहित्यिक समीक्षकों ने उनकी चर्चा न की हो या उनमें वे विशेष चर्चित न रहे हों, पर डा० रामविलास शर्मा और डा० प्रकाशचन्द्र गुप्त और श्री शिवदान सिंह चौहान आदि प्रगतिवादी समीक्षकों ने गम्भीरतापूर्वक उनका उल्लेख किया है। कुछ नये आलोचकों एवं काव्य-संपादकों ने उन्हें उस श्रेणी के रचनाकारों में भी परिगणित किया है जो प्रगति या प्रयोग की परिधियों के भीतर रहते हुए और बाहर भी ऐसी रचनाएँ करते रहे हैं जो समकालीन काव्य-सृजन के क्षेत्र में उच्चकोटि की रचनाएँ रही हैं।[1] प्रगतिवादी आलोचक भी यह मानते रहे हैं कि यद्यपि वर्ग-शोषण की प्रवृत्ति के विरोध के कारण प्रगतिवादी भारत की पारम्परिक संस्कृति का विरोधी है, पर अपनी समाजवादी साम्य-व्यवस्था के अनुकूल भारतीय संस्कृति के पुरा सन्दर्भों में जो भी तत्व या प्रसंग ऐसे हैं जो उसके पोषक हो सकते हैं,

१. द्रष्टव्य—'आयाम', सं० विश्वनाथ गौड, ललित शुक्ल, राज कमल प्रकाशन, दिल्ली, १९६३,

प्रगतिवादी उनको समेट कर एवं नवीन के साथ सम्बद्ध कर उन्हें विकसमान बनाये।[1] पर ऐसा कम ही प्रगतिवादी कवियों ने किया है। शील ऐसे कवियों में हैं जिन्होंने भारतीय संस्कृति के पौराणिक सन्दर्भों को वर्तमान और समकालीन के रेखांकन-अभिज्ञापन में उपयोजित किया है :

'कितना है यह सत्य भयानक मधुर स्वप्न में अग्नि-सिन्धु-सा,
आच्छादित अंगूर-बेलि से सूखे हुए बबूल वृक्ष-सा,
अर्जुन की छलना से दोहित एकलव्य-सा,
धर्म-भीरु कुलहन्तवर्ग की अन्तिम साँसों से आन्दोलित—
गोहत्या के सत्याग्रह-सा।'

[ 'सत्य' शीर्षक कविता ]

प्रगति-विश्वासी दृष्टि से देखा-पहचाना गया यह सत्य कितना भयानक है कि मानव-मात्र और संसार के कर्म-रत, संघर्ष-रत और श्रम-रत मजदूर सभी एक हैं, किन्तु इस सत्य को हर-कहीं झुठलाया जा रहा है। कवि का सन्देश है कि सुख-दुःख, भोग-विलास, नस-तोड़ मिहनत या साहित्य-रचना या और जहाँ कहीं भी मानव का पसीना बह रहा है, वह श्रम ही सबसे महत्व-पूर्ण है। कलाकार, चित्रकार, वयन-कला-कर्मी, मचान पर गाते किसान, साँचा चलाती उँगलियों वाले मज़दूर, युद्ध-रत सैनिक, किस्सा कहती बुढ़िया और चीनी-रूसी-हिन्दुस्तानी या ईरानी सभी एक सा पवित्र श्रम करते मानव हैं, जिन्हें यह सत्य गाँठ बाँध लेना है :

'अपना सत्य मानवी ममता,
अपना सत्य साहसी समता,
जहाँ कहीं भी हो तुम मित्रो!
जीवन-सुख की मधुर कल्पना के स्वामी हो।'

[ 'सत्य' कविता ]

समूची 'सत्य' शीर्षक कविता में एक विचित्र प्रवाह, लय और आनुभूतिक सत्यता है जिसे कवि एक सांस में लगातार जैसे अंगुलि-निर्देश करता जा रहा है। कविता का परिवेश बड़ा विराट् है। सम्पूर्ण विश्व और उसके अतीत, वर्तमान और भविष्य के प्रसार में कवि कुछ कोमल,

---

१. डॉ० राम विलास शर्मा, 'प्रगति और परम्परा', पृ० ६६–६७.

मधुर, कटु और मार्मिक संकेत-सन्दर्भों के माध्यम से उन्हें जोड़कर एक सत्याभास से सजीव करता चला जाता है। श्रम, युद्ध, ब्याह, कृषि, कला-सर्जना, प्रकृति की मनोरमता और भयावहता में सर्वत्र एक अन्तर्हित सत्य को उद्भासित कर देता है। ऐसी भाव-पूर्ण, मार्मिक और आनुभूतिक निष्ठा से लिखी गयी कम ही प्रगतिवादी रचनाएँ ढूँढ़ने पर मिल सकेंगी। शोषण, पीड़न और दोहन के व्यापार भी समानान्तर रूप से रेखांकित होते गये हैं।

शील की 'शरद पूर्णिमा की रात' रचना भी कई दृष्टियों से महत्व-पूर्ण है। कवि शरद-पूर्णिमा की प्रकृति छटा को सर्वप्रथम आदिम हृदय की भाँति पीता है :

'खोले नयन किंशुकी जुन्हाई में आत्मसात
डूबी हुई कल्पना-परिधि रश्मि-सिन्धु में।'

कवि ने 'वेद-पाठी' के अप्रस्तुत से शीशम और बेल के समन्वित संसर्ग को सुन्दरता और मार्मिकता से उभारा है :

'शीशम पर घैली फैली बेल,
वेदपाठी की प्रतिभा-सी—
मौन पी रही है ज्ञान, शशि के सौन्दर्य का।'

कहीं कहीं लगता है प्रगतिवादी कवि छायावादी कवि के साथ एक हाकर क्षण भर प्रकृति की मोहक-मादक सुषमा में डूबने लग जाता है :

'झाँक जाते तन्द्रिल, उनींदे दो प्यासे नयन,
हाँ या नहीं की प्रतीक्षा में।
पी लेता एक घूँट—
इस अनदेखी वेदना का।'

कवि सहसा अतीत की सुदूर वीथियों में पहुँच जाता है जहाँ उसे क्रौंच की व्यथा वाले वाल्मीकि की स्मृति बेधने लगती है और उसे क्रौंच की व्यथा में स्वयं वाल्मीकि की मानवी व्यथा की झंकार सुनायी देने लगती है। फिर यह व्यथा-स्मृति उसे समकालीन व्यथा से जोड़ देती है, वह लहरों में विद्रोह, दिशाओं में आन्दोलन अनुभव करता हुआ, इस मुक्त चाँदनी में स्वामी, दास-दासी की कुत्सित परम्परा के शूल से बिंध जाता है। इस 'ज्योति जीने की बेला' में उसके कवि की अन्तवर्त्तिनी और भस्मावृता आग जग जाती है और वह वाल्मीकि-सा अपने युग की कथा

आँकने की कुरेद का अनुभव करने लगता है। 'मठों के देवता डोले' कविता में शील का कवि शोषण और अत्याचार को मौन सहने-देखने से ऊब कर युगों की मान्यता और युगों की सभ्यता की सचाई आँकने लगता है, कला की परम्परित परिभाषाओं को तोलने लगता है। उसे प्रगति-पथ की नयी रेखा कौंधती दिखाई पड़ने लगती है :

'प्रकंपित चकित होकर कुनमुनाई कला की व्याख्या,
मुड़ी जब वक्र-बिजली-सी प्रगति-पथ की नयी रेखा।'

उसे पीड़ा का एक सामूहिक स्वर सुनाई पड़ता है और उसके कवि का तिमिर-हन्ता कल्पना-आलोक उतर पड़ता है। इस प्रकार कवि अपनी कल्पना और चिन्तना के इस आलोक में कवि का नया सत्य और युग-धर्म प्राप्त कर लेता है कि उसे इस जन-पीड़ा को समाप्त कर नये समाज के अवतरण में कलम का सिपाही बनना चाहिए।

शोषक तत्वों के प्रति उसके हृदय में गम्भीर आक्रोश और तृष्णा खौल उठती है। इसी प्रकार युद्ध उत्पन्न कर जन-समाज को भूनने और अपनी तिजोरी भरनेवालों के प्रति भी कवि आकृष्ट हो उठता है—

चिन्तित काल दस्यु के सहचर।
कोढ़ - खाज की खेती करते।
कलह-कंगूरे उठा सजगता पर काँटों की मेंड़ बाँधते।
युद्ध तृषा में जलते - भुनते,
श्मशान के पीपल तरु यह।

मार्क्स के अनुसार पूँजीवादी जन-जागरण को दबाने और उन्हें आपस में विभाजित करने के षड्यंत्र में युद्धों की दुरभिसंधियाँ रचते हैं। वह कहता है—

'जहाँ कहीं भी हो तुम मित्रो!
यह रहस्य जन - जन से कह दो!
यह अनर्थ सबको बतला दो!'

[ 'सत्य कविता' से ]

'शब्द-बीन' कविता में प्रगतिवादी कवि की कविता के अक्षरों को शील 'गर्भवती आशा की तह में, फूट पड़नेवाले अंकुर बतलाते हैं जो जन-समूह के पुत्रवत् सहायक बनेंगे।

यह रचना अपने तंत्र में किंचित् प्रयोगमुखी है। 'नदी', 'भँवर', 'धार', प्रमाद', 'लाठी' और 'तरंग' क्रमशः जन-प्रवाह, विघ्न, जन-समाज के अग्रतर विकास, प्रमादी पूँजीशाहों और साम्राज्यवादियों, अत्याचार और दमन से और बढ़ानेवाली नव-चेतना के उपलक्षण (अप्रस्तुत अथवा प्रतीक) बनकर प्रयुक्त हुए हैं। कुल आठ खण्डों में नियोजित यह रचना जनता के सर्व-वाहक अस्तित्व, जन के अनिवार्य उज्ज्वल भविष्य, सत्य और न्याय पर आधृत समाज के पथ की साध्यता, जन-मुक्ति के लिये परम्परित पथ को छोड़ नूतन पथ पकड़ने की आवश्यकता के प्रगतिवादी-मार्क्सवादी तत्व के प्रकाशक मंत्र-बीज के रूपों को एकत्र प्रस्तुत करती है।

'युग-पथ' शील की सशक्त कविताओं का संकलन है, जिसमें कवि देश की तत्कालीन प्रतिक्रियाओं और जनगण की सामान्य आकांक्षाओं को ऐतिहासिक सत्यों के माध्यम से भी प्रकट करता है।[1] आधुनिक तिकड़म-पंथी थैलीशाहों को वे नये अर्थ में 'चाणक्य' की भूमिका से जोड़ देते हैं :

**'लगे फिर बाँधने, चाणक्य बन्धक-व्याज की सीमा।**

**बिछाकर-जाल,**

**माया द्वेष, विग्रह, छल-कपट का।**

**मठों के देवता डोले।**

—[ 'युग-पथ', १९४६ ]

'युग-पथ' में जन-अभियान के बढ़ने का संकेत कवि अत्यन्त आशामयता के साथ करता है—

**'संघर्षों के बीज फोड़कर, अंकुर-सी बढ़ चली जिन्दगी।**

**मनुष्यता की नयी सुबह में, सूरज-सी बढ़ चली जिन्दगी।**

[युग-पथ, पृ० ७ ]

जन-क्रान्ति की हल चल 'पानी-सी प्रिय', 'आग सी स्वच्छ', 'पर्व-सी पावन', 'कृषक बाला-सी हँसती', 'उगते खेतों-सी मन भावन' 'खिलती हुई कली-सी पुलकित' और 'उड़ते हुए भ्रमर सी चंचल', कही गयी है।[2] सारे

---

१. रामयतन सिंह 'भ्रमर', 'आधुनिक हिन्दी कविता में चित्र विधान', पृ० ३१६

२. 'युग-पथ' पृ० ८

अप्रस्तुत प्रकृति के सर्वदृश्य किन्तु स्थायी उपकरणों, जन-जीवन के दैनिक सन्दर्भों और सांस्कृतिक प्रसंगों से मार्मिकता से चुने गये हैं जिस कारण वे न केवल क्रांति के प्रति जनास्था जगाते हैं' वरन् उसे जन-जीवन का आत्मीय भी बना देते हैं।

'उदय-पथ' उनका दूसरा संकलन है। इसमें 'नाविक-विद्रोह' के माध्यम से क्रान्ति की देश-व्यापिनी चिनगारियों को व्यापक बनाया गया है।[1] यहाँ कवि प्रचारात्मक और लाल पताका का यशोगायक बनकर अवतरित हो जाता है। अनेक रचनाओं में मार्क्स-दर्शन के प्रकाश में विश्व-क्रान्ति का भी संकेत किया गया है। कोरिया के पड़ोसी एशियायी देश की कसमसाहट पर भी कवि की दृष्टि जाती है।[2] प्रगतिवादी 'शोषित वर्ग' को 'वर्ग' के रूप में महत्व देता है, व्यक्ति-व्यक्ति के रूप में नहीं, व्यष्टि से समष्टि ही उसका मूल लक्ष्य होता है।[3] शील की रचनाओं में भी उनका व्यक्ति नहीं, समष्टि का प्रतिनिधि ही अधिक बोला है। फिर भी शील में प्रगतिवाद का एक शील अवश्य है जो प्रचार से आगे मानव-मन के गहरे बिम्बों और चित्रों की ओर भी गया है, पर समकालीनता सर्वत्र उभर आती है और कवि तुरन्त समष्टि-मुखी हो जाता है। 'शरद पूर्णिमा की रात' जैसी भाव-सौन्दर्यमयी रचना में भी कवि अन्ततः वाल्मीकि की स्मृति के साथ दास-दासी प्रथा की व्यथा को याद कर उठता है। शील की भाषा में औरों की अपेक्षा अधिक गम्भीरता और शिल्प है।

## डॉ० रांगेय राघव

प्रगतिवाद के आरम्भिक कवियों में रांगेय राघव का नाम भी बहु-चर्चित रहा है। उन्होंने भी पौराणिक आख्यानों और पुराख्यान-तत्वों ( मिथ ) को नये प्रसंगों में जोड़ने का प्रयास किया है। 'हंस', दिसम्बर, १९४५ में प्रकाशित उनकी 'अरे ओ जल्लाद' कविता में 'निर्वीर्य पापी इन्द्र', 'महान् दधीचि', 'धन कुबेर', 'पार्वती की उँगलियाँ', 'एकलव्य', 'धनुधारी अर्जुन' आदि के चरित्र-वृत्त अप्रस्तुत और प्रतीक रूप में लिये हैं :

---

१. 'उदय-पथ', पृ० ४७

२. वही, पृ० ६३

३. 'प्रगतिवाद की रूप-रेखा', शिवचन्द्र, पृ० १८५

'मैं वही हूँ एकलव्य—
कि धनुर्धारी वीर अर्जुन
डर गया था—
और तुमने ले लिया था अँगूठा
मेरा कि तेरे स्वार्थ की हो
सिद्धि।'

इस प्रकार आज की शोषणा को पुरावृत्तों से तुलित कर उसकी संवेदना को बढ़ाने के साथ, शोषण की अनवरत परंपरा को भी मार्क्स की व्याख्या के प्रकाश में भारत के लिए सच सिद्ध किया जा सका। अत्याचार और जनता की अमरता को इतिहास के 'नादिरशाह' के प्रसंग से उद्धृत किया गया है। कवि प्रगतिवादी कवियों की बृहत् संख्या का संकेत करते हुए जनता को बताता है कि पृथ्वीराज को एक चन्दवरदायी मिला था, पर जन को तो अनेक प्रगतिवादी संस्तोता प्राप्त हैं :

'चन्द का था एक पृथ्वीराज
किन्तु मेरे हो अनेकों आज!'

—[ 'हंस', जनवरी, फरवरी, १९४७, 'यात्रा' कविता से ]

देवपूजा की रूढ़ि का खण्डन करते हुए रांगेय राघव धर्म-पूजा के दुरुपयोग का भंडाफोड़ करते और जीवित मानव की उपेक्षा पर व्यंग्य करते हैं :

'हड्डियों की ठठरियों को देवता की कब्र कहकर
कफन हैं वे डर उढ़ाते
और मांसल जिन्दगी के ताप को
वे क्रीत दास बना उसे ही
त्याग, सत्य, सहिष्णुता कह
चूसते हैं।'

—[ 'हंस', नवम्बर, १९४७, 'मंजिल' कविता ( पूर्वार्द्ध ) ]

कवि का युग-बोध इतना महत्वपूर्ण हो उठता है कि वह 'प्रस्तुत' की भूमिका से उठकर 'अप्रस्तुत' का प्रतिमान बन जाता है। रात 'कोयले की खान की मजदूरनी' तथा अंधकार 'बोझ' का उपमेय बन जाता है :

'कोयले की खान की मजदूरनी-सी रात
बोझ ढोती तिमिर की विश्रान्त-सी अनुदात।'

सामान्य श्रमिक-जन अपनी जिन्दगी को उसी पर बैठ कर गाड़ी की तरह हाँकता है। डॉ० रांगेय राघव भारतीय धर्म और संस्कृति के इतिहास के अपने गहन बोध को अत्याचार के प्रसंग में (युद्ध और आक्रमण की निन्दा में) द्वैपायन और नागार्जुन को प्रतीक-रूप में ग्रहण कर प्रभाव की वृद्धि करते दिखाई पड़ते हैं :

'घहरता था सुनसान अबाध
जल गया था द्वैपायन शब्द
जल गया था नागार्जुन वाक्य
जल चुकी थी निर्ग्रन्थ पुकार।
—[ 'पिघलते पत्थर' संकलन की 'आक्रमण' कविता ]

'शम्बूक' 'एकलव्य' और 'ढाका का जुलाहा' के प्रतीक इस परम्परा को संकेतित करने के लिए सांस्कृतिक इतिहास से लिये गये हैं जो अन्याय और शोषकवर्ग के अत्याचार की परम्परा का नैरन्तर्य सिद्ध करती है। 'पिघलते पत्थर' संकलन की 'आततायी' रचना उनकी इस प्रवृत्ति का स्पष्ट उदाहरण है। क्रान्ति की अवश्यम्भाविता और अनश्वरता के लिए गंगा और ज्वालामुखी के सांस्कृतिक-भौगोलिक प्रतीक चुने गये हैं :

'गङ्गा न कभी सूखा करती
यह खून न अपना सूखा है
ज्वालामुखि को है शान्ति कहाँ
जाने वह किस क्षण फूटा है।'
—[ 'पिघलते पत्थर' तूफान गरजता है—कविता ]

कवि के अनुसार जनता में क्रान्ति की चेतना सर्वदैव होती है :

'हर कगार के तले जल काटता फुँफकारता है।'
—[ 'पिघलते पत्थर'-पग-चिह्न ]

समाज के शोषक, मछली खानेवाले गृद्ध हैं। किन्तु कवि को विश्वास है कि वह एक दिन सूर्य-सा गिरेगा :

सैकड़ों वर्षों रहा जो
वर्ग वाला सूर्य शोषक
आज निष्प्रभ मलिन ठंडा
गिर रहा है भग्न रोता।'

—[ 'पिघलते पत्थर' से ]

डॉ० रांगेय राघव ने वैज्ञानिक प्रतीकों को भी 'मार्क्सवाद के तत्वों' को स्पष्ट करने में प्रयुक्त किया है।

यद्यपि ऐसे प्रतीकों के साथ परम्परित रागात्मक साहचर्य न होने से कविता अपेक्षाकृत रुक्ष और गद्यात्मक प्रतीत होने लगती है, पर समकालीन तथ्यों को उजागर करने में यह खतरा स्वाभाविक है :

'दूर हैं वे झोपड़ियाँ मौन
सो रहा है यह बँगला आज
जुड़ रहा है दोनों के बीच
स्वयं रह-रह बिजली का तार।'

—[ 'राह के दीपक', 'भार का अवसाद' रचना से ]

भूख, गरीबी, भिखमंगी, अभाव-ग्रस्तता, दैन्य, कातरता, दयनीयता आदि सामाजिक पदार्थों के समकालीन चित्रण 'राह के दीपक संकलन की 'तूर्यनाद', 'साँझ' आदि कविताओं में गहराई और प्रभावकता के साथ उभरे हैं। नये प्रतीक, नूतन उपमान और ताजे बिम्ब भी डॉ० रांगेय राघव की रचनाओं में उद्घाटित हुए हैं :

'रात के चिथड़े न नभ को ढाँप पाते और चेचक
के पके वे दाग से तारे लगे हैं झलमलाने।'

'राह के दीपक' की 'सूहर' और 'चाँदनी' कविताएँ भी गहरे और घने वस्तु-बिम्बों की अनुभूति संवेदना में कम नहीं है। 'चाँदनी' कविता में आया 'जो कि अभी सोया है गाकर गीत फटा-सा सूने जी का'—पद लाक्षणिकता में ही नहीं, विशेषण-वक्रता के साथ मर्म-वेधकता भी लिए हुए है। इसी प्रकार 'पिघलते पत्थर' संकलन की' सेतु', चुनौती, 'उफान' तथा 'राह के दीपक' संकलन की 'एकान्त', 'सन्ध्या', 'साँझ' आदि कवि-

ताओं में भी कवि का कथ्य सशक्त रूप से उभरा है। रांगेय राघव की कविताओं में सामान्यतः 'सुमन', 'अग्रवाल', 'शील' और 'नागार्जुन' की भाँति गहरा रोमानी रंग बहुत कम उभारा गया है। कवि अधिकांशतः जन-भावना, क्रान्ति-संभावना, दैन्य, शोषण, अत्याचार, अन्याय और वैषम्य का ही उद्‌घाटक और उद्‌गाता रहा है।

इसके अतिरिक्त नेमिचन्द्र जैन, नरेन्द्र शर्मा (विशेषतः 'अग्निशस्य' में), उदय शंकर भट्ट, भगवती चरण वर्मा, डा० रामविलास शर्मा, 'मुक्तिबोध', माचवे', 'कमलेश', भारतभूषण अग्रवाल, मलखान सिंह, सिसोदिया, सुरेन्द्र श्रीवास्तव, त्रिलोचन शास्त्री, शमशेर ( इनका विवेचन 'प्रयोगवादी धारा में होगा ), शरच्चन्द्र मिश्र, वीरेश्वर सिंह, नरेश मेहता, हरिव्यास, त्रिभुवन नाथ, सुधीन्द्र, महेन्द्र भटनागर, लालधुँवा आदि कवियों ने भी प्रगतिवाद अथवा उसके आर्थिक पक्ष को लेकर सामाजिक यथार्थ की प्रकाशक रचनाएँ लिखी हैं और इनकी एक बड़ी संख्या भी एकत्र की जा सकती है। 'पन्त', 'दिनकर', 'निराला' आदि महाप्रतिभाओं ने भी वैषम्य, सामाजिक अन्याय, जन-शोषण, जन-जागरण, नव्य क्रान्ति, रूढ़ि-विद्रोह, समता, बन्धुत्व, स्वतन्त्रता, जनमुक्ति, पूँजी-विरोध, श्रमिक-सहानुभूति, कृषक-समवेदना और दैन्य-उन्मूलन को विषय बनाकर उद्‌बोधन भरी कविताएँ रची हैं। 'निराला' और 'पन्त' तो कभी प्रगतिवादियों के पूर्ण प्रशंस्य ही बन गये थे। राष्ट्रवाद के साथ समाजवाद को अपनाने के कारण 'दिनकर' को साम्यवादियों ने कभी भी खुलकर नहीं सराहा। इस प्रकार शास्त्रीय अथवा भारतीय परम्परा और काव्य-मान्यताओं को पूर्णतः अथवा अंशतः न मानने के कारण प्रगतिवादी काव्य भी हिन्दी-कविता की स्वच्छन्द धारा में ही परिगण्य है। यह धारा मार्क्स-दर्शन की विदेशी धारणाओं से पूर्ण प्रभावित और राष्ट्र से अधिक विश्व-मानवता को लक्ष्य में रखने वाली काव्य-धारा रही है, जिसके आदर्श रूसी और चीनी अथवा विश्व के मार्क्सवादी रचनाकार ही रहे हैं, भारत के पूर्ववर्त्ती कवि नहीं। यह रस, आनन्द या सौन्दर्य को काव्य का लक्ष्य न मानकर जन-जागरण, क्रान्ति-उद्‌घोषणा और नवीन साम्यवादी-समाजवादी समाज की रचना, उसमें यथाशक्ति योग-दान और उसके प्रचार को ही सत्काव्य, सत्कवि और सत्यनिष्ठ लेखक का मूल-धर्म मानता है। ये कवि भौतिकवादी और मानवतावादी ( अपने विशिष्ट मार्क्सवादी सीमित अर्थ में ) रहे हैं। वर्ग-संघर्ष को तीव्रतर कर सर्वहारा जन-वर्ग की पक्ष-धरता इनकी काव्य-गत ईमान्दारी का एक मात्र प्रमाण है। इनके

काव्य की प्रकृति बौद्धिक, यथार्थवादी, प्रत्यक्षवादी, उपयोगितावादी, भविष्यवादी और वर्गवादी रही है। ये अपने को 'कलम का सिपाही' अथवा 'लेखनी का मज़दूर' मानते तथा समाज निर्माण और नवोत्पादन में जो स्थान उपकरण ( टूल ) का होता है, वही स्थान और मूल्य ये कविता को भी देते हैं। इस कारण कला और शिल्प की चेतना की दृष्टि से ये रचनाएँ रुक्ष और अभिधावादी एवं इतिवृत्तात्मक रही हैं।

भाषा के क्षेत्र में तत्समता या शुद्धता का इनका कोई आग्रह नहीं रहा। जन-सुबोधता इनका व्यावहारिक नहीं तो बौद्धिक आदर्श अवश्य ही रहा है। परम्परा-त्याग से इनके शब्द अधिकत्र अनुपयुक्त, अनगढ़, अनमूल, मिश्र-भाषिक एवं अनेकत्र अ-व्याकरण-सम्मत भी रहे हैं। 'सिकचे', 'कदमें', 'दवाग' ( दावाग्नि ), 'आगी' ( आग ), 'सुपना' ( सपना ), 'एके' ( एका, एकता ) आदि चिन्त्य प्रयोगों के साथ वस्तु-विन्यास में असामंजस्य, रस विरोध, रागासन्तुलन, भाव-विचारागत रूढ़िमयता, पुनरावृत्ति, पिष्ट-पेषण, एक-स्वरता आदि दोषों की ओर से भी ये उदासीन रहे।

यह सब होते हुए भी जन-कल्याण, रूढ़ि-विरोध, शोषित-सहानुभूति, उपेक्षित मानवता के गौरवानयन, लघुता के प्रति दृष्टि-आदि पक्षों के कारण इस धारा ने हिन्दी-कविता को वस्तु, विचार और मानवीयता की एक नयी दिशा दी, जिसमें असन्तुलन भले ही रहा हो, पर जिस पर अबतक ध्यान नहीं दिया जाता था और जिस पर ध्यान देने से जगत् सन्तुलित और मानवता अधिक सुखी बनायी जा सकती है।

## प्रयोगवाद

'प्रयोग' का अर्थ है 'किसी नये तथ्य-सत्य के साथ अथवा प्रस्तुत सामग्री पर नये तथ्य सत्यों के अन्वेषण एवं उपलभन का प्रयास'। इसका समानार्थी अंग्रेजी शब्द 'इक्सपेरिमेंट' है जो विज्ञान से आया है और जिसे 'विज्ञान' में पूर्ण मान्यता और प्रामाणिकता प्राप्त है। यह युग विज्ञान का युग कहा जाता है और विज्ञान में पद्धति-बद्ध चिन्तन, बौद्धिकता तथा प्रयोग को पूर्ण आस्था प्रदान की जाती है। वैज्ञानिक यों ही, किसी पूर्व-प्रचलित मान्यता या धारणा को न स्वीकार कर, उसे अपने प्रयोग की कसौटी पर कसता है। वह भाव, आस्था या आप्त-कथनों पर विश्वास न कर बुद्धि, यथार्थ, वास्तविकता और प्रयोगसिद्धि को अपना मूलाधार मानता है। पाश्चात्य जगत् में छाया-युग के पूर्व से ही वैज्ञानिकता,

बौद्धिकता और यथार्थ को प्रतिष्ठा मिल चुकी थी और धार्मिकता को गौणता प्राप्त हो चुकी थी, पर छाया युग के बीतते-बीतते भारत में भी विज्ञान की महत्ता बढ़ चुकी थी। विज्ञान मूलतः प्रत्यक्षवादी, भौतिक, प्रथमतः सन्देहवादी और प्रयोग -विश्वासी होता है। छाया-युग के उपरान्त क्या, उसके 'उत्तरकाल' में ही भारतोय साहित्यकारों की नवीन पीढ़ी पर विज्ञान, बौद्धिकता, सन्देहवाद और भौतिकता की उपयोगिता का आकर्षण प्रभावी होने लगा था। सन् १९३६ के आस-पास पनपे प्रगतिवाद ने ही यथार्थ, बौद्धिकता और समूची परम्परा-व्यवस्था के प्रति असन्तोष को मान्यता दे दी थी। वैज्ञानिकता स्वयं अपने लक्ष्यों में भले ही व्यक्तिवाद का आग्रह न रखे, पर व्यक्तितः वैज्ञानिक व्यक्तिवादी इस अर्थ में माना जायगा कि वह अपने से पूर्व की धारणाओं को संदेह की दृष्टि से देखता, पूर्ववर्ती वैज्ञानिक सिद्धांतों को केवल प्रयोग-सिद्धता के नाते सही मानता और अपनी हर मान्यता-धारणा को प्रयोग-सिद्ध बनाने में विश्वास करता है। प्रगतिवाद ने मार्क्स-दर्शन और उसकी मूल व्याख्याओं को मानकर पूर्ववर्ती समाज-व्यवस्था, उसके मूल्य-मानों और उनकी समीचीनता को अस्वीकार कर दिया था, यद्यपि वे व्यक्तिवादी नहीं, समष्टिवादी थे।

सन् १९४० के उपरान्त विश्व के पाश्चात्य लेखकों-साहित्यकारों की भाँति हिन्दी में भी एक साहित्य-दृष्टि पनपी जो परम्परा-व्यवस्था की विरोधिनी थी, पर प्रगतिवाद और प्रयोगवाद के विरोध और असन्तोष में एक मौलिक अन्तर रहा। प्रगतिवादी द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के एक निश्चित मार्क्सीय-दर्शन को अपना सर्वे-सर्वा समझते थे, जबकि प्रयोगवादी दृष्टि उस प्रकार किसी एक ही रूढ़ दर्शन को अपना घोषित आदर्श नहीं बताती थी। उसका मूल प्रस्थान-बिन्दु था कि वह परम्परा को आरोपण मानती एवं कवि या साहित्यकार के लिए साहित्य के मूल तत्त्वों के साथ निजी प्रयोग और नयी राहों के अन्वेषण को तात्त्विक मानती थी। वैज्ञानिक की तरह वह भी नव-सन्धान में रुचिशील थी, परम्परित सत्यों के प्रति अविश्वासिनी थी तथा साहित्य की सामग्री को निरे भौतिक तथ्यों के स्तर से भिन्न, अनुभूति-संवेदन-बोध के माध्यम से अभिव्यंजनीय मानने के कारण, अपनी रागानुभूतियों एवं निजी जीवन-बोधों के आधार पर खोज और प्रयोग की वस्तु और वैयक्तिक साहसिकता को आवश्यक मानती थी। वह मानती रही कि काव्य-रचना और साहित्य-सर्जना का मार्ग हर कवि-लेखक के लिए

अपने चुनाव, प्रयोग और निर्धारण का मार्ग है। वह काव्य-साहित्य के क्षेत्र में व्यक्तिवादी और प्रयोगी रहा। उसकी यह वैयक्तिकता काव्य के विषय और अभिव्यक्ति, कथ्य और रूप अथवा वस्तु और शैली—दोनों ही स्तरों पर क्रियाशील रही। स्वाभाविक था कि प्रयोगवादी ऐसे विषयों को काव्य का विषय बना लेता जो अब तक अकाव्यात्मक अथवा परम्परित काव्य में काव्य-सामग्री के रूप में उपेक्षित, त्यक्त, वर्जित एवं अवर्ण्य माने जाते रहे हों। इसी प्रकार, वह काव्य में अब तक प्रयुक्त अलंकारों, शैलियों और रूप-शिल्पों को अनुपयुक्त, बासी, अभिव्यक्ति-हीन और घृष्ट समझकर नई अभिव्यंजना-पद्धतियों, प्रतीकों, वाग्भंगिमाओं और भाषा विधानों की खोज में नये प्रयोग करता। जब हर रचनाकार की सार्थकता उसकी निजता नवीनता, मौलिकता और निजी प्रयोग में निहित मानी जायगी तो स्वाभाविक है कि समानता, सुबोधता, साधारणीकरण और परस्पर-सम्बद्धता के आदर्श गौण हो जायँ एवं वैयक्तिकता, दुर्बोधता, विशिष्टीकरण और परस्पर पार्थक्य के गुण ही प्राधान्य प्राप्त कर लें। अब कविता और कलात्मक सर्जनालोक सामान्य भावों के आदर्शीकरण, परिमार्जन तथा लोक-प्रेषणीयता के आदर्शों से अलग, कवि-व्यक्ति के राग-बोधों, अनुभूति संवेदनों एवं उनके वैचित्र्य और वैलक्षण्य के समीपतर मान ली गई। आदर्श के साथ पूर्व-मान्यता और समूह-मान्यता का तत्व सम्बद्ध होता है, अतः व्यक्ति-वैचित्र्य और सर्वथा नावीन्य को 'मान' के रूप में स्वीकार कर चलनेवाले प्रयोग-वादी के लिए आदर्श आरोपण, आयात और उधार की वस्तु बन जाते हैं। हर प्रयोगवादी अपना आदर्श स्वयं निर्मित करता और चुनता है जो अन्यों के आदर्श से भिन्न एवं अननुगामी हो। उसे परम्परा गड्डलिका-प्रवाह और परकीय बन जाती है। प्रयोगवादी के लिए स्वाभाविक है कि उसकी परम्परा यदि कुछ हो सकती है तो वह अपनी स्व-निर्मित परम्परा, और उसका आदर्श कोई पूर्व निश्चित मान नहीं, वरन् उसका अपने प्रयोगों के माध्यम और प्रक्रिया से प्राप्त स्वनिर्मित आदर्श। वह भाषाभिव्यक्ति के क्षेत्र में भी, समूह-परम्परा से विकसित भाषा-शक्तियों पर निर्भर न रहकर, अपने लिए शब्दों और वाक्यों के नये संयोजन, वियोजन और विन्यासों द्वारा, नयी भंगिमाओं, अवधारणाओं और विच्छित्तियों को जन्म देना चाहता तथा एक सीमा तक, अपने लिये नयी भाषा और नयी अभिव्यक्ति भी चुनता-खोजता है। यहाँ शब्दों के लिये परम्परित अर्थों से आगे बढ़कर, उनमें अर्थ-विस्तार और नये अर्थ-आयामों की संभावनाएँ महत्वपूर्ण हो जाती हैं। वह शब्दार्थ की नयी लयें, शब्द-विधान के नये छन्द और

प्रतीकों के नये समूह को वरीयता देने लगता है। काव्य के नये रूप जन्म लेने लगते हैं और कविता अपने परम्परित अथवा परम्परा विकसित रूप को छोड़कर, सामान्य जन अथवा परम्पराभ्यस्त सहृदय के लिये, विलक्षण, विचित्र और बे-पहचानी भी लगने लगती है। हिन्दी की प्रयोगवादी एवं प्रयोगशीलता के भीतर आनेवाली रचनाओं के विषय में भी ऐसा ही अनुभव किया जाने लगे तो कदाचित् अस्वाभाविक अथवा अप्रत्याशित नहीं।

हर रचनाधर्मी उसी प्रकार प्रयोगशील होता है, जिस प्रकार एक अर्थ में परम्परा-विकास भी। प्रयोग और परम्परा, दोनों कविता के ऐसे अनिवार्य गुण हैं जिसमें इदमित्थम् कोई तात्त्विक विभाजन-रेखा नहीं खींची जा सकती, अतः रचना में ये दोनों शब्द अपनी मूल-चेतना में उतने परस्पर-विरोधी, विपरीतार्थक और विजातीय नहीं हैं जितने कि सापेक्ष और अपनी-अपनी अलग संज्ञा-सत्ता के लिए परस्पर पूरक अथवा परस्पराकांक्षी हैं। परम्परा से सर्वथा निर्गन्ध न प्रयोग हो सकता है और न प्रयोग हुआ है और परम्परा किसी न किसी रूप-मात्रा में हर प्रयोग से सम्बद्ध एक विशिष्ट युग अथवा प्रवृत्ति की कविता को 'प्रयोगवाद' की संज्ञा दी गई तो इसे एक विशिष्टार्थक अथवा पारिभाषिक शब्द मानकर ही चलना होगा और उसकी कुछ ऐसी विशेषताएँ भी माननी ही होंगी जो उसे पूर्ववर्ती एवं सहवर्ती प्रवृत्तियों से भिन्न और विशिष्ट बनाती हैं। छायावाद के पश्चात् प्रयोगवाद की काव्य धारा, निश्चित रूप से एक ऐसी धारा थी जो प्रगतिवाद के समान्तर या सम्बद्धरूप से अपना विकास करती रही। इसीसे उसे नवीन और साहसपूर्ण काव्य-प्रयोग की कविता कहा जाता है।[1]

सन् १९४३ में अज्ञेय के सम्पादन में सात कवियों की कविताओं का एक संकलन, घोषित भूमिका के साथ, 'तार-सप्तक' नाम से प्रकाशित हुआ। अज्ञेय की भूमिका, कवियों के निजी वक्तव्यों में 'प्रयोग' शब्द बारम्बार आया। रचनाओं में वस्तु-पक्ष और शिल्प-रूप की विचित्र नवीनता थी। इस आधार पर ( प्रयोग पर अधिकाधिक बल देने के कारण ) इसे समीक्षकों ने 'प्रयोगवाद' घोषित कर दिया। छायावाद के समान मात्रा में विरोधी होने के कारण, नवीनता के आग्रही इन कवियों में प्रगतिवादी भी सम्मिलित हो

१. 'प्रयोगवाद और नयी कविता', डॉ० शम्भुनाथ सिंह, समकालीन प्रकाशन, १९६६, पृ० १२।

गए। साम्यवादी और क्रान्तिकारी तत्त्वों की प्रधानता ने, प्रगतिवादियों को भी, उनकी नीति के अनुसार प्रयोगशीलों के साथ जुड़ने को उत्साहित किया। एक प्रकार से साम्यवादी भी कविता के कथ्य-रूप के साथ, परम्परा से अलग-हटकर ही, नया प्रयोग कर रहे थे। परम्परा से अलग हटने की नवीनता के उद्देश्य ने दोनों को एक मंच पर खड़ा कर दिया। सत्य यह है कि व्यष्टि और समष्टि के प्रति आस्था की दृष्टि से दोनों परस्पर भिन्न थे। परम्परा एक विकसमान प्रवाह है और परम्परा को रूढ़ि बन जाने से रोकने तथा उसे युगानुरूप संजीवित रखने के लिए ही प्रयोग की सार्थकता होती है। परम्परा और प्रयोग सापेक्ष हैं। एक प्रकार से प्रयोग परम्परा के संजीवन और सार्थकता के लिए साधन है। इस सत्य को भुलाकर, परम्परा के प्रति अंधमोह, रूढ़ि और प्रयोग के प्रति अत्याग्रह वैयक्तिक व्यामोह बन जाते हैं। दोनों में संकीर्णता के स्थान पर व्यापकता, युगावश्यकता और विकसित जीवन के साथ सन्तुलन की खोज ही उपादेय मानी जायगी। जब प्रयोग बासीपन, छिछलेपन, रूढ़ि-पोषण और संकीर्णता के विरुद्ध सार्थकता, जीवन-गाम्भीर्य और टटकेपन के लिए उपयोजित होता है तो वह जीवनाधायक और वरणीय होता है, जब वह वैयक्तिक आग्रहों और अकल्याणकारी आत्म-पार्थक्य के लिए उद्दिष्ट बनाया जाता है, तब वह त्याज्य और सतर्कता की वस्तु बन जाता है। प्रयोग के साथ 'उद्दिष्ट' और 'उद्देश्य' का यह अन्तर आवश्यक होता है। निरुद्देश्य प्रयोग साहित्य के लिए 'प्रयोग के लिए प्रयोग' बनकर रह जाता है और उससे अवांछित असाधारणता या अप्रकृतिस्थता की ही वृद्धि संभव है।

कहने की आवश्यकता नहीं है कि सोद्देश्य प्रयोग साहित्य का जीवन होता है जो उसे जड़ता, एकरसता और निर्जीवता से बचाकर जीवन और परिवर्त्यमान परिवेश से परियोजित और संतुलित करता चलता है। इस दृष्टि से प्रयोग भी एक प्रकार का स्वच्छन्दतावाद ही है जो रीति-बद्धता के विरुद्ध साहित्य को गतिमान और जीवन-स्वारस्य से योजित करता रहता है। परिनिष्ठित या रीत्यनुसारी काव्य इस दृष्टि से प्रत्यक्षत धनात्मक (पाजिटिव) तथा प्रयोगवाद ऋणात्मक और विद्रोहात्मक होता है, किन्तु ऐसा नहीं है कि यदि वह साहित्य है तो उसमें रचनात्मकता या विधेयात्मकता न होगी। विधेयात्मकता और निषेधात्मकता के तत्त्व एक साथ गतिमान होते हैं, अन्तर केवल मात्रा या प्राधान्य और गौणता का होता है। स्वस्थ प्रयोग और परम्परा में निर्माण की आकांक्षा समान लक्ष्य-रूप में वर्तमान

होती है, अन्तर केवल बाह्यरूप एवं पद्धति में होता है। जीवन-साफल्य, लोक-कल्याण और जीवन्तता दोनों का अन्तिम ध्येय होता है। प्रयोग में ये अधिकत: ध्येयरूप में होती हैं और परिनिष्ठित या परम्परानुसारी साहित्य में ये लक्ष्यरूप में होती हैं। प्रयोग के पीछे जीवन के परिवर्तित मूल्यों के साथ मानव-हृदय की वह आकांक्षा भी अंतर्निहित होती है जो उसे बन्धनों से स्वतंत्रता और नवीनता की ओर स्वभावत: भी प्रेरित करती है। जिस प्रकार सामाजिक परिस्थितियों में परिवर्तन होता रहता है, उसी प्रकार मानव-मन और हृदय भी नूतनता का नित्य शृंगार करने की वृत्ति से सम्बद्ध होता है। समाज के लोगों में ही कुछ ऐसे होते हैं जो पुराचीनता के प्रेमी होते हैं, कुछ पुराचीन को ही नवीनता से भरकर तुष्ट हो जाते हैं और कुछ पुराचीन को एकदम अस्वीकार कर नवीन का वरण करते हैं। मानव-मन भी न्यूनाधिक मात्रा में (एक ही मानव का व्यष्टि मन भी और मानव-समष्टि के भीतर भिन्न-भिन्न जनों के मन सापेक्ष रूप से) प्राचीन, प्राचीन के नवीनीकरण और सर्वथा नवीन के वरण में समय-समय पर रुचि-परिवर्तन की ओर झुकता रहता है। मानव-समाज के विकास में एक समय के बाद नवीन, प्राचीन बनकर अग्रतर नवीन के लिए मार्ग प्रशस्त करता चलता है। नवीनता बासी स्थूलता के विरुद्ध आश्चर्य की भी सृष्टि करती है जिसे कुछ विद्वानों ने महान् साहित्य का मूल अथवा प्रमुख लक्षण भी घोषित किया है,[1] क्योंकि उनके अनुसार आश्चर्य का तत्त्व तभी उत्पन्न होता है जब पाठक को नवीनता के प्रति उत्सुकता, साहित्य के गम्भीर और व्यापक चित्रों की उपयोगिता तथा रचनात्मक प्रतिभा के परिस्फुरण का विश्वास पैदा हो जाता है।

प्राचीन और नवीन के इस द्वन्द्व को चाहे समाजशास्त्रीय इतिहास-दर्शन की दृष्टि से मूल्य-परिवर्तन के कारण संभव माना जाय अथवा इसे मानव स्वभाव की विशेषता और परिवर्तन से प्रेम करने की मूल प्रवृत्ति से जोड़ा जाय, ये रुचि-परिवर्तन होते अवश्य हैं। क्या अंग्रेजी या विदेशी साहित्य का इतिहास रहा हो और क्या हिन्दी-साहित्य का इतिहास, यह वृत्ति-प्रवृत्ति सर्वत्र सिद्ध होती दिखलाई पड़ती है। यही, अपनी प्रक्रिया के विशिष्ट सोपानों पर, कभी नव-परम्परावादी बन जाती है और कभी नव-स्वैरवादी बनकर प्रकट होती है। 'द्विवेदी-युग' के विरुद्ध छायावाद

---

१. 'इंगलिश लिटरेचर एण्ड आइडियाज इन दि ट्वेन्टियथ सेन्चुरी : आर. बी. रूथ, पृ० २।

भी एक नवीन घोषणा-पत्र ही लेकर आया था। यह प्रयोग-तत्त्व छायावाद में भी था।[२] छायावाद की परिष्कृत सौन्दर्य-चेतना, विश्वात्मक दर्शन और रहस्यात्मकता भी, वस्तु के क्षेत्र में द्विवेदी-युग एवं रीतिकाल के विरुद्ध उसी प्रकार अभिनव प्रयोग थे जिस प्रकार उसकी लाक्षणिकता, चित्रात्मकता और प्रतीकात्मकता द्विवेदी-युग की अभिधा-प्रधान वर्णनात्मक शैली के विरुद्ध एक शैलीगत नवीन प्रयोग थी। सन् १९३० के पश्चात् स्वयं दिनकर, बच्चन, भगवतीचरण वर्मा और नरेन्द्र स्वच्छन्दता की भूमि पर ही, प्रसाद, निराला, पन्त और महादेवी वर्मा से कुछ विलग होकर काव्य-प्रयोग करने लगे थे। प्रगतिवाद कथ्य के क्षेत्र में मार्क्सवाद के सामाजिक यथार्थ के तथ्यों को लेकर और रूप-शिल्प के क्षेत्र में सरल-सीधी अभिधेय भाषा के आधार पर नये प्रयोग में ही जगा था। छायावादी 'पन्त' और उत्तर-छायावादी नरेन्द्र शर्मा ने 'रूपाभ' के माध्यम से छायावाद से असन्तोष प्रकट कर नव-प्रयोग का संकेत दिया। निराला की परवर्ती रचनाएँ, उनकी पिछली शुद्ध छायावादी रचनाओं की तुलना में प्रयोग ही थीं। यह अवश्य है कि इन कवियों ने प्रयोग को न इस प्रकार काव्य का जीवित घोषित किया था और न साहित्य में 'प्रयोगवाद' जैसा नाम ही उद्घोषित किया गया था।

छायावादोत्तर काल में अज्ञेय ने 'तार-सप्तक' का सप्त-कवि-संकलन प्रस्तुत कर, उसकी भूमिका में प्रयोग को सत्कवि का मूल धर्म और काव्य-साधना का मूल मर्म निश्चित किया। 'प्रयोग' पर अतिशय बल के कारण इस धारा का नाम और अभिज्ञान ही 'प्रयोगवाद' के रूप में प्रचारित हो गया। 'तार-सप्तक' में प्रगतिवाद और प्रयोगवाद, दोनों पक्षों के कवि एक मंच पर आये—एक का ध्येय सामाजिक यथार्थ था और दूसरे का ध्येय मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद; प्रथम समष्टिवादी, तो द्वितीय व्यष्टिवादी था। एक का आधार बाह्य समष्टि-परिवेश बना तो दूसरे का आश्रय व्यक्ति का भीतरी मन। इन दोनों पक्षों में जो सामान्य साम्य था वह था उनका छायावादी कविता के कथ्य और शिल्प दोनों से विद्रोह। 'तार-सप्तक' के एक कवि प्रभाकर माचवे ने छायावाद के विषय-तत्त्व पर आघात करते हुए उसे 'आत्म-रति, मृत्यु-प्रेम और संकेतों से स्वप्न-पूर्ति' का काव्य कहकर, 'हिस्टीरिया' के मनोरोग से तुलित करते हुए कहा कि उसमें

---

२. 'आधुनिक साहित्य', नन्ददुलारे वाजपेयी, पृ० ३४।

मृगी-रोग की भाँति, कवि में 'स्मृतियों की प्रच्छन्न और अज्ञात पुनरावृत्ति तथा तज्जन्य अहेतुक ज्ञान' का प्राधान्य होता है जो 'तरुण स्वस्थमना कवि के लिए' केवल 'स्थविर, स्त्रैण और स्पेन्ट-अप' का प्रतीक था।'[1] स्थितिशील आलोचक इसे पाश्चात्य और विदेशी अनुकरण कह सकता था और प्रयोगशील समीक्षक इसे परिस्थितियों की माँग एवं साहित्य-मात्र के संजीवित विकास का सूत्र और हर नये कवि की अभिनवीकरण की ऐतिहासिक आवश्यकता की उत्तरदायिता कहकर अभिनंदित करे तो स्वाभाविक ही है।

प्रयोग का तत्त्व अस्वीकारा नहीं जा सकता, पर प्रयोग स्वयं में कवि का निरुद्देश्य धर्म और फैशन मानकर कवि का निरपेक्ष साध्य नहीं बन सकता। वह नवीनता की निरी इच्छा के रूप में भी ग्राह्य नहीं हो सकता और न प्रतिक्रिया, प्रतिशोध या निरे आत्म-स्थापन का अप्रत्यक्ष साधन बनकर भी वरेण्य नहीं कहा जा सकता। काव्य एक अनवरत प्रवाह और सम्बद्ध परम्परा के विकास का मार्ग है, जिसमें नवीनता आने पर भी सहसा उछाल या असम्बद्ध अन्तराल संभव या वांछित नहीं हो सकता, क्योंकि भाषा जो काव्य का अनिवार्य माध्यम है, वह स्वयं सहितता में विकसित एक अनवरत विकसमान धारा है। नवीनीकरण एक सापेक्ष धारणा है। एक समूह और एक काल-विस्तार में ही नहीं, एक ही कवि और उसके जीवन-काल में भी गतिशील रहकर ( परिवर्तित होती रहकर ) भी एक विकसमान प्रक्रिया और परिवेश-परिवर्तन की गति के साथ एक आनुपातिक मात्रा में ही वांछनीय और उपभोज्य हो सकती है। 'अज्ञेय' के 'राहों के अन्वेषण' के नारे का भी सत्यांश इतना ही है। अन्वेषित के प्रति कवि के वांछनीय अ-मोह का अर्थ भी यही है कि कवि पुनरावृत्तिशील और रीति-जड़ न हो जाय। उद्दामता का अर्थ उच्छृंखलता नहीं हो सकता। नये शिल्प- विन्यास की यही वांछनीयता है कि ऐसा नवीन लिया जाय जो नवीन अनुभूत तत्त्व को पूर्ण समर्थता के साथ यथावत् अभिव्यक्ति दे सके, क्योंकि परम्परा-प्रचलित शिल्प उस नवीन को व्यक्त करने में सचमुच असमर्थ सिद्ध हो जाता है जिसे सच्चे अनुभूतिशील कवि की आत्मा स्वीकार नहीं कर सकती। प्रयोगशील तो अंग्रेजी का महाकवि टी० एस० इलियट भी रहा और एजरा पाउण्ड एवं कमिंग्ज भी थे। उनमें सत् और असत् के विभाजन का निकष यही हो सकता है कि एक के नवीन

---

१. 'तार-सप्तक', प्र० भ० का वक्तव्य, पठनीय।

प्रयोगों के पीछे अनुभूति की सन्निष्ठ व्याकुलता थी और इतर की नवीन-प्रयोगशीलता के पीछे नवीनता और सबसे अलग दिखलाई पड़ने का आग्रह प्रधान था। प्रयोग आग्रह नहीं, आवश्यकता एवं स्वैरिता अथवा क्लिष्ट-साध्यता नहीं, वरन् एक आन्तरिक और अनन्य साधन की विवशता होता है। यही अनिवार्य अनन्यता प्रयोग की प्रयोजनीयता और सार्थकता बनकर निकष का स्वरूप और मानदण्ड का आधार बन जाती है।

छायावाद में बासीपन, रीति-मोह, पुनरावृत्ति और अतिशयता आ गई थी और नवीनता एवं प्रयोग के तत्त्व शिथिल और फैशनी हो चले थे। जिस अंश में छायावाद इन रोगों से ग्रस्त था, नव-प्रयोग उसकी औषधि और संजीवनी था। जहाँ यह प्रयोगावेग स्वयं मोह, अतिरेक, असन्तुलन और रीति का अनुकरणात्मक पक्ष बनकर प्रकट हुआ, वह प्रयोगवाद की दुर्बलता और स्वयं की रुग्णता थी। नयी अनुभूति, नयी अभिव्यक्ति माँगती है। तत्त्व और तत्त्व की अभिव्यंजना में अविभाज्य सम्बन्ध होता है, किन्तु वह सर्वथा अविवेच्य अथवा अविश्लेष्य नहीं हो सकता, अनुभूतिगम्यता से सर्वथा परे तो वह हो ही नहीं सकता। उसे समझा-समझाया जा सकता है। 'कैसे' की अपेक्षा 'क्या' और 'क्यों' का प्रश्न प्राथमिक और अधिक महत्वपूर्ण है। कवि का अपने, अपनी अनुभूति और अनुभावकों के प्रति एक महत्वपूर्ण उत्तरदायित्व होता है, जिसका सम्यक् और सही बोध ही प्रयोगशीलता के असली-नकली होने की कसौटी है। अज्ञेय ने 'तार सप्तक' की भूमिका में अज्ञेय और अस्पृष्ट के स्पर्श और उनसे उत्पन्न उलझी संवेदनाओं की सर्जना को, उल्टी, सीधी, टेढ़ी, तिरछी, अधूरे वाक्यों-रेखाओं के माध्यम से व्यक्त करने के प्रयास का कार्य कहा है। वे शोध और जटिलता की जटिल अभिव्यक्ति को कवि का कर्म मानते हैं, इस जटिलता से उद्भूत संवेदनाओं की जटिलता में अन्वेषित सुलझे सत्य के प्रकाशन को कवि-कर्म का वैशिष्ट्य नहीं घोषित करते। इस प्रयोग में गृहीत नये माध्यम नये होने के नाते महत्त्वपूर्ण नहीं हो सकते; महत्त्वपूर्ण होने के लिए उन्हें सोद्देश्य और सहेतुक या प्रयोजनीय होना पड़ेगा। दूसरे शब्दों में, प्रयोग साधन है स्वयं साध्य नहीं। यदि प्रयोग का कोई साध्य रूप भी है तो वह राहों का अन्वेषण नहीं, वरन् गन्तव्य का अन्वेषण होगा; माध्यमों की खोज नहीं, वरन् माध्यमों से सत्य की खोज होगी, जिसे उलझे को उलझे रूप में नहीं, वरन् उलझे को सुलझे रूप में व्यंजित करना होगा। वह उलझा हुआ सुलझाव ही होगा, सुलझा हुआ उलझाव नहीं। प्रयोगवाद के नाम पर जो भी श्रेष्ठ है वह उलझा हुआ सुलझाव के रूप में, और जो अ-श्रेष्ठ है वह

सुलझे हुए उलझाव के रूप में आया है, जहाँ या तो सुलझाने के प्रयास में उलझाव और अधिक उलझ गया है अथवा पहले से ही सुलझा हुआ सत्य भी और अधिक जटिल बन गया। अज्ञेय आगे चलकर स्वयं प्रयोग को 'वाद' बनाने का द्राविड़ प्राणायाम करते हैं, जब वे यह कहने लगते हैं कि प्रयोग के माध्यम से स्वयं कवि भी नये सत्य तक पहुँचता है और फिर उसे पाठक तक सम्प्रेषित करने में सहायक भी बनाता है। प्रयोग रचना-प्रक्रिया की वस्तु है, सत्यानुभूति की नहीं। रचना-प्रक्रिया तो सत्य की अनुभूति के बाद ही आती है और वह सत्य-सम्प्रेषण का ही साधन है, स्वय में इष्ट या साध्य नहीं। सत्य-प्राप्ति के पूर्व प्रयोग वैज्ञानिक करेगा, कवि तो सत्य-प्राप्ति के बाद ही भाषा-प्रयोग की ओर मुड़ेगा।

संभव है, अज्ञेय यहाँ इस तथ्य की ओर संकेत करना चाहते हों कि कवि अपने मन में भाषा के माध्यम से अनुभूति को सुस्पष्ट या साकार बनाकर ही उसका पूर्ण साक्षात्कार करता है, अथवा यह कि भाषा केवल दूसरों के निमित्त अभिव्यक्ति का माध्यम ही नहीं है, वरन् उसके माध्यम से ही हमारी अरूप अनुभूतियाँ सरूप होती हैं जिसे क्रोचे संवेदन की अभिव्यंजना या अभिव्यंजित संवेदना का नाम देता है। पर भाषा-विज्ञान के इस सिद्धान्त को काव्य-कला की उस अभिव्यंजना-क्रिया से जोड़ना उतना सही न होगा, जितना संवेदन के अनभिव्यंजित सोपान अथवा अरूप सवेदना से जोड़ना—जो व्यक्ति के 'सहज ज्ञान' की सहज आन्तर क्रिया है, जिसे क्रोचे की भाषा में मनः अभिव्यक्त होते ही 'कला' कह देंगे। हमारी कला अथवा सामान्य सहृदय की कला संवेदना की मानसिक अभिव्यक्ति नहीं, वरन् भाषिक बहिरभिव्यक्ति होती है जिसे क्रोचे 'कला-कृति' अथवा अभिव्यक्ति की अनुकृति कहकर नगण्य बना देता है। प्रयोग को साधन और माध्यम से उठाकर एक दर्शन बना देने का यह प्रयास ही, कदाचित् प्रयोगशीलता को प्रयोगवाद बनाने में सहायक और प्रेरक बना है। अज्ञेय ने प्रयोग को कवि का शाश्वत धर्म और उसका सम्बन्ध कवि के अन्तर्मन और वैयक्तिक गूढ़ मानसिकता से माना है जो कदचित् सदैव उलझी होती है। यहीं उनका यह व्यक्तिवाद भी प्रमाणित हो जाता है जो परिवेश और समकालीनता से अधिक महत्वपूर्ण और स्वयं अपने में एक उद्देश्य और साध्य बन जाता है। उनकी सत्याभिव्यक्ति वैयक्तिक उलझाव की उलझी अभिव्यक्ति का पर्याय बन जाती है और वे एक उलझाववादी प्रतीत होने लगते हैं—जगत् और उसकी संवेदनाएँ स्वभावतः उलझी हैं, उलझी रहेंगी और कवि कदाचित् इतना ही कह सकता है कि वह इस मानसिक

एवं जागतिक उलझाव को, उसके उलझे रूप में ही बाहर फेंक दे। इससे अधिक और कुछ नहीं। फिलिप टॉयनबी प्रयोग का सम्बन्ध 'वर्तमान स्थिति' से जोड़ता है जिसे कवि प्रयोग के माध्यम से व्यक्त करता है और जिससे उसका सम्बन्ध विच्छेद चाहकर भी संभव नहीं है।[1] अज्ञेय अपने वर्तमान के प्रति नहीं, अपनी साम्प्रतिक मानसिकता के उलझाव के प्रति दायित्व-शील और आत्माभिव्यक्ति से प्रतिबद्ध हैं।

'तार-सप्तक' की भूमिका में वे अनेकत्र 'व्यक्ति की अनुभूति' के समष्टि तक सम्प्रेषण के प्रश्न को ही महत्वपूर्ण एवं ललकारती चुनौती मान लेते हैं, अनुभूत के वैशिष्ट्य या महत्त्वपूर्णता को नहीं। वे व्यष्टि-व्यष्टि के बीच पार्थक्य को अधिक बल देते हैं, सामान्य मिलन-बिन्दु या सापेक्ष साम्य को नहीं। 'दूसरा सप्तक' में वे सत्य के महत्व को अवश्य स्वीकार करते हैं। शायद 'तार-सप्तक' काल में वे कुछ लोगों को नवीनता के नाम पर अलग-अलग भिड़ा देने को प्राथमिक आवश्यकता समझते थे। 'दूसरा सप्तक' तक जब कुछ भिड़ गए तो फिर अपने आदर्श कवि और दूसरों के बीच श्रेणी-करण की आवश्यकता अनुभूत हुई होगी, और तभी सत्य के महत्त्व का प्रश्न उठाया गया होगा। प्रथम बार अज्ञेय एक साहित्य-नेता के स्वर में अनुगामी बटोरते हैं और द्वितीय बार वे कवि की भूमिका में खड़े हो जाते हैं। उनपर आधुनिक मनोविश्लेषण शास्त्र का प्रभाव है तथा वे मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद से भी पूर्णतः अवगत हैं, प्रभावित भले न हों। विज्ञान ने मानव के समक्ष धर्म और प्रकृति के संभ्रम को कम किया है, पर उसने यंत्र-सभ्यता, लोकतन्त्र और शोषण को भी जन्म दिया है। मानव कुछ से मुक्त हुआ तो कुछ नये बन्धनों में फँस भी गया। एक यांत्रिकता भी उसे घेर रही है और सामाजिक सम्बन्धों की जटिलता, द्विविधा, शंका, विसंगति, निराशा, मानवीय-मूल्यों के ह्रास, उदासीनता, व्यर्थता और अनमेलपन के प्रश्न भी खड़े हुए हैं। एक ओर मानवीय शक्ति-संभावना तो दूसरी ओर मानवीय मान-मूल्य गिरे, नयी स्वतंत्रताओं और परवशताओं ने भी जन्म लिया है। अज्ञेय की प्रेरणा से नये यथार्थों और वास्तविकताओं के साक्षात्कार का साहस और साहित्य में उनकी अभिव्यक्ति का द्वार खुला, समाधान भले न उजागर हुए हों, मानव-व्यक्ति की जटिलताओं को व्यक्त करने के लिए छायावादी-प्रगतिवादी कथ्य-शिल्प से अलग नये कथ्य-शिल्प

---

१. फिलिप टॉयनबी, 'प्रयोग और उपन्यास का भविष्य', लन्दन मैगजीन, मई, १९५६।

अपनाए गए। सामाजिक-व्यवस्था के प्रति जगी वैयक्तिकता, वर्ग-संघर्ष और यथार्थ के प्रति चेतना तीव्रतर हुई। अज्ञेय सर्व-सम्मत साहित्य-नेता भले ही न स्वीकृत हुए हों, पर अनेक विरोधों और असहमतियों के साथ, वे नये साहित्य के पुरोधा अवश्य रहे। व्यवस्था के प्रति अनास्था, मूर्ति-भंजकता और आंतरिक एवं बाह्य द्वन्द्वों की तिक्तता काव्य में अभिव्यंजनीय बनी। पुराने और नये का संघर्ष अपने संक्रमण काल में सन् १९५० तक चलता रहा। कथ्य और शिल्प के स्तर पर नये प्रयोगों के प्रयास हुए। पलायन, घुटन, असन्तोष, बिखराव, अराजकता, निराशा और नये की कामना का एक मिश्रित रूप साहित्य और काव्य में झटके के साथ आने लगा। नये रागों और बोधों की झलकियाँ पल्लवित होने लगीं। परिवर्तन की माँग उभरकर सामने आ गयी और अब व्यवस्था सहमति का आदर्श न रह सकी।

## नयी कविता

सच तो यह है कि प्रयोग की यह प्रवृत्ति अब इतनी प्रमुख हो चली है कि वह सन् १९४० से चलकर १९५० में समाप्त नहीं हुई, वरन् अद्यतन कविताएँ भी उसी प्रवृत्ति का विकास और विस्तार हैं। सन् १९५० के बाद के प्रयोगियों ने अपनी धारा का नाम 'नयी-कविता' रखना अधिक उपयुक्त समझा, क्योंकि 'प्रयोग' के साथ 'वाद' जुड़ जाने से उससे मात्रा शैली-परक होने का भ्रम उत्पन्न होता था। इनमें से कई प्रमुख कवि प्रयोगवाद के 'सप्तकों' में आ चुके थे और अनेक जो 'सप्तक'-बद्ध नहीं हो सके थे वे उसके भीतर ही भीतर अभ्यर्थी रहे। अज्ञेय की अति-वैयक्तिकता और बार-बार राह के अन्वेषण की बात उन्हें इसलिए भी खटकती थी कि वे कुछ कथ्यों के प्रति सजग और प्रतिबद्ध थे, जबकि अज्ञेय की राह की अन्वेषणा मूलतः कथ्य के प्रति भी अन्वेषणशील थी। अज्ञेय की राह कथ्य और शिल्प दोनों की ही खोज की राह थी। ये कवि कथ्य के प्रति निश्चित थे और उसे अपने चिन्तन और परिवेश के पर्यवेक्षण से कुछ निष्कर्षों पर पहुँच चुके थे। अज्ञेय-वादी लोग सत्य को मनोविश्लेषण की वस्तु और मन से उद्भूत होने वाली ऐसी चीज मानते थे जो अभी प्राप्त नहीं है और खोज-टोह में जाने कब और किस अन्तस्सोपान पर मिल जाय। अज्ञेय का सत्य अनिश्चित था और वह खण्डतः समय की लम्बी अवधि में (अन्तर्मथन से प्राप्य) उपलभ्य है जिसे आरम्भ में कवि भी नहीं जानता; और जो आगे खोज की राह और शायद रचना-प्रयोग की प्रक्रिया में प्राप्त होने वाला पदार्थ है। मन के भीतरी

स्तरों की इस खोज में मिलने वाली यह सत्य-वस्तु, कदाचित् इसी से बढ़िया, घटिया, सामाजिक, असामाजिक, ऊर्ध्व, अधः, अन्तः, बाह्य, छोटी या बड़ी-जैसे विशेषण वहाँ महत्त्वपूर्ण नहीं, महत्त्वपूर्ण तो कदाचित् व्यष्टि से समष्टि तक उनके सम्प्रेषण की समस्या थी।[1] अज्ञेय के सत्य का मूल सम्बन्ध उनके ( या कवि के ) मूल मन और व्यक्तित्व से रहा है, समष्टि या बहिःपरिवेश से नहीं। महत्त्वपूर्ण, व्यक्ति का अन्तरानुभूत सत्य है जो समष्टि तक जाकर उसे महत्त्वपूर्ण बनाता है, अर्थात् अज्ञेय का सत्य एकपक्षीय एवं वैयक्तिक है जिसकी एक मात्र नियति है व्यष्टि से समष्टि तक जाकर सम्प्रेषित होना। वे सत्य को, व्यष्टि द्वारा समष्टि से प्राप्य पदार्थ, शायद नहीं मानते, कवि-कर्म उनके यहाँ पर-संप्रेषण है, पर से प्राप्य अनुभूति और उसके संप्रेषण की समस्या उनके सामने नहीं रही।

'नयी कविता' का कवि छायावाद से ऊबा था, किन्तु मानव, मानवीयता और मानव-समाज से नहीं। वह सत्य की व्यक्ति-प्राप्यता इसी अर्थ में मानने वाला था कि प्रापक व्यक्ति ( कवि-व्यक्ति ) होता है, पर प्राप्य का स्थल केवल कवि का अन्तर्मन ही नहीं, बाह्य परिवेश और मानव-समष्टि भी होते हैं। दूसरे शब्दों में अज्ञेय के प्रयोगवाद में केवल कवि सम्प्रेषक है, इसीलिए वे 'आत्माभिव्यक्ति' को ही कविता का मूल साध्य मानते हैं। 'नये कवि' के लिए कवि-दृष्टि, समाज की ओर से अंध या अपारदर्शी ( ओपेक ) नहीं, वरन् पारदर्शी ( ट्रांसपेरेन्ट ) होती है जिसका एक छोर यदि उसके मनःपटल और मनस्तत्त्व से सम्बद्ध है तो दूसरा छोर बाह्य परिवेश और मानवता से भी जुड़ा है। अज्ञेय व्यक्तिवादी हैं और न कहते हुए भी, प्रकारान्तर से उनके यहाँ व्यक्ति सामान्य जन की अपेक्षा महापुरुष या असाधारण पुरुष की भूमिका पर प्रतिष्ठापित हो जाता है। 'नया कवि' महापुरुषवाद का विरोधी और 'लघु-मानव' के सिद्धान्त को मानने वाला रहा है। वह कवि-रूप में अन्यों से विशिष्ट होता हुआ भी, अपने को उन्हीं 'लघु मानवों' में से एक मानता है। व्यक्तिवाद, अप्रत्यक्ष रूप से महापुरुषवाद के लिए भी सुविधाजनक बन जाता है, किन्तु 'लघु-मानव'—वाद में इसकी संभावना नहीं। वहाँ कवि भी उन्हीं लघु-मानवों की नियति जीता और भोगता है और उनकी भुक्तियों को महत्त्वपूर्ण मानकर व्यक्त करता है। इस लघु-मानव की परिकल्पना में उसका अपना

---

१. 'तार-सप्तक' की भूमिका संदर्भित।

लघु-मानव भी सम्मिलित और सह-भुक्त होता रहता है। इसीलिए 'नयी कविता' के कवि के लिए अन्य लघु-मानव और उनका समाज केवल सम्प्रेषिता और ग्रहीता न होकर, सम्प्रेषक और ग्रहण कराने वाला भी होता है। धर्मवीर भारती, लक्ष्मीकान्त वर्मा, श्रीराम वर्मा और विजय-नारायण देव साही, जैसे 'नये कवियों' के लिए डॉ० लोहिया का व्यक्तित्व और उनका राजनीतिक दर्शन भी कदाचित् इसीलिए आकर्षण का विषय बना कि उसमें लघु-मानव और सामान्य पीड़ित जन के लिए पर्याप्त स्थान था। डॉ० लोहिया भारतीय समाजवादी थे, उनपर भारतीय दार्शनिकता की भी छाप थी और उनके राजनीतिक चिन्तन का केन्द्र, कोई विदेश से आयातित और वहाँ की परिस्थितियों में निर्मित उधार का मतवाद नहीं था, जिसे वे साम्यवादियों की भाँति, राम-बाण समझकर ज्यों का त्यों भारतीय जनता और उनकी समस्याओं पर उढ़ा देना चाहते थे। उन्होंने मार्क्सवाद की मूल आर्थिक महत्ता और वर्ग-विश्लेषण का प्रभाव तो ग्रहण किया था, पर वे उसे उसके 'शरीर' में नहीं, उसकी आत्मा में ग्रहण करते थे। उन्होंने मार्क्सीय दृष्टि से भारतीय परिस्थितियों का अध्ययन और मनन किया था और उसे भारतीय संदर्भ में समझने और विश्लेषित करने का प्रयास किया था। भारतीय मध्य-वर्गीय जीवन की समस्याओं के वे अन्तर्द्रष्टा थे जहाँ नाना लघुमानवों का समाज अपनी नियति से जूझ रहा था। 'नयी-कविता' का यह 'लघु मानव' मार्क्स के तथाकथित 'सर्वहारा' से अधिक मध्यवर्ग का सामान्य जन था, जो मार्क्स-दर्शन के मतवादी व्याख्या के अतिरेक में सर्वथा उपेक्षित हो रहा था। 'नया कवि' इसी लघु-मानव का उद्गाता और पक्षधर रहा। 'नया कवि' साम्यवाद और उसके साहित्यिक संस्करण प्रगतिवाद के 'सर्वहारा-अधिनायकवाद' के राजनीतिक तत्त्व से असहमत था। वह लघु-मानव के व्यक्तित्व और स्वातंत्र्य का समर्थक होने से, लोकतांत्रिकता का विश्वासी भी रहा। उसने सर्वहारा के स्थान पर लघु-मानव को प्रतिष्ठित कर एक ओर साम्यवाद से अपनी अस्वीकृति व्यक्त की तो दूसरी ओर सह-नियति और समान पीड़ा-भुक्ति को स्वीकार कर अज्ञेय के एकपक्षीय 'व्यक्तिवाद' को भी अनंगीकृत कर दिया। इस तरह 'नयी कविता' में व्यक्तिवाद और साम्यवाद, दोनों के अतिरेकों का परिहार हुआ। प्रयोगवाद का सत्य भी अनजाना और अन्वेष्य था, अतः वह कथ्य और अभिव्यक्ति, दोनों के ही प्रति अनिश्चित और अन्ततः आत्माभिव्यक्तिवादी और मात्रा सम्प्रेषण की समस्या से जूझने के नाम पर एक प्रकार से, अभिव्यंजनावादी बन गया।

क्रोचे ने संवेदन को मानसी अभिव्यंजना पर लाकर छोड़ दिया था, अज्ञेय का प्रयोगवाद, कुछ और आगे बढ़कर उसे पर-सम्प्रेषण के धरातल पर खड़ा कर देता है; पर प्रयोगवाद इस दृष्टि से 'अभिव्यंजनावाद' से आगे नहीं था कि वह अभिव्यंजना को कवि-मानस से आगे लाकर प्रमाता के सम्प्रेष्य-स्तर पर अधिष्ठित कर देता है। अभिव्यंजना, मानसी अथवा भौतिक या भाषिक, दोनों का ही लक्ष्य था। अभिव्यंजनावाद में अमूर्त संवेदन मानस-मूर्त होकर ही पूर्ण, सार्थक और साध्य बन जाता है, प्रयोगवाद में कवि के अन्तर्मन का अमूर्त सत्य भौतिक-भाषिक अभिव्यंजना में मूर्त होकर कृतकृत्यता प्राप्त कर लेता है। प्रयोगवाद के लिए 'अपनी कह पाना' अधिक महत्त्वपूर्ण और तोषकारी है, दूसरों द्वारा उसका समझ पाना उतना चिन्तनीय नहीं है। प्रयोगवादी कवि कहकर तुष्ट हुआ और अपने सम्प्रेष्य को तद्वत् कहकर जैसा कि उसने अनुभव किया था, और अधिक तुष्ट होता था। प्रयोगवादी के लिए सम्प्रेषण की समस्या इसलिए जटिल थी कि वह उसे जटिलता में ही प्राप्त करता था और कदाचित् वह समझता था कि जब यह मेरे ही लिए इतनी जटिल है तो पाठक के लिए कितनी जटिल होगी। जटिलता को वह अपनी अनुभूति का अनिवार्य और नियतिमूलक विशेषण मान चुका था। फिर जटिलता का सुलझाव उसके लिए या तो अपने साथ बे-ईमान होना था या अनुभूति के सत्य को विकृत या कृत्रिम बनाना था।

'नया कवि' अनुभूति और संवेदन की जटिलता को तो स्वीकार कर सकता था, पर उसे संवेदन-मात्र का परम विशेषण नहीं मानता था। उसके लिए जटिलता अनुभूति में नहीं, वरन् परिवेश की अन्तर्बाह्य परिस्थितियों में है जिससे सत्य को पकड़ना और उद्घाटित करना पड़ता है। अज्ञेय और प्रयोगवाद का 'भोगा–झेला' उनके निजी व्यक्ति का भोगा-झेला था और व्यक्ति द्वारा उसका भोगा-झेला जाना ही महत्तम सार्थकता थी। 'नये-कवि' के भोगे-झेले सत्य का अर्थ था कि स्वयं कवि भी, असंख्य मानवों की भाँति, सहभागी बनकर उसे झेल रहा है; यह उसकी नितान्त निजी भुक्ति नहीं, वरन् असंख्य लघुमानवों की भी भुक्ति है। यह सहभागिता 'नयी कविता' की वह आस्था है जो उसे अज्ञेय के घोर व्यक्तिवाद और वैयक्तिक रोमान एवं नव रहस्यवाद ( अज्ञेय की परवर्ती प्रवृत्ति ) से विलगकर, एक नए यथार्थवाद से जोड़ देती है। यही कारण है कि अज्ञेय व्यक्तिवादी, अन्तर्मुखी और रोमानी रहे हैं, जबकि 'नया कवि' उनकी तुलना में सहवादी, समाजवादी, बहिश्चेता और यथार्थवादी रहा है। प्रयोगवाद व्यक्ति-स्वातंत्र्य

को आत्म-भोग और अन्तर्भोग के लिए चाहता है और 'नया कवि' व्यक्ति-स्वातंत्र्य को सह-जीवन और समाज के नए व्यवस्थापन के लिए आवश्यक समझता है। अज्ञेय-परक प्रयोगवाद का लक्ष्य व्यक्ति है, जब कि 'नई कविता' के कवि का लक्ष्य सामान्य और अधिसंख्यक लघुमानव है। प्रयोगवाद में पाठक को कवि की आन्तरिक तृप्ति-अतृप्ति की डकार का प्रसाद मिलता है, जब कि 'नई कविता' में उन नाना लघु-मानवों की पीड़ा की झंकार मिलती है जिसे कवि अन्यों के साथ झेल-भोग रहा है। प्रयोगवाद छायावाद की प्रतिक्रिया से जन्मा, पर 'नयी कविता' प्रयोगवाद के गर्भ से जन्मी और उसके असंतुलनों और अतिरेकों से मुक्त होने का प्रयास उसे शक्ति देता है।

कुछ विद्वान् प्रयोगवाद को प्रगतिवाद की प्रतिक्रिया न मानकर सीधे छायावाद की ही पूर्ण प्रतिक्रिया मानते हैं।[1] उनके अनुसार, प्रगतिवाद, प्रयोगवाद और व्यक्तिगत रोमानी कविता ( बच्चन, भगवतीचरण, अंचल, नरेन्द्र शर्मा आदि ) तीनों छायावाद की प्रतिक्रिया में एक साथ आईं, पर प्रयोगवाद में वह प्रतिक्रिया पूर्ण रूप में व्यक्त हुई। ऐसा वे शायद इस ऐतिहासिक संयोग के कारण मानते होंगे कि प्रयोगवाद में आरम्भतः प्रगतिवादी कवि भी 'सप्तकायित' हुए थे पर वे संयोग-घटिति से आगे न जाकर इस सत्य को भुला देते हैं कि प्रयोगवाद में यदि प्रगतिवाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया न होती तो आगे चलकर यह गठ-बंधन टूट न जाता और प्रगतिवाद की सामष्टिक समरूपता और एकान्त सामान्यता के विरुद्ध, प्रयोगवाद में वैयक्तिकता का इतना आग्रह प्रधान न हुआ होता। छायावाद में रीतिकाल के साथ ही, द्विवेदी-युग की इतिवृत्तात्मकता के विरुद्ध भी प्रतिक्रिया थी; उसी प्रकार प्रयोगवाद में भी, छायावाद के साथ प्रगतिवाद के विरुद्ध भी प्रतिक्रिया अन्तर्निहित थी। छायावाद की तथा-कथित अतिशय भावुकता, काल्पनिक आदर्शवाद और अतीन्द्रियता के विरुद्ध प्रयोगवाद में जो तथोक्त प्रतिक्रिया हुई, उसमें स्वयं उसकी अति-वैयक्तिकता ने ही, अतिशय अन्तर्मुखीनता, सूक्ष्मतर मानसिकता और व्यक्तिवाद एवं अमूर्तन के अतिरेक के रूप में एक नयी भावुकता, काल्पनिकता और अतिशय ऐन्द्रिकता का वरण कर लिया। प्रतिक्रिया स्वस्थ साहित्य को जन्म देने में

---

१. डा० शम्भुनाथ सिंह, 'प्रयोगवाद और नयी कविता', पृ० ३८

असमर्थ होती है और उसमें वास्तविक एवं वांछित रचनात्मकता का भी अभाव होता है। पुराने को तोड़ने के आवेश में नव-रचना का लक्ष्य विस्मृत हो जाता है। इसीलिए प्रयोगवाद में गद्यात्मकता, वैचारिकता और अभिधात्मक उपदेश का प्राधान्य हो गया। अज्ञेय के अराजक क्रांतिवाद के प्रभाव ने उन्हें प्रतिमा-भंजक और विद्रोही बना दिया। प्रयोगवाद ने घेरा तोड़ा, पर उसकी उपलब्धियाँ उतनी महान नहीं, जितना घेरा तोड़ने का ऐतिहासिक कार्य। राह का अन्वेषण कुछ अर्थों में 'राह का परिभ्रमण' भी बनकर रह गया। प्रयोग ही कविता का निकष और विद्रोह ही उसका उपजीव्य बन गया। अनुभूति ही महान् बन गयी, महान् अनुभूति का प्रश्न गौण हो गया। प्रयोग की सोद्देश्यता भी खटाई में पड़ती रही। परम्परा-खण्डन सत्य का सम-स्थानीय, विचार रागात्मकता का पर्याय और नावीन्य ही सफल प्रयोग का समानार्थी समझा जाने लगा। काव्य में प्रयोग नूतन युग-बोध का प्रकाशक बनकर ही सार्थक हो सकता है। परम्परा-मात्र को स्थूल और निरर्थक अनुकरण कहकर रूढ़ि का पद दे दिया गया और उसके उस पक्ष को भुला दिया गया जहाँ वह दृष्टि को माँजने-सवारने का साधन बनती है। परम्परावादी होने और परम्परा की साधना में अन्तर होता है, एक में पूर्व-संस्कृति रूढ़ और पुनरावृत्त होती है जबकि दूसरे में वह जीवन-विकास और चेतना की परिष्कारक बनती है। परम्परा का आधुनिकीकरण और उसमें वर्तमान को ढूँढ़कर उसका नए सिरे से निर्माण, प्रयोगवादी नहीं कर सके। नये मूल्यों के अन्वेषण की दृष्टि से वे निराशा, घुटन, अनास्था आदि का यथार्थ तो दे सके, पर जीवनाधायक मूल्यों की ओर वे न जा सके। व्यक्ति का निर्बन्ध स्वातंत्र्य और अन्तर्मुखी भोग के साथ अनास्था ही मूल्यवत् उभरकर सामने आई। नैतिकता को वे आवरण तो कह गए, पर कोई समतुल्य नया मान न दे सके। उनके जीवन-मूल्य नकारात्मक और निषेध-परक ही बने रह गए। मुक्तिबोध जैसे कवि अकेलेपन की पीड़ा को अभिव्यक्ति को ही कविता का लक्ष्य और काव्य-गत मूल्य संकेतित कर सके। गिरिजाकुमार नर्म-कोमल-रोमान के रेशम-जाल में ही कविता को सार्थकता बता सके। डॉ० रामविलास शर्मा, माचवे और भारत भूषण मार्क्सवाद के सिद्धान्तों को ही मानव-मूल्य घोषित करते रहे। मुक्तिबोध भय और प्रेत-शंका की ग्रंथि से सदैव अभिभूत रहे। नेमिचन्द्र जैन भी 'प्रतीक' के माध्यम से भय, आशंका, हार और अविश्वास की वैयक्तिक भावना को ही सघन करते रहे।

'नई कविता' प्रयोगवाद की इस अनास्था, भयशीलता और दृष्टि-हीनता को धुरी-हीनता कहकर अपने भीतर और बाहर कुछ धुरियों का अस्तित्व मानती है। यह धुरी है मानव की आत्मा में अस्तित्व के प्रति आस्था, मानवता के अन्ततः विजयिनी होने का विश्वास। 'नई कविता' की यह आस्था मानव की नियति और लघु-मानव के अस्तित्त्व में निहित है। वह व्यवस्था के प्रति आस्थावान् नहीं, नई व्यवस्था के सन्धान और पुरानी व्यवस्था के मूल्य-हीन अंधेपन को खोलकर उसे 'अंधा-युग' घोषित करने में है। प्रयोगवाद की भाँति 'नयी कविता' मूल्यांध नहीं, मूल्यों की अंधता के प्रति असन्तुष्ट और आक्रोशशील है। प्रयोगवाद भारतभूषण अग्रवाल के शब्दों में छायावाद के प्रति अनास्थाशील, पर नए मूल्यों की खोज में आस्थाशील भले ही रहा हो[1] पर प्रगतिवादी प्रयोगिकों को मार्क्स-वादी दर्शन के बौद्धिक मूल्य भले ही मिले हों, शुद्ध प्रयोगवादियों को भ्रम, सन्देह, थकन, हार, निराशा और अनास्था ही मिले। 'नए कवियों' ने मानवीयता में उसकी पूर्ण स्पष्ट न सही, अर्ध-स्पष्ट झाँकी अवश्य पाई। अपनी 'ठंडा लोहा' रचना में धर्मवीर-भारती अपनी दुखती रगों पर ठंडे लोहे का अनुभव सघनता से करते हैं, पर यह ठंडापन केवल उनका नहीं, समूचे मध्यवर्ग का है जिसकी क्रांति-भावना मर चुकी या मरणोन्मुख है। सन् १९५० के बाद की 'नई कविता' ने इस ठंडे लोहे के कवच को उतार कर सक्रियता का लक्षण प्रकट करना आरंभ कर दिया। 'इत्यलम्' में अज्ञेय हारकर भी भविष्य के प्रति आस्थावान् दीखते हैं।[2] कभी प्रिया का प्रेम आस्था का विषय बन गया है।[3] 'नई कविया' में ओढ़ी हुई आरोपित बौद्धिकता कम हुई है और उसे रचनाकारों ने अनुभूत बनाने का प्रयास किया है। सहजात प्रवृत्तियों के उद्दाम उद्वेलन का छद्म भावुक रूप भी घटा है। प्रयोगवादी कवि प्रकृति पर अपनी कुंठा उड़ेलता रहा, जिसमें जीवन-दर्शन का अभाव और व्यक्ति-मोह की प्रधानता थी। 'नई कविता' ने प्रयोगवाद के युगीन एवं अनिवार्य तत्त्वों को लेकर उनका विकास किया और सामंजस्य का प्रसार किया। जिसमें प्रतिक्रिया से अधिक संश्लिष्टता और समंजन की प्रवृत्तियों की स्पष्ट प्रेरणा निहित थी। उसमें कोरी प्रति-क्रिया के तत्व प्रेरक नहीं थे। वह मानव को बाह्य आरोपणों और निषेधों से मुक्त करने की चाह से उन्मिष्ट रही। वह आत्म-जन्य विवेक और अन्तर्ज्ञान

---

१. 'नये पत्ते' (पत्रिका), मार्च, १९५३।

२. 'इत्यलम्', अज्ञेय, पृ० २१७।

३. 'हरी घास पर क्षणभर', अज्ञेय, पृ० १४, ५४।

( इनट्युशन ) को प्रश्रय देती है। वह विषय को अवचेतन मन के अनुभूत बिम्बों के रूप में व्यक्त करती है।

प्रयोगवाद विद्रोहीपन में विश्वास करता रहा, 'नई कविता' आधुनिकता के प्रति जागरूक रही है। आधुनिकता नवीन परिवेश और सन्दर्भ में नए एवं उपयुक्त मूल्यों पर आधृत होती है। वह विज्ञान की विविध शाखाओं से प्राप्त सत्यों से मूल्य-निर्माण करने की आकांक्षिणी रही है, जबकि प्रयोगवाद मानस के अन्तरीय सोपानों और स्तरों में संचरण को ही मूल्य मानता रहा। वह ( नई कविता ) आधुनिक परिवेश से जुड़ना और उनके साथ विधेयात्मक ( पॉज़िटिव ) सम्बन्ध की समर्थक है। उसमें बौद्धिकता के आग्रह की अपेक्षा, जीवन के समकालीन रूपों के प्रति नए राग-बोध का उद्बोधन-प्रकाशन होता है। आधुनिक परिवेश और विज्ञानोपलब्ध ज्ञान को साधन बनाकर वह अपनी अभिव्यंजना-पद्धति का भी नवीनीकरण करती है। उसमें आधुनिक जीवन की स्वीकृति का स्वर है, भय, पलायन या गोपन का नहीं। वह स्थानीय मानव तक सीमित न रहकर विश्व-मानव से आत्मीयता और पहचान बढ़ाने का अनुमोदन करती है। उसने मानवीय ऐक्य, अन्तर्राष्ट्रीयता, राष्ट्रीय स्वाधीनता, विश्व-सहयोग को वांछनीय और विनाशकारी युद्ध-शीलता को निषिद्ध माना है। वैज्ञानिक उन्नति का सत्पथ और स्वस्थ प्रयोग वह वर्जनीय नहीं मानती, उसका लाभ उठाना चाहती है। मानव-शोषण, अन्याय और वंचना का उसने विरोध किया है। सार्त्र आदि के अस्तित्ववादी दर्शन का उपयोग उसने समकालीन विवशताओं, छलनाओं, असन्तुष्टियों एवं आत्मिक भूख को अभिव्यक्त करने में किया है। वह व्यक्ति और समाज का सन्तुलन चाहती है जो सामान्य मानव-इकाई का संकेतक बन जाता है। वह सीधे वस्तु सम्पर्क से उत्पन्न मौलिक संवेदनों और अनुभूतियों ( भोगी-झेलो ) को काव्य की सामग्री का श्रेष्ठ अंश मानती है जिसे वह 'अनुभूति की प्रामाणिकता' मानती है। अनुभूति के गहरे से गहरे स्तरों को खोलने में वह विश्वास करती है। संश्लिष्ट लम्बे बिम्बों की अपेक्षा वह 'खंडित बिम्बों' और प्रतीकों को अधिक अपनाती है, क्योंकि उसके बिम्ब प्रतीक अर्ध-चेतन मन से आते और चेतना के कल्पनात्मक प्रवाह-क्रम से ग्रहण किए जाते हैं। यह एक प्रकार से अवचेतन मन के धरातल से उठे दिवा-स्वप्नों और स्वप्न-प्रतीकों के समकक्ष होते हैं, जिसमें तर्कात्मक क्रम न होकर एक ऊपरी असम्बद्धता होती है जो स्वयं अपने में एक आंतर-संगति और क्रम-सम्बन्ध को धारण

किए होती है। इस असम्बद्ध दिखाई पड़नेवाले बिम्ब-विधानमें एक भीतरी सम्बन्ध होने से इसे 'मुक्त आसंग' (फ्री असोसिएशन) भी कहते हैं। इनका मूल उद्देश्य तद्वत् बिम्ब न जगाकर और ऊपरी अर्थ-बोध से ऊपर या नीचे जाकर, पाठक की उस संवेदना (इन्द्रिय-बोध) को जगाता है जो उसके समान या सहृद्ध प्रकार के अनेकानेक बिम्बों की सृष्टि कर उन्हें पाठक के चेतन धरातल पर प्रस्फुरित करना होता है। आवश्यक नहीं, इस प्रकार जगे संवेदन कवि तुल्य या कविवत् ही हों। वे कवि से भिन्न भी होते हैं और सहृदय को कवि के शब्दार्थ से प्राप्त प्रत्यक्ष-बोध से अधिक गहरे किए अपने ही बिम्बों का संवेदन-रस प्रदान करते हैं। काव्य-रस या अनुभूति-उन्मेषण एक अद्भुत और विलक्षण स्वात्मानन्द या स्वानुभव होता है। ये बिम्ब अभिधात्मक या लाक्षणिक न होकर प्रतीकात्मक होते हैं जो प्रमाता में उसीके अन्तर्बिम्बों को जगाकर परिषिक्त करते हैं। विभिन्न पाठकों में उनकी प्रतिक्रिया और उद्भूतियाँ भिन्न-भिन्न हो सकती हैं, अतः 'नई कविता', 'अनुभूति का सम्प्रेषण' न कर, 'अनुभूति के संवेदन' में विश्वास करती है। इसका बिम्ब-विधान इसीलिए असचेत और प्रयास-हीन, फलतः सहज और मुक्त होता है। 'नई कविता' में शमशेरबहादुर, कुँवर नारायण, विजयदेव नारायण साही और केदारनाथ सिंह 'मुक्त-आसंग' के बिम्ब-विधान के लिए बहु-चर्चित हैं। इनके बिम्ब प्रायः आसंगों से मुक्त, सहज और स्वप्न-सदृश आनन्द देते हैं। केदारनाथ सिंह के 'आत्म-चित्र' के बिम्ब पूर्व-चेतन (प्रि-कांशसनेस) द्वारा अनुचित्रित हुए हैं। 'शाम' कविता केदारनाथ सिंह के मुक्त-आसंग बिम्ब-विधान का दूसरा उदाहरण हो सकती है। कुँवर नारायण की संध्या-सम्बन्धी प्रसिद्ध रचना 'रोज की तरह' और अजित कुमार की 'फैन्टेसी' अन्य उदाहरण हैं। 'नयी कविता' ने जिजीविषा के साथ मरण-कामना का भी चित्रण किया है; उसमें 'काम' वृत्ति के भी प्रतीक बहुतायत से आए हैं। फिर भी 'नई कविता' में विद्रोह के स्वर मन्द नहीं हुए; हाँ, उनमें औदात्त्य के तत्त्व अवश्य विद्यमान हैं। प्यार, रूप और आकर्षण से भी उसे गुरेज नहीं रहा है, पर यह प्यार आदर्शवादी, वायवीय और आध्यात्मिक न होकर, मानवीय, ऐन्द्रिक और यथार्थ-सम्पृक्त रहा है। दबे काम-भाव को उदात्त रूप में भी प्रस्तुत किया गया है जो मध्ययुगीन आदर्शवाद, छायावादी कल्पनावाद और प्रगति-प्रयोगवादी कुण्ठित वैयक्तिकता या समाजीकरण की सामान्यता से अवश्य ही भिन्न कोटि का रहा है।

●

# छायावादोत्तर मानवतावादी गीत-धारा

लौकिकसत्ता और उसके संचालक मानव को छायावादी काव्य-चेतना की लोकतांत्रिक पृष्ठभूमि में स्वीकृति तो पहले ही मिल चुकी थी, पर मानवीय और मानवीयता के सहज जीवन मूल्यों का जैसा सहज विकास-प्रकाश होना चाहिए था वह छायावादोत्तर मानवतावादी गीत-धारा में ही अधिक स्पष्टता के साथ उद्भासित हुआ। भगवतीचरण वर्मा, नरेन्द्र शर्मा, हरिवंशराय 'बच्चन' शिवमंगल सिंह 'सुमन' और रामेश्वर शुक्ल 'अंचल' में छायावाद की यह मानवमुखी प्रवृत्ति एक निश्चित मोड़ लेती दिखलाई पड़ती है। फिर भी भगवतीचरण वर्मा और 'बच्चन' में 'सामी हालावाद' और 'मधु-दर्शन' एवं नरेन्द्र शर्मा और 'अंचल' में वह स्थूल मांसलता के आग्रहों से ढकी रही है। शिवमंगल सिंह 'सुमन' प्रगतिवादी प्रभाव के निकट रहे और प्रगतिवाद के समर्थक समीक्षक उन्हें प्रगतिशील कवियों में गिनते रहे हैं किन्तु उनके भीतर मानवतावादी और मानवीय रागों के स्रोत जागरूक रहे हैं। अतएव उनमें वादग्रस्तता के कारण उत्पन्न राजनीति प्रभावी नहीं हो सकी है। स्यात् यही कारण रहा है कि मुँहजोर प्रगतिवादी आलोचक उनकी कभी-कभी उपेक्षा भी करते दिखलाई पड़ते हैं। छायावादोत्तर युग में यह मानववाद लगभग उन सभी धाराओं में जो छायावाद के मूल-बोध-भावना से सम्बद्ध और उसके देश-कालोचित अग्रतर विकास के रूप में आई हों, अथवा उसकी तथा-कथित या अंशतः प्रतिक्रिया में अवतरित हुई हों, किसी न किसी रूप में प्रभावी रहा है। इस मानववादी स्वर को यदि सिद्धान्ततः नहीं तो तत्कालीन

सामाजिक और सांस्कृतिक संदर्भों में गहराई से समझ लेना अत्यन्त आवश्यक है, अन्यथा इसे छायावाद का ह्रासग्रस्त रूप या सामाजिक-यथार्थ से पलायन ही समझा जाता रहेगा और इस धारा के साथ समुचित न्याय हो पाना यदि असंभव न होगा तो दुष्कर अवश्य हो जायगा। दुष्कर इस अर्थ में कि यह मानवतावादी काव्य-धारा जो मुख्यतः गीत-प्रगीत प्रधान रही है (यद्यपि उसमें प्रबन्ध भी लिखे गए हैं) अनेक दृष्टियों और कारणों से विरोधपक्ष में रखी जाती रही। इधर छायावाद-काव्य पर अपनी समर्थ लेखनी माँजकर निकले समीक्षक भी, नव-लेखन की समीक्षा और उसकी प्रतियोगिता में आधुनिकतम कहलाने की कामना के वशीभूत, तत्व-चिन्तन की अपेक्षा समय-प्रशंसन में ही अधिक सुविधा देखने लगे हैं। प्रस्तुत लेखक ने यही जोखिम उठाकर इस ग्रंथ के प्रथम और द्वितीय संस्करण को हाथ में लिया था। इसके सामने नव्यतम के समीक्षण और मूल्यांक का प्रश्न उतना ही महत्वपूर्ण है, जितना अन्य अधिक सुधी समीक्षकों के समक्ष, किन्तु स्वच्छन्द-काव्य-धारा के मूल्यांकन-रेखांकन के साथ, उसने यह आवश्यक समझा है कि वह प्रगतिवाद और प्रयोगवाद के साथ ही, उसके सामानान्तर सहज रूप में बहती उस तृतीय काव्य-धारा का मूल्यांकन-प्रयास करे जो उपेक्षित-सी रही है और जिसे सामान्यतः 'छायावादोत्तरगीत-धारा' और अपने विचार से 'छायावादोत्तर मानववादी काव्य' (गीत-प्रगीत-प्रधान) धारा के नाम से अभिहित किया जाना चाहिए। एतदर्थ मानववादिता की मूल चेतना और उसके परिसर्ग-परिवेश का एक सामान्य सर्वेक्षण आवश्यक हो जाता है।

## मानववादी चेतना और उसके सन्दर्भ

छायावादी काव्य में, युग-परिस्थितियों के पदार्थों के संघर्ष की चेतना के साथ, संसार और जीवन की स्वीकृति का स्वर अधिकाधिक उभरता गया है। भारतीय अद्वैतवाद अथवा परमात्मा और आत्मा के ऐक्य एवं प्रत्येक जीवात्मा में परमात्मा के श्रेष्ठ एवं पवित्र अंश के स्वीकार के भारतीय तत्व-दर्शन ने इसको अपने ढंग से घोषित करने का भी पर्याप्त अवसर प्रदान किया है। उसमें वायवीय आदर्शवाद के स्थान पर मानव के प्रकृत रूप और उसकी मानवीयता के समृद्ध आयासों को भी प्रचुर प्रतिष्ठा प्राप्त हुई है।[1] छायावाद के इस स्वर की मध्ययुगीन जीवन-दर्शनों से तुलना करने और

---

१; 'छायावाद के गौरव चिह्न', वही, पृ० ११

उसमें जीवन-जगत् एवं मानवीय अस्तित्व की गरिमा के प्रति समानता की भंगिमा को अधिकाधिक लक्षित करने में, यह पक्ष अथवा यह विशिष्ट अभिवृत्ति और भी स्पष्ट हो जाती है। छायावाद के अधिकांश आलोचकों ने इस अन्तर को अपने-अपने ढंग से संकेतित किया है। आचार्य 'वाजपेयी' ने इसे नूतन सांस्कृतिक चेतना और नई दार्शनिकता की अभियोजना के नाम से इंगित किया है। डॉ० नगेन्द्र ने इसे नव जागरण और स्वच्छन्दता-के प्रोद्भास की संज्ञा से जताया है; किन्तु परवर्त्ती आलोचकों में प्रो० क्षेम ने सन् १९५३-५४ के आसपास ही, अपने 'छायावाद की काव्य-साधना' एवं 'छायावाद के गौरव-चिह्न' नामक सुविस्तृत ग्रंथाकार विवेचन में सर्व-प्रथम अवधारण के साथ, रेखांकित कर दिया है। उन्होंने इसका सम्बन्ध छायावाद में उद्भासित आधुनिक प्रजातंत्रीय प्रवृत्तियों से स्थापित किया है।[1] मानव की मानवीयता और मानव-अस्तित्व की सर्जकता पर अपने प्रचार से महात्मा गांधी और छाया-कवि प्रसाद, निराला, पन्त, महादेवी और रामकुमार वर्मा भी एक नूतन सांस्कृतिक बोध के रूप में उजागर करते रहे हैं। छायावादी, उत्तर छायावादी एवं छायावादोत्तर युग में, अपनी काव्य-साधना को विकसित करते रहनेवाले श्री सुमित्रानन्दन पन्त, रामधारी सिंह 'दिनकर', नरेन्द्र शर्मा एवं केदारनाथ मिश्र प्रभात और मोहनलाल महतो 'वियोगी' आदि कवि अपने परवर्त्ती काव्यों में इस नव-सांस्कृतिक एवं मानव-मूलक विचार-मूल्यों को आनुभूतिक स्वर प्रदान करने के प्रयासी रहे हैं।

स्पष्टतः जीवन-जगत् को मध्ययुगीन दृष्टि में निस्सार, नगण्य, माया अथवा मिथ्या स्वप्न मानने वाली बद्धमूल धारणा छाया-युग में शिथिल हुई है और उसे एक ठोस सत्य के रूप में स्वीकार करने का साहस प्रकाश्यमान हुआ है। छायावाद ने मानव की महत्ता और जीवन के मूल्य को स्वीकृति दी है। यही कारण है कि मानव-हृदय में सामान्यतः उठने वाली प्रवृत्तियों के विविध रूपों के रमणीय, वरणीय और वांछित चित्रों की नाना सर्जनाएँ हुई हैं। यही प्रवृत्ति, मानव को देव-अस्तित्व के समक्ष अपने मानवपन के स्वाभिमान के साथ गौरवान्वित कर जगन्मंच पर उपस्थापित करने में भी प्रतिफलित हुई है। 'कामायनी' में देव-सृष्टि की विलासिता के ध्वंस पर ही मानव-सृष्टि प्रतिष्ठित हुई है। 'श्रद्धा' और 'काम' सर्गों में मानवीय अस्तित्व की वृहत्तर संभावनाओ का निरूपण-प्रतिरूपण हुआ है। 'पन्त' ने स्पष्ट घोषणा की कि 'ऐ मानव यदि तू

---

१. 'छायावाद की काव्य-साधना', वही, पृ० १८३, १८७

मानव बना रह सके तो त्रिभुवन में उसे कोई कमी न रहेगी।'[1] प्रसाद, निराला, महादेवी, राम कुमार वर्मा, नरेन्द्र, दिनकर, भगवतीचरण वर्मा, कुँवर चन्द्रप्रकाश सिंह, बच्चन आदि ने मानव-स्पृहाओं एवं प्रेम-रति-भावना के भावोच्छल गीत गाए हैं।

यह 'मानव-वाद' आदर्श और पराक्रम के आयाम पर 'मानवतावाद' के रूप में प्रस्फुटित हुआ है जहाँ मानव की उच्चतम संभावनाओं, कर्मठताओं और जगन्नियंत्रण की सफलताओं के संकेत चित्र अधिक प्रमुख हो जाते हैं अथवा दूसरे शब्दों में देव-शक्तियों का समस्त वर्चस्व मानव के महिमा-मंडित रूप में ही प्रधानतः उतारा जाता है। मानव के अस्तित्व की सहजताओं और उसकी स्वभाव-गत ईहाओं-इच्छाओं को मानवीयता और मानव के सहज धर्म के रूप में स्वीकार कर जब उसे अपने को अपना ही आदर्श मान लिया जाता है तब यह भावना 'मानववाद' की परिधि में आवेष्टित रहती है। 'मानव-वाद' में मानव-समूह की सामूहिकता और उसके सम्मिलित प्रयास की अपेक्षा मानव के व्यष्टि रूप और उसकी कामना-शीलता को नकार से स्वीकार में परिणत किया जाता है। पूर्व अथवा मध्य युग ने जिन कामनाओं को त्याज्य वासना मानकर उन्हें गर्हित और निम्नोन्मुख घोषित कर दिया था, मानव-वाद उन्हें दुर्बलता के स्थान पर मानव का सहज और अनिवार्य स्वभाव मानकर उसकी शक्ति घोषित करता है। पिछली नकारात्मक निषेधात्मकताएँ खोखली और मूल्यहीन हो जाती हैं। पिछली जीवन-दृष्टियों की तुलना में यह जीवन-दृष्टि, अपरिग्रह और त्याज्यता का नव परिभाषण और जीवन-मरण का नव रेखांकन करती है।

'मानव-वाद' में, पिछले युगों का भाग्य-वाद, विधि-विश्वास, नियति-वाद और सर्वस्व की दैवाधीनता के सिद्धान्त अमान्य से हो जाते हैं। अप-रोक्ष शक्तियों के समक्ष मानव की कृपा जीविता का विश्वास टूट जाता है। कुछ विद्वान् मानववाद के उस पक्ष को नास्तिकता और अति-भौतिक-वादिता का अनिवार्य परिणाम मानते हैं जहाँ मानवावाद मानव को अपना भाग्य-विधाता और जीवन-शिल्पी घोषित कर देता है। समस्त संभावक क्षमताओं को मानव-अस्तित्व-व्यक्तित्व में निहित करने की दृष्टि, उन्हें निरीश्वरवाद और अराजकता भी लग सकती है, और मानबवाद को मुक्त भोगवाद का पर्याय और अनुशासनहीनता का स्वैरी दर्शन भी कह सकते हैं,

---

१. 'मानव' शीर्षक कविता, पन्त 'पल्लविनी'

पर छायावाद की मानववादी दृष्टि से इस प्रकार का कोई संकट आता नहीं प्रतीत होता। छायावादी कवियों की आध्यात्मिकता और रहस्य-भावना ने इस मानववाद को संयत, अनुशासित और मर्यादित करने में पूरा योगदान किया है। इसके द्वारा शताब्दियों से नकारात्मक दर्शन के प्रभाव से मानव-आत्मा पर जमी निष्क्रियता और जड़ता को धोने और उसे जीवन-जगत् में नूतन कर्मोष्मता से भरने एवं गतिशील बनाने के साधन के रूप में नवीन जीवन दृष्टि देने का उपक्रम ही किया गया है। महादेवी वर्मा ने जहाँ मानव को पीड़ा पालने को उसका सामर्थ्य कहकर देव-लोक को चुनौती दी है, वह उच्छृंखला का मानव रूप नहीं. वरन् कर्मठता, सहिष्णुता और अपनी कटु-मधुर उपलब्धियों को स-साहस स्वीकार करने का विशिष्ट तेवर ही भंगिमायित हुआ है। 'कामायनी' के मनु का चरित्रांकन भी इसका बहुत कुछ प्रमाण है कि उच्छृंखला और दायित्वहीनता नहीं, वरन् जीवन और कर्म के परिणाम स्वरूप उत्पन्न नियत फलों की स्वीकृति और मूल्यांकन की रचनात्मक क्षमता ही, मानव को ऊर्ध्वमुखी बना सकती है। उद्दण्डता विशृंखलता की जननी होती है।

मानववाद का मूल मन्त्र जीवन-जगत् के कर्मात्मक स्वीकार और अपनी अन्तर्निहित क्षमताओं की सम्भूतियों के अधिकाधिक अंगीकरण और प्रकाशन से सम्बद्ध है। इस मानववादी स्वर को उसकी सही ऐतिहासिकता और तत्कालीन भारतीय पारिवेशिकता में परखने की आवश्यकता है। पाश्चात्य जगत् में मानववाद का उद्भावन भले ही, भौतिकता के भोग की अधिकाधिक विवर्द्धमान पिपासा और अधिकाधिक दायित्व-हीनता की काल्पनिक सुखाशा में हुआ हो, पर भारतीय काव्य छायावाद में उत्थित यह मानववाद, मानव को भाग्याधीनता के जड़ बन्धन से मुक्त करने और उसकी सक्रियता और सार्थकता को उद्बोधित करने के परिसर में ही गृहीत हुआ है। अतिशय मनोदमन, कामना-निरोध और विराग-निवृत्ति जीवन को खोखली और चतुरों को शोषक जाल फैलाने में ही सहायक होते आए हैं। इस कृत्रिम आत्म-हीनता, निरीह अकर्मण्यता और भीरु कायरता की फाँक को हटाने की ओर न केवल बालगंगाधर तिलक और महात्मा गांधी जैसे राजनीति-पूज्य जन ही प्रयासशील रहे हैं, वरन् स्वामी रामकृष्ण परमहंस, स्वामी रामतीर्थ, स्वामी दयानन्द, विवेकानन्द और महर्षि अरविन्द भी सचेष्ट रहे हैं और अपनी अध्यात्म साधना के भीतर जीवन-जगत् के प्रति एक सार्थक और क्रियात्मक प्रेरणा का नव-सांस्कृतिक उन्मेष जगाते रहे हैं।

यह मानववाद मानवीय दुर्बलता के दार्शनिकीकरण से आगे बढ़कर मानवीय रचनात्मकता, साहसिकता एवं जीवन-जगत् के प्रति एक प्रयोजन-पूर्ण अभियोजन का परिस्फुरक भी रहा है। मानवीय इच्छा-मय अस्तित्व, उसकी अन्त: क्षमताओं और रचना-शीलता को जगाने तथा इस लोक को स्वीकार कर उसे आनन्दमय, रसपूर्ण और स्वस्थ प्रावृत्तिकता के सहारे अर्थ-पूर्ण बनाने का यह अभिक्रम मात्र भोगवाद कहकर नहीं टाला जा सकता। एक सन्तुलित व्यक्तित्व और सार्थक मानवीयता के लिए मानवतावाद में पर्याप्त अवकाश है। पाश्चात्य जगत् में यह एक प्रतिक्रिया मात्र भी हो सकता था, पर तत्कालीन भारतीय परिवेश में शतियों से अनुर्वर और निष्क्रिय बने दास भारत के लिए यह एक आवश्यक युग मंत्र था। शासन-प्रशासन, समाज-व्यवस्था और मानव-मानव के बीच परिवर्त्तव्य समाज-सम्बन्धों तथा घृष्ट मूल्यों की जड़ता में सने भारतीय जन-समाज के सन्दर्भ में, मानववाद एक अनिवार्यता बनकर आया था। एक स्वतन्त्र देश में मानववाद की लहर एक प्रचलन ( फैशन ) या अस्वस्थ स्वच्छन्दता की माँग के रूप में आ सकती है, पर एक विदेशी-शासन-संत्रस्त देश में, जहाँ मानव भेड़, बकरी बनाए जा रहे हों और भारत-माता एक निरीह मेष-माता की तरह केवल तप्त आँसू बहाने के लिए विवश हो,[1] वहाँ मानव में मृत्युञ्जय को जगाना और विश्व भर को मानव के पद-रज-भार से भी लघु बताना, एक विशेष अर्थ रखता है। 'पन्त' ने मानव को 'नख-शिख-शोभन', 'सबसे सुन्दरतम' और 'निखिल सृष्टि में चिर निरुपम' कहा तो निराला ने मानव आत्मा के उस कालातीत व्योमकेश-रूप को उभारा जो विराट् का प्रतीक था। प्रसाद ने मानवता को 'विजयिनी' बनने का महा स्वप्न देखा और महादेवी वर्मा ने मानव की लघुता और देवदृष्टि में उसकी तथाकथित हीनता के भीतर से मानव की सर्वक्षम क्षमता और साहसिक सहिष्णुता को उभार कर एक नई चुनौती का प्रक्षेप किया। मानव हृदय की प्रेम-प्रीति 'उल्लास-पीड़ा, संयोग-वियोग-भावना, नर-नारी के साहचर्य और रसपूर्ण सहयोजन तथा जीवन के वरण और उसके स्वस्थ उपयोजन का यह स्वीकार पिछली मध्ययुगीन जीवन-दृष्टि से जहाँ अपने असन्तोष और विद्रोह का साहसिक प्रकाशन था, वहीं आधुनिक विश्व के नूतन विकासों के नए सन्दर्भों में भारतीय संस्कृति और मानस के नूतन अभियोजन और परम्परा के सार्थक नवीनीकरण का भी संकेतक थी। फलत: नूतन सामाजिक सन्दर्भों में अपे-

---

1. 'जागो फिर एक बार' कविता, दूसरा खण्ड, निराला।

क्षित नई मानसिकता, तदनुकूल मूल्य-विधान और नव्य मानवीय सर्जकता का आरोहण हुआ।

छायावाद के गर्भ से फूटा व्यापक मानवतावाद का यह उत्स सम्पूर्ण हिन्दी कविता का समग्र प्रवाह भले ही न बन सका हो, पर उससे प्रेरित और आगे युग की मनोभूमि में अपने प्रसार करने के प्रयास में अनुरत, उसका एक मधुर, कोमल, सजल, तरल और करुण स्रोत अवश्य ही आगे बढ़ता गया है; यद्यपि समालोचकों और सम्मानित युग-धर्मी पत्रिकाओं द्वारा उसकी आपराधिक उपेक्षा हुई है जबकि सामान्य साहित्य-प्रेमी जन-समाज और ग्रन्थि-हीन सहृदयों द्वारा वह निरन्तर समादृत होता आ रहा है। इस स्रोत के भी दो उपस्रोत हैं—(१) मानव-मानवतावादी गीत विधा, (२) मानव-मानवतावादी प्रबन्ध-विधा। छायावादी काव्य अपने आरम्भ में गीतात्मक, प्रकीर्ण और मुक्तकात्मक ही रहा। नव-चेतना के अभिक्रमणकाल में स्फुट अनुभूतियों, भावों और भाव-कल्पना-स्फुरित छोटे-छोटे बिम्बों से ही आरम्भ हुआ। छाया-कवि केवल अपने संलग्न पूर्ववर्त्ती साहित्य और जीवन-मूल्यों से ही नहीं ऊबा था; वह पिछली मध्य-कालीन जीवन-धारा एवं काव्य के कुछ मूल्यों से भी असन्तुष्ट था। आरम्भ में उसने स्फुट वस्तुओं, वस्तु-स्थितियों, मनःस्थितियों और प्रासंगिक मान्य-ताओं के विरोध में फुटकल प्रगीत-गीत रचे। प्रकृति से मानव-सम्बन्धों की एक नई-ताजी अनुभूति-भंगिमा को उभारते हुए उसने प्रकृति और मानव के बीच एक उपेक्षित अर्थवत्ता को उजागर करना आरम्भ किया। उसे तत्कालीन सामन्त मूल्य और अभिजातिक वर्जनाएँ भी रुचिकर नहीं थीं। वह उन मानवीय सम्बन्ध-रूपों और आकार-प्रकारों से भी सन्तुष्ट नहीं था जो व्यक्ति पर निरे बाहर से आदिष्ट थे अथवा जिन्हें एक सामान्य संस्कार-जीवी व्यक्ति, बिना सोचे-समझे अपने पर आरोपित किए जीता रहता। वह अपने वैयक्तिक, सामाजिक और पारिवेशिक सम्बन्धों में, अपने भीतर अथवा 'शुद्ध व्यक्ति' के भीतर की रुचि-अरुचि और अस्तित्व-गत माँगों की भी प्रतिध्वनि चाहता था, जिसे सामन्ती संस्कृति अपनी भौतिक गरिमा के प्रताप में अनसुनी कर देना चाहती थी। इस प्रकार छाया-कविता ने, अपने हृदय की रागात्मक अनुभूतियों, कल्पना-संवेगों, सौन्दर्यानुभूतियों और संवेदनों की मार्मिकता तो स्फुट कविताओं और फिर गीत-प्रगीतों में ही उकेरना अधिक पसन्द किया। यह प्रकीर्णात्मकता उनके रागावेग और कल्पना-मनोरमता के स्फुरणों के लिए तत्वतः अधिक उपयुक्त भी थी।

यह प्रकीर्णात्मकता कुछ आगे चलकर 'प्रेम-पथिक', 'ग्रंथि' और 'आँसू' जैसी भाव-कथाओं अथवा आनुभूतिक लघु प्रबन्धों में भी साकार हुई है। धीरे-धीरे छायावाद के अधिकांश आधार स्तम्भ और प्रस्थापक-कवि भी यह अनुभव करने लगे कि जीवन-जगत् के प्रति अपनी नई रागात्मकता और नूतन मूल्य चेतना को अधिक विस्तृत और सुबद्ध रूप में अभिव्यक्त करने के लिए कुछ प्रबन्धात्मकता का भी आधार लिया जाय। ये कवि, वस्तु के बहिरंग की अपेक्षा उसकी भीतरी छवियों को कल्पना के माध्यम से सापेक्ष साकारता देकर इस प्रकार ऊपर लाना चाहते थे कि उन पर सामान्य परिचय की परम्परागत साधारणता की फाँफ उतर जाय और उनके नूतन जीवन-बोधों और नवीन मूल्य चेतनाओं द्वारा उद्घाटित वह नई वस्तु पहचान पर ग्राह्य हो सके। वे साधारणताओं में निहित-उपेक्षित असाधारणताओं को उत्कीर्ण करने लगे। इस प्रकार नए सौन्दर्य-बिम्बों और अनुभूति-चित्रों से जगमग उनके प्रकीर्ण प्रगीत-काव्य की धारा वेग से बह उठी।

छाया-कवियों की अपनी धारणाएँ, रुचियाँ, रागावेग, अनुभूति स्फूर्तियाँ और मूल्यांकन सम्बन्धी अवधारणाएँ, निश्चित था कि इस चिन्तन भेद और नव-सांस्कृतिक प्रस्थान भेद के कारण, परम्परा-पोषित सहृदयों और पाठकों को अपने पारम्परिक अभ्यासों से कुछ विलग या भिन्न प्रतीत होतीं। धीरे-धीरे उन्हें भी यह बोध होने लगा कि उनका नवीन चाहे जितना भी तात्विक और आधारभूत हो, उसे सम्प्रेष्य और परानुभूति का विषय भी बनना होगा। ये बोध चेतनाएँ नितान्त वैयक्तिक और उनकी निजी विशेषता या व्यक्ति-भेद बनकर न रह जाएँ और उन्हें उत्तरोत्तर जन-समूह की चेतना की भी स्वीकृति मिले। अतः उनकी दृष्टि भी प्रबन्धात्मकता की ओर गई। इसमें उन्हें कई सुविधाएँ भी संभाव्य थीं। जिसे कोई कवि की नितान्त विचित्रता या विलक्षणता कहकर टाल सकता था, वे जब प्रबन्धागत पात्रों और वस्तु स्थितियों के सन्दर्भ में उजागर होंगी तो वह कुछ अधिक संभावनाओं के साथ परकीय और अन्य संभव भी प्रतीत होने लगेंगी। इससे सुबोधता, लोक-प्रियता और लोक-विस्तार की संभावनाओं का पथ अपेक्षाकृत प्रशस्त होगा। काव्य में सुबोधता आएगी और प्रबन्ध-शैली की सापेक्ष वस्तुवत्ता के कारण उसमें अमूर्तों का सम्मूर्त्तन और अरूपता में सरूपता का फैलाव होगा। फलतः 'प्रेम-पथिक', 'ग्रंथि', 'आँसू' आदि भाव-कथाओं और अनुभूति-वृत्तों की परम्परा सन् १९३६ तक 'कामायनी' महाकाव्य की प्रबन्धात्मकता में परिणत होकर हिन्दी-जगत् के सम्मुख

आई। समालोचकों का यह आरोप कि छायावादी काव्य-चेतना केवल मुक्तक काव्य के लिए ही उपयुक्त हो सकती है, इसमें प्रबन्धों की गुंजाइश नहीं है, सहसा चकित होकर ठिठक गया। 'दिनकर', केदारनाथ मिश्र 'प्रभात', मोहनलाल महतो 'वियोगी' आदि कवि जो वर्णन, वृत्त, शील और कथा का आधार लेकर प्रबन्ध अथवा निबन्ध-कविताएँ (वस्तु-परक, वर्णनात्मक एवं विचार-परक लम्बी कविताएँ, प्रबन्ध काव्य नहीं) लिखते आ रहे थे, उन्हें भी प्रबन्धों को प्रेरणा मिली। आगे चलकर 'आर्यावर्त्त' की ऐतिहासिकता, 'दिनकर' की सामाजिक यथार्थ चेतना और 'प्रभात' की नम-मूल्यात्मकता का विकास हुआ।

श्री सुमित्रानन्दन पन्त मूलतः सौन्दर्यवादी कवि रहे हैं। सौन्दर्यानुभूति के लिए कल्पना साधन और उपकरण रूप में अनिवार्य ही होती है। सौन्दर्य का एक अनिवार्य पक्ष वस्तुवत्ता या वस्तु-परकता भी है, क्योंकि सौन्दर्य को चाहे द्रष्टानुभूति कहा जाय या संवेदना की प्रमाता-गत संवेदना, वह कहीं न कहीं अपने बाहर की वस्तुवत्ता से अवश्य ही जुड़ा होगा, अतः पन्त को यदि मूलतः और अन्य छाया-कवियों को अपेक्षा अधिक वस्तुमुखी या बहिर्मुखी कवि कहा जाय तो अनुचित नहीं होगा। सौन्दर्यात्मक कल्पना से प्रेरित प्रगीतों और कविताओं के कुशल चित्रकार और सजग भाषा-शिल्पी 'पन्त' ने भी आगे चलकर स्फुटता का विकास करते हुए प्रबन्ध-लेखन का सहारा लिया। उनके रूपकों और कल्पना-प्रधान वर्णनों की कविताओं ने उन्हें 'लोकायतन' जैसे प्रबन्ध-काव्य के लेखन की ओर प्रेरित किया। 'दिनकर' के 'कुरुक्षेत्र', 'रश्मि-रथी' और 'उर्वशी' जैसे प्रबन्ध युद्ध और शान्ति, जाति-पाँत से ऊपर उठे मानव के आन्तरिक श्रेष्ठत्व, साहसिकता, औदात्त्य और मानवीय प्रेम-सौन्दर्य-परक चेतनाओं के विविध आयामों की सन्तोलक काव्य-दृष्टि उनके प्रबन्धों से साकार होने लगी। 'पन्त' की कवि-चेतना ने प्रकृति, दर्शन, संस्कृति, गांधीवाद, प्रगतिवाद और आरविन्दिक भागवत जीवन तक सोपान-गमन किया, कभी प्रगतिवादियों से निन्दित, कभी प्रशंसित और पुनः निन्दित होते रहे; उन पर नव-रहस्यवादी, वायवीय और पुनरावर्तनवादी होने के आरोप आते रहे, पर छायावादी काव्य की मूल मानववर्त्ती चेतना नें कोई अवरोध नहीं माना। शिल्प-शैली की दृष्टि से नये प्रयोगों की ओर भी गए, पर मानव-धर्मिता और मानवीयता का तत्व उन्होंने नहीं छोड़ा। मानव-मन की 'डाली-डाली' और उनके अनेकविध सुमनों को

चुनने-परखने की उनकी 'गुंजन' की चेतना निरन्तर सस्पुष्ट होती गई, और उनकी ऊर्ध्व-चेतना, अन्तर्विकास, दिव्य जीवन और भूतात्ममिलन की स्वर्ण-दृष्टि मानव-चेतना के आयामों से अपने को विरत न कर सकी। 'लोकायतन' में लोक-चेतना के द्वार-वन्दनवारों की नव-नव सज्जा के अभियोजनों से उनके काव्यात्मक प्रयास सक्रम रहे। नरेन्द्र शर्मा ने भी स्फुट गीत-प्रगीतों की सहज मानवीयता को 'द्रौपदी' जैसे प्रबन्धों में अभिव्यक्त किया है। भगवतीचरण वर्मा काव्य से उपन्यासों की ओर मुड़ गये और अपनी प्रबन्धात्मकता को तुष्टि दी। 'बच्चन' जी अपनी विशिष्ट और खुली रोमानी रागात्मकता के साथ गीतों में ही परिसीम रहे। महादेवी वर्मा अपनी प्रतिभा की एकनिष्ठ काव्य-साधना को गीतों को ही समर्पित करती रही हैं। उनके रहस्यवाद में मानवीयता की गौरवानुभूति आदि से अन्त तक गुंजरित रही है। छायावादी काव्य के बीच उदित यह मानववादी मानवीयता आज तक मुखर होती रही है, जिसमें मानव की गुरुता, अस्तित्वगत सार्थकता, मानवीय स्वाभिमान, मानवीय आकांक्षाओं के औचित्य, अधिकार-रक्षा, न्याय, बन्धुत्व, स्वाधीनता और समता के भाव बराबर उन्मिष्ट और प्रद्योतित होते आ रहे हैं। एक तो ये कवि अपेक्षतया समर्थ और प्रतिभावान रहे हैं, दूसरे इन्होंने सबल और प्रेरक प्रबन्धों का सहारा लिया है, फलतः ये लाख प्रयासों के बावजूद उपेक्षित और आच्छादित नहीं किए जा सके।

## मानववादी गीत-प्रगति-धारा

छायावादोत्तर काल में (उत्तर-छायावाद-युग के पश्चात्) मानववादी गीतों की एक सहजोत्फुल्ल धारा प्रवाहित होती आ रही है। ये गीत मानववादी इसलिए कहे जाएँगे कि इनका मूल विषय मानव की मानवीयता के सहज और प्रबल राग रहे हैं और यह धारा राजनीति, अर्थशास्त्र अथवा सम्प्रदाय के स्तर पर किसी भी दल से प्रतिबद्ध नहीं रही है। इसकी मूल प्रतिबद्धता मानव के सहज-तरल अस्तित्व, उसकी रूप-सौन्दर्य-चेतना, प्रेम-विरह, आकर्षण-विकर्षण, प्रकृति और मानव के भाव-कल्पनामय सम्बन्ध, जीवन की उत्फुल्ल रसमयता, सरस पारिवारिकता, नर-नारी के उदात्त सम्बन्धों और मानव के मन-आत्मा के समृद्ध आकांक्षा-स्वप्नों से रही है। छायावादी आलम्बन-गत कुहासा, द्व्यर्थक रहस्यात्मकता, छद्म आध्यात्मिकता अथवा शुद्ध प्रकृति-विलास से आगे बढ़कर इन

गीतकारों ने मानव-अस्तित्व के सत्यम् और शिवम् को सुन्दरम् के रागात्मक धरातल पर उतार कर उसे अनुभूति की ऊष्मा का अन्तस्ताप प्रदान किया है। इनमें दर्शन का घटाटोप न होकर मानवात्मा की सहज-स्वीकारात्मक वृत्तियों का भावात्मक गायन हुआ है। छायावाद के प्रेम-सौन्दर्य में, रहस्यवाद से कम, किन्तु फिर भी एक अंश तक विराट्ता और कल्पनात्मकता का चमत्कार सम्मिलित रहा है। सीमा के साथ असीम, सान्त के साथ अनन्त और श्लिष्ट प्रतीकात्मकता का आग्रह-आवरण भी इनमें नहीं अपनाया गया है। मानव की सरसता, सजलता, कोमलता, उदारता, सुकुमारता, सौन्दर्यशीलता और तरलता को मुख्यता देने के कारण कुछ लोग इसे प्रेम-शृंगार अथवा सौन्दर्य-प्रेम के गीतों की परम्परा भी कह देते हैं और प्रयोग, प्रगति, नएपन, अ-कविता एवं बीटल वर्ग के नवलेखक इसे 'मंचीय कविता' कहकर भी अभिनिन्दित और कदर्थित करते रहे हैं; पर ये गीतकार जन-मानस को सर्वाधिक आकृष्ट करते रहे हैं और अपनी प्रतिभा के स्तर के अनुकूल इन्हें लोकप्रियता और मान्यता भी प्राप्त है। इनके बिम्बों और प्रतीकों में अमूर्तन की चेष्टाओं की अपेक्षा ठोसपन, मूर्त्तता और संवेदकता की दृष्टि प्रमुख दिखलाई पड़ती है। इन गीतकारों का प्रयास चौंकाने, आतंकित करने, उद्विग्न बनाने, व्यंग्य-विद्रूप करने, अपने को अजनबी रूप में प्रस्तुत करने, नग्न भाषा में वर्जनीय और अश्लील को खुली भाषा में कहकर हतप्रभ करने या मन को तिक्त बनाने की ओर न होकर, भाषा-छन्द के सहज-तरल लय-विधान के माध्यम से मानव-मन को आकृष्ट और विभोर करना रहा है। ये विसंगति, संत्रास, व्यर्थता, अस्वीकृति, परम्परा-भजन, मूल्य-निषेध और गद्यात्मक बौद्धिकता की अपेक्षा संगति-सामंजस्य, उत्फुल्लता, आशा, उल्लास, सार्थकता, रचनात्मक स्वीकृति, परम्परा-योजन और समूल्य बोधों के उद्-बोधन-सम्प्रेरण को अधिक महत्व देते रहे हैं।

मानवीयता, राष्ट्रीयता, अपरीति-कुरीति-विरोध, रूढ़ि-भंजन, विश्वात्मक भाव, समता, स्वतंत्रता, बन्धुत्व, निर्जातीयता, धर्मान्धता-खण्डन और मानवीय एकता, प्रकृति के रमणीय परिवेश, सुखद भाव-परिवेश और उदात्त-उदार भावनाओं का उन्मेषण इनके गीतों की आस्था रही है। इनकी रचनाएँ स्फुट गीतात्मक, संगीत-तत्व से पोषित और अन्तर्बाह्य लयात्मकता के समंजन से परिसाधित होती हैं। छायावाद से विकसित प्रतीकात्मकता, नाद सौन्दर्य, ध्वन्यात्मकता, लाक्षणिक मूर्त्तिमत्ता से सबल विशेषण-व्यंजना,

प्रकृति का मानवीकरण, प्रकृति की उद्दीपनकारी परिवेशणा, पूर्ण बिम्ब-विधान (खण्डित बिम्ब-विधान के प्रतिकूल) और परम्परा से प्राप्त भाषा-संस्कारों की पिछली शक्तियों और अभिव्यंजनाओं की परिमार्जना—आदि ऐसी प्रवृत्तियाँ हैं जो इसे छायावादी काव्य की सहज अगली कड़ी का महत्व प्रदान करती हैं। छन्दों के तोड़ने, गद्यात्मकता, बौद्धिकता, वैज्ञानिक और प्राविधिक क्षेत्रों के अनगढ़ प्रतीकों के चयन में इनका विश्वास नहीं रहा है। इन गीतकारों के समक्ष अभिव्यक्ति के संकट का प्रश्न भी उतना भयावह और अराजक नहीं रहा है जो प्रयोगवाद, नयी कविता और साठोत्तरी कविता के साथ रहा है। ये भाषा से अधिक कथ्य, भाव, अनुभूति, राग और संवेदना की तीव्रता को महत्व देते हैं। इन्हें राहों के अन्वेषी होने का इलहाम भी नहीं रहा। बाह्यारोपित वर्जनाएँ या आयातित मनो-ग्रंथिलता का इन्हें आकर्षण नहीं रहा। अनुभूतियों और बोधों को अधिका-धिक सम्प्रेष्य बनाने को ओर इनकी दृष्टि अवश्य रही है। यही कारण है कि जन-मानस और सामान्य सहृदय-वर्ग इन्हें ही कवि और इनको कविता को हो कविता मानकर सुनता-सराहता आ रहा है। 'धर्मयुग', 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान', 'दिनमान', 'प्रतीक', आदि सम्प्रदायबद्ध पत्रिकाएँ इन्हें भले भाव से न अपनाएँ और प्रकाशित न करें, पर 'आकाशवाणी', 'जन-समारोह', राष्ट्रीय पर्वोत्सव, सहृदय साहित्यिक समाज और संस्थान इनको समादृत करते तथा अपने स्तर पर सच्ची कविता का प्रतिनिधि मानते हैं। न इनके 'पाँत्र' 'नात्र' के होते हैं, और न ये 'मछलीघर' या 'काठ की घंटियाँ' बजाते या 'बाँस' के 'पुल' का-सा ढाँचा रचते रहे हैं।

यदि शुद्ध साहित्यिक दृष्टि से देखा जाय तो यह मानववादी काव्यधारा छायावादोत्तर काल में शुद्ध साहित्यिकता का एक प्रकार से अकेले प्रतिनिधित्व करती रही है। 'शुद्ध साहित्यिकता' अथवा 'शुद्ध काव्यात्मकता' से यहाँ हमारा अर्थ उस वैशेष्य की प्रधानता और मुख्य-लक्ष्यता से है जो तत्वतः और मूलत साहित्यकार अथवा कवि का मूल धर्म होता है। यह वैशिष्ट्य है रचनाकार की वह भूमिका जो उसे ज्ञान-बोध की अन्य धारोपधाराओं से विलग और विशिष्ट बनाती है। कवि सर्जक शब्द और अर्थ के समुचित साहचर्य, एकनिष्ठ सहभाव और दोनों के अविभाज्य वैशिष्ट्य को सदा से महत्व देता आया है। आचार्य भरत से नन्दिकेश्वर तक रसात्मकता को काव्य का प्रमुख तत्व माना गया है। 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' के प्रस्थापक 'काव्यालंकार'–कार भामह ने दोनों की 'सहितता' को पारिभाषिक

अर्थ में प्रयुक्त करते हुए अलंकार को भी आवश्यक माना। इस सहित-सौन्दर्य को उद्भट, रुद्रट और रुय्यक आदि अलंकार से उद्भूत मानते रहे हैं और 'तदेवमलङ्कारा एव काव्ये प्रधानम्' का सार निकालते रहे हैं। ध्वनि-वादी 'ध्वनि-तत्व' ( अनभिहित 'अर्थ-सौन्दर्य'-तत्व ) को 'काव्यस्यात्मा ध्वनिः' कहकर उद्घोषित करते रहे। वामनाचार्य के काव्य का यह सर्ववैशिष्ट्य 'रीति' (विशिष्टा पद-रचना), वक्रोक्तिकार कुन्तक ने वक्रोक्ति ( वैदग्ध्यभंगी-भणिति ) को काव्य-जीवित कहा; क्षेमेन्द्र ने 'औचित्य', महिमभट्ट ने 'अनुमिति' और पंडितराज जगन्नाथ ने 'रमणीयता' को काव्य का वैशिष्ट्य कहा। साहित्यिक सामंजस्य से उद्भूत शब्द और अर्थ की "सहितता', 'अलंकृति', 'रसात्मकता', ध्वनि-शीलता, औचित्य, भंगिमा-युक्त कथन, 'अग्निपुराण' की सगुण, दोष-रहित, अलंकृत एवं संक्षिप्त इष्टार्थता, राजशेखर की 'उक्ति-विशेषता' ( उक्ति-विशेषं काव्यम् ), आचार्य पं. महावीर प्रसाद द्विवेदी का 'बिम्बात्मकता', 'आनन्द', 'मनोविचारों की तीव्रता' और 'स्वाभाविकता' ( सहजता पर बल देना, आचार्य 'शुक्ल' का कविता को रस-दशा या 'हृदय-मुक्ति' या 'भाव-योग' घोषित करना, 'प्रसाद' द्वारा 'श्रेय-मयी प्रेय रचनात्मक ज्ञान-धारा' को काव्य का व्यावर्त्तक गुण मानना, महादेवी का 'सामंजस्य-मयता', 'आयास-हीनता', 'भाव-क्षेत्र के सत्य की झाँकी' या पर-सम्प्रेष्य भावना-चित्रण' को कविता का विशेषक गुण मानना, 'पन्त' द्वारा उसे 'परिपूर्ण क्षणों की वाणी' या 'सौन्दर्य-मय और मंगल-मय भावों का स्वच्छन्द तथा सुन्दर प्रकाशन' की संज्ञा देना और "निराला' का कविता के लिए पूर्ण-चित्रता और भाव-मयता के गुणों की अनिवार्यता में, तत्व-विशेष अथवा पक्ष-विशेष पर अलग-अलग भले ही अधिक बल दे दिया गया हो, पर सौन्दर्य, भाव, अनुभूति का सहजोद्रेक, भंगिमा, सूक्ष्म अर्थ-सौन्दर्य, रस, रमणीयता, चारुता आदि के नाम-भेद से जिस एक वैशिष्ट्य पर घूम-फिर कर अवधारण किया जाता रहा है, वह है आनुभूतिक सत्यता जिसे कवि अपने कथ्य को बिना रागात्मक स्तर पर ग्रहण किये पा ही नहीं सकता। सौन्दर्य और रमणीयता भी पर-सापेक्ष स्थितियाँ हैं जहाँ संवेदना, भावात्मक स्तर, आनुभूतिक आयाम अथवा रागात्मक बोध अनिवार्य होता है और उसमें श्रोता, पाठक या सहृदय तक कथ्य की प्रेषणीयता या किसी न किसी अंश में 'साधारणी-करण' की आवश्यकता एवं उपयोगिता, हर दशा में, अपेक्षित मानी जायगी। कोई कथन बौद्धिकता, वैज्ञानिकता या दार्शनिक ज्ञान की दृष्टि से चाहे जितना भी महत्वपूर्ण उपयोगी और वरिष्ठ क्यों न हो, काव्य की

दृष्टि से वह तभी श्रेष्ठ होगा जब सम्पूर्ण, कथ्य की ग्रहीति कवि और सहृदय द्वारा समान रूप से ( यदि समान मात्रा या अंश में नहीं तो कम से कम समान दिशा में ) रागात्मक, भावात्मक, रसात्मक, आनुभूतिक अथवा गम्भीर संवेदनात्मक स्तर पर हुई रहेगी। 'रस' को यदि सहृदयगत या प्रमातागत मानकर उसे कविता की निजी इकाई से बाहर की अथवा पाठक परिणति की स्थिति भी मान लें, तो भी यह मानना ही होगा कि यदि कविता की भाषाबद्ध काया में वह प्रत्यक्षतः न भी हो तो भी काव्य को अपने वैशिष्ट्य और अन्य व्यावर्त्तकता के लिए श्रोता, पाठक, प्रमाता या सहृदय तक पहुँचते-पहुँचते ऐसी प्रभावक शक्ति को अक्षुण्ण तो रखना ही होगा। यह क्षमता लालित्य, रागात्मकता, अनुभूति-प्रेरित कल्पनात्मक सौन्दर्य-सृष्टि और बिम्बात्मक अनुभूति से ही उद्भाव्य है। उसे अमूर्त्तता से मूर्त्तता की चारुता तक पाठक को लाना ही होगा।

यदि कविता की कला में मधुरता, सुन्दरता, सर्जनात्मकता, उपयुक्ततम चयन, प्रभाव-पूर्णता, पर-सम्वेद्यता और सामर्थ्य-शीलता की दृष्टि का प्राधान्य आवश्यक, अनिवार्य और व्यावर्तक है तो छायावादोत्तर काल की यह गीत-धारा अपने भीतर समस्त समकालीन इतर काव्य धारा से कविता' अथवा 'काव्य' का अधिक वैशिष्ट्य रखती रही है। औरों की अपेक्षा इस धारा के गीत प्रगीतकार कवि साधारणीकरण, सहृदय-सम्वाद और भाव-परिमार्जन एवं उदात्तीकरण का अधिक ध्यान रखते रहे हैं। अपनी रुचि-अरुचि के विषय-भाव बोधों की वरीयता के कारण वे भी अपने समकालीनों की भाँति, भले ही न्यूनाधिक रूप से व्यक्तिवादियों की सामान्य श्रेणी में स्थूलतः रख दिये जायँ, पर इस वर्ग के रचनाकारों ने अपनी अनुभूति और निजत्व को भी अधिक से अधिक पर-संवेद्य और सहृदय-सम्प्रेष्य बनाने का औचित्य अनुभव करते रहे हैं। इस धारा से इतर लोग अपनी निजता और व्यक्तिता को अधिक से अधिक विलक्षण, सर्व-विलग और सामान्य से भिन्न रूप में उपस्थापित करने के विश्वासी रहे हैं। उन्होंने नूतनता, अत्याधुनिकता, सर्व वैलक्षण्य, अनमेलता, अजनबीपन, विसंगति, कुण्ठा, रोषाक्रोश, अस्वीकृति, सब प्रकार की व्यवस्था से निर्भेद विरोध, मूल्य मात्र की अस्वीकृति द्वारा अपनाने, अपने विश्वास में लेने, आत्म-परिचय को सहृदय-सम्वेद्य बनाने तथा अपने प्रति अन्यों की सहानुभूति अर्जित करने की अपेक्षा, चौंकाने, आघात देने, फटकारने, एकपक्षीय व्यंग्य-विद्रूप करने एवं अपनी असाधारणता, असामान्यता और वैचित्र्य को अधिक से अधिक गहरा करने का प्रयास किया

है। गीतकारों ने अपने और शेष समाज के बीच उस सेतु को निर्मित करने के दायित्व को कभी भी नगण्य नहीं समझा जिससे उन जैसा न भी अनुभव करने वाला व्यक्ति, उनकी विदग्ध वाणी से आकृष्ट होकर, उन तक आने की स्पृहा अनुभव करता है। गीत काव्य की यह सेतु-निर्माणकता इसे इतर कवियों की सेतु-भंजकता से सर्वथा भिन्न खड़ा कर देती है। उनमें राग, अनुभूति और भाव का वह तत्व उन्हें ऐसी भाषा और सौन्दर्य-विधायिनी कल्पना की मूर्त्तता देता रहा है जो छायावाद का पिष्ट-पेषण न होकर उसकी भाषा-शक्तियों और रचनात्मकता का अग्रतर विकास कहा जायगा। इस धारा ने जहाँ छायावादी अमूर्त्तता और कुहर-जाल से आगे बढ़कर रमणीय एवं मानवीय मूर्तता का विस्तार किया है, वहीं छायावादी रहस्यात्मकता, द्वयर्थकता, छद्म दार्शनिकता और कृत्रिम गौरव-मंडल का भी परित्याग किया। अपनी कथ्य-गरिमा और प्रतिभा-प्रभा में वह छायावादी महा-स्तम्भों की तुलना का न भी कहा जाय, उसमें उतना विस्तार और अर्थ-गौरव का तत्व न भी माना जाय, पर इतना निस्सन्देह है कि उन्होंने मानवीय अनुभूतियों और मानव मूल्यों को अधिक स्पष्टता और सहजता के साथ ग्रहण किया है एवं अपनी प्रांजल भाषा, बिम्ब योजना एवं प्रतीक-प्रयोजना में उसे सहृदय-हृदय तक प्रेषित-सम्बोधित करने में पर्याप्त सफलता अर्जित की है।

इस मानववादी गीत-प्रगीत-धारा का विश्वास साधारणीकरण, आत्मीयता-विस्तार, रागोद्बोधन, कल्पना-प्रस्फुरण और भावानुरूप भाषा-चयन में अटूट रहा। प्रगतिवादी कवि वर्ग-संघर्ष, प्रगति और साम्यवादी समाज रचना की घोषित प्रतिबद्धता के बावजूद, बौद्धिक हुंकार, राजनीति-प्रचार और घृणा-प्रचार में पुनरावृत्ति करता रह गया और अपने कथ्य को हृदय, भाव, राग, अनुभूति अथवा संवेदना के स्तर पर उतार कर कथ्य के 'कविता' होने की प्रथम और अनिवार्य शर्त को अधिकांशतः पूरा नहीं कर सका। प्रयोगवादी अप्रयुक्त, अकाव्यात्मक और बौद्धिक तत्व को कविता बनाने के प्रयास में राहें खोजता, 'सप्तक' बनाकर एक शिविर बनाता और परम्परा के विरोध में नूतनता और खुरदरेपन का सौन्दर्य ही निखारने में क्रमशः आस्थाएँ बदलता रहा। 'नयी कविता' विचारात्मकता और बौद्धिकता को नये प्रतीकों के वैचित्र्य से व्यक्त कर 'चमत्कार की सृष्टि की समस्या' का निदान ही करता रहा।[1] फलतः शब्द-चित्र, भाषा-क्रीड़ा, उक्ति-

१. 'क ख ग', अक्तूबर, १९६३, 'मलयज' 'त्रिशंकु', अज्ञेय, पृ० ४१ एवं 'दूसरा सप्तक' को अज्ञेय की भूमिका सन्दर्भित।

विचित्रता, बुद्धि के खण्डित बिम्ब और वाग्बिम्ब के विधान ही कविता के आदर्श रूप में प्रस्थापित हुए। अति-वैयक्तिकता और अधूरी, अपूर्ण एवं साकांक्ष पद-योजना, खण्डित वाक्यांश, जान बूझकर असम्बद्ध किये गये वाक्यों के विन्यास, सायास दुरूहता, सर्वथा नव्य स्थापना एवं कविता को आवश्यकता से अधिक वैज्ञानिक और गद्यात्मक बनाने के प्रयास ने उसमें दुर्बोधता की वृद्धि की। 'नयी कविता' सामान्य एवं मूल्य-निष्ठ-पाठक सहृदयों के लिए अजनबी और आकर्षण की वस्तु बन गयी। अस्तित्ववाद के आग्रह-आयास ने कवि को सहृदय-समाज के लिये अपरिचित, अप्रकृतिस्थ और अजनबी बना दिया। 'नये कवि' ने श्रोता-पाठकों को 'चौकोर' (स्क्वायर) मान लिया और स्वयं नयी कविता बृहत्तर सहृदय-समाज के लिए चौकोर बन गयी। विषय-वस्तु के विस्तार के अत्याग्रह, गत्यात्मक-सौन्दर्य-दृष्टि तथा अति आधुनिकता के व्यामोह, घटमान एवं निकटतम परिवेश की संकीर्णता 'स्वयं भोगे-झेले सत्य और निजी अनुभूति के प्रति अत्यासक्ति के साथ, पुरा-प्रतीकों से मनमाने अर्थ-स्फुटन और शिल्प के नाम पर मान्य शिल्प विधाओं में अराजकता की अवस्था ने उसे शेष सृष्टि के रागों से सम्बद्ध होने में बाधा उत्पन्न की। रागात्मकता का रोमान के के नाम पर बहिष्कार किया गया, साधारणीकरण-मात्र के प्रयास को कृत्रिमता और अकाव्यात्मक घोषित कर देने के अतिरेक ने अवांछनीय व्यक्तिवाद को बढ़ावा दिया, विरलतम बोध ही आदर्श कवि-बोध का पर्याय बन गया। शब्द-संकोचन और अति सामाजिकता ने अर्थ-ग्रहण में जटिलता और ग्रन्थिलता उत्पन्न कर दी। भाषा में आयातित और आरोपित लय के प्रयासों ने छन्दों के मानसिक एवं सांगीतिक प्रभाव की पूर्ण उपेक्षा कर दी। 'साठोत्तरी कविता' ने 'नयी कविता' का विरोध करते हुए भी, उसकी बौद्धिकता, गुह्य प्रतीकात्मकता, नग्न वासनात्मकता, सपाटता, परम्परा-विरोध, प्रतिमा-भंजन, रोषाक्रोश, व्यंग्य-विद्रूप, निषेधात्मकता और मूल्य-हीनता को इतना बढ़ावा दिया कि वह कविता के मूल तत्वों, शब्दार्थ के आन्तर चारुत्व और जीवन-प्रतिबद्धता से अधिकाधिक विरूप और विद्रोही हो उठी। निरर्थकता, मानवीय लघुता, विसंगति, आघातकता और चिबिल्लेपन ने उसे कविता को 'अकविता' बनाने पर उतारू कर दिया।

इस बीच 'मानववादी गीत-प्रगीत-धारा' अपने अवमानित, उपेक्षित निन्दित और अविज्ञापित स्थिति में भी निरन्तर ( मन्द गति से ही सही ) बहती रही है। उसका सन्बन्ध मानव और मानवीयता से जुड़ा रहा।

हार्दिकता और चित्त स्पर्शिता को वह अपना आधार बनाये रही। उसमें अतिरेकवाद की अपेक्षा, सन्तुलन और मध्यमार्ग के प्रति आकर्षण बना रहा। ये अनुभूतियों और भावों के गीत बने रहे हैं। गीत प्रगीत-कवि कविता को हृदय की व्यापी और रागात्मक संचार का माध्यम बनाये रहा। आज वाद रूप में आधुनिकता, वैज्ञानिकता, यंत्रवाद, विसंगति, विघटन, आक्रोश, व्यर्थता और लघु मानव को अपना साम्प्रदायिक और शिविरात्मक आदर्श (मोटो) न मानने वाला सामान्य काव्यप्रेमी और सहज-तरल सहृदय-समाज इसी को कविता के नाम पर आस्वादित और यथा-संभव अपेक्षित या प्रशंसित करता आ रहा है। गीतों की इसी आस्था ने 'नवगीत' को भी जन्म दिया है और आधुनिक परिवर्तित सन्दर्भों और निरीक्षणों को भी रागात्मक संस्पर्श देकर, भापालय के नये विधान में प्रवृत्त रही है। समाज, प्रतिबद्धता, मानवीयता, सार्थकता, रस-बोध और कल्पना की सौन्दर्य-विधायिनी शक्ति और मूल्यवत्ता इसी धारा में नाना प्रहारों को झेलती हुई अवशिष्ट है। गीत कविता की एक उपविधा है, कविता का समस्त समग्र रूप नहीं। अपनी सर्वोत्कृष्ट विशेषताओं के साथ, उसकी सीमाएं भी हैं। वह जीवन की समस्त क्रियाशीलता, समग्र विस्तृति, समूची समस्यामयता एवं यावत् प्रश्न-शीलता को न अपने में उस बिरादरी के साथ समेट सकती है और न जीवन के विराट् वैविध्य का पर्याय ही बन सकती है। वह जीवन की मार्मिकता और गम्भीरता को एक समय एक ही झाँकी दे सकती है। उसमें एकाधिक मनोमुद्राओं और परस्पर-विरोधी वृतियों का एकत्र एवं सुविस्तृत समाहार संभव भी नहीं है और न अपेक्षित ही। गीत-इसी प्रकार प्रबन्ध का दायित्व नहीं ले सकते, जिस प्रकार प्रबन्ध गीत-प्रगीत की सीमित किन्तु अतल मर्म-स्पर्शिता की सर्वत्र सुन्दर इकाई बनने का दायित्व नहीं वहन कर सकता। वस्तुत: गीत-प्रगीत और प्रबन्ध की विधाएँ एक दूसरे की सीमाएँ हैं और दोनों के गुणों के अलग अलग सीमा-निधारक भी। गीत और प्रबन्ध जीवन की आवश्यकताओं और मानव-चेतना की अपेक्षाओं की दृष्टि से एक दूसरे के पूरक भी कहे जायँ तो कोई अत्युक्ति न होगी। प्रबन्ध में विस्तार है तो गीत-प्रगीत में घनत्व, प्रबन्ध यदि वैविध्य के समायोजक हैं तो गीत-प्रगीत एकत्व के नीरन्ध्र घन-रस के उद्दीपक और प्रकाशक। एक दृष्टि से छायावाद की भक्ति साधना, लय संधान बिम्ब-योजना, प्रतीक-विधान, नादात्-व्यंजकता और मानव-केन्द्रिकता इस गीत-धारा में सर्वाधिक सहजता के साथ विकसित हुई है। इसकी कल्पना में अधिक मानवीय संयम, भावुकता में सहज सन्तुलन, मधुरता, कोमलता और

तरलता में अधिक सुगमता और सहजता नहीं है। इस धारा का ऐतिहासिक महत्व इस दृष्टि से अनुपेक्षणीय और अविस्मरणीय है कि इसे पाश्चात्य अराजकता और अस्वस्थ अतिरेक ने सबसे कम प्रभावित किया है और इसमें भारतीय संस्कृति के जातीय बीज सर्वाधिक सुरक्षित रहे हैं। इसलिए आवश्यक है कि इस धारा के कुछ नक्षत्रों का अलग से विवेचन-समीक्षण किया जाय।

## श्रीपाल सिंह 'क्षेम'

छायावादोत्तर मानववादी गीतकारों में प्रो० क्षेम का नाम इस दृष्टि से उल्लेखनीय है कि सन् १९३९-४० के आसपास से ही वे निरन्तर गीतों की साधना में रत रहे हैं और उनकी प्रतिभा और काव्य-शक्ति का सर्वोत्तम गीतों के माध्यम से ही अभिव्यक्त और प्रशंसित होना आ रहा है। प्रयोग, प्रगति, नयी कविता और अकविता के आन्दोलनी झोंकों और चौंकाने वाले नारों से अनातंकित और अडिग रहकर प्रो० क्षेम अविचल निष्ठा के साथ सरल गीतों की रचना में तन्मय रहे हैं। डा० शम्भूनाथ सिंह जैसे गीतों के ध्वजवादी भी सन् १९४७-४८ के आसपास 'नयी कविता' के शिविर में प्रविष्ट होने के लिए, 'सप्तकों' के आकर्षण से प्रभावग्रस्त हो गये। गीत-रचना से एक बार उनकी आस्था डिग-सी गयी और वे बौद्धिक, गद्यात्मक, लयभंजक एवं जटिल प्रतीकों की रचना में खो-से गये। प० जानकी-वल्लभ शास्त्री के गीतों का प्रवाह भी पुनरावृत्ति-ग्रस्त, मन्द और हत-प्रभ सा हो उठा। हंसकुमार तिवारी अन्य भारतीय भाषाओं के काव्यानुवाद के श्रम को स्वतंत्र गीतरचना से अधिक महत्व देने लगे। प्रो० क्षेम के गीतकार पर ये दबाव और प्रचारांतक प्रभावी नहीं हो सके। गीत-विधा और उसकी ताज़ी से ताज़ी अनुभूतिपरक संभावनाओं के बीच सन्तुलित रहकर वे अपने गीतकार की सर्जना को निरन्तर संवारते-निखारते गये। गीत-रचना में व्यसन अथवा अभ्यास-वश लगे रहना एक बात है, किन्तु उसकी सर्जकता में आनुभूतिक और रागात्मक स्तर पर साधनाशील रहना एक दूसरी बात है, जो उन्हें उनके समकालीनों में एक विशिष्ट स्थान का भागीदार बना देती है। इसीलिए इस धारा के (छायावादोत्तर मानव-परक गीत-धारा) के सर्वप्रथम कवि-गीतकार के रूप में उनका नाम सर्वप्रथम लिया जाना ऐतिहासिक के साथ एक सांकेतिक महत्व भी रखता है।

गीत-रचना और उसकी आन्तर गीतिमा, वस्तुतः एक साधना और साहस की अपेक्षा रखती है, वह साहस जो विष को भी पीकर हँसे, पतझरों में भी वसन्त की मस्ती में झूमे और अपने अंधकार को उतारने की अपेक्षा, सहृदयों को, अपने प्रकाश का रस-दान करने का विश्वासी हो—

पतझरों में भी बहारों के गीत गाये हैं,
अंधड़ों में भी किनारों के गीत गाये हैं।
गीत में अपने तिमिर मैंने उतारे न कभी,
रात साक्षी है, सितारों के गीत गाये हैं।

( 'क्षेम', राख और पाटल )

यही नहीं, प्रो० क्षेम गीतकार की क्षमता और दायित्व का एक व्यापक और बृहत्तर आयाम स्वीकार कर गीत-रचना यात्रा पर चले हैं। वे अपने आनुभूतिक दायित्व की निष्ठा में 'गीत को छोड़कर अंगार उठाने' का संकल्प भी पालते रहते हैं—

'गर्जना छोड़कर गुंजार गुँजाया मैंने,
दर्द को आँसुओं को प्यार बनाया मैंने।
आग जब सोने लगी देश के अलावों की,
गीत को छोड़कर अंगार उठाया मैंने॥'

( राख और पाटल से )

गीतों के प्रति प्रो० क्षेम की यह आस्था आरम्भ से ही रही है। 'जीवन-तरी' उनका प्रकाशन-क्रम में प्रथम गीत-संग्रह है, जिसकी अभिनन्दना और अभिवर्द्धना स्व० आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने अपने भूमिका-लेखन के आशीर्वाद से किया है। यह गीत-साधना 'नीलम ज्योति और संघर्ष' नामक द्वितीय प्रकाशित गीत-संग्रह में, गीतों पर आघात देखकर तड़प उठती है और मानव की समूची जीवन-परम्परा में गीत का तात्विक सूत्र खोजने लगती है—

'न छीनो गीत ये मेरे, न छीनों गीत ये अपने।'
... ... ...
हमारे ही अकेले के नहीं, ये गीत सबके स्वर।'

इस प्रकार यह गीतास्था 'जीवन-तरी', 'नीलम ज्योति और संघर्ष' 'रूप तुम्हारा : प्रीति हमारी', 'राख और पाटल' एवं 'अन्तर्ज्वाला' के प्रकाशन-क्रमिक संकलनों में उजागर होती गयी है। 'अन्तर्ज्वाला' गीतकार की आरम्भिक रचनाओं का संग्रह है जो जौनपुर के 'सेवा-प्रेस' द्वारा उनके जन्म-दिवस २ सितम्बर को प्रतिवर्ष मनायी जाने वाली 'क्षेम-यामिनी' के अवसर पर, 'सेवा-प्रेस', जौनपुर के पत्र पारिवार की ओर से 'समय' साप्ताहिक पत्र के 'अर्ध-शताब्दी' समारोह की पूर्व-पीठिका के रूप में प्रकाशित हुआ है। 'वस्तुतः गीतकार की सभी रचनाएँ प्रकाशन सुविधा की कठिनाई के कारण दशकाधिक वर्षों के बिलम्ब से सामने आयीं हैं और प्रकाशन-धर्मी पीछे-पीछे के रचनाकार भी इसी कारण उनके साथ या कुछ प्रसंगों में उनसे पहले और अधिक चर्चित होने का सौभाग्य पा बैठे हैं।

हिन्दी काव्य-मंच और 'आकाश वाणी' के प्रो० क्षेम लोकप्रिय और सहृदयानुरंजक कवि रहे हैं और सन् १९३९–४० से लेकर आज तक, इन ३६–३७ वर्षों के सम-विषम वर्ष-प्रवाह में अभी भी वे ताजे और अनुभूति-पूर्ण गीतकार हैं।

आज भी वे 'मेरे ये गीत किसी उम्र के मुँहताज नहीं' और 'तरुण न भी, मेरे गीतों में तो तरुणाई है' की अभिनव-विश्वासी चुनौतियों को देते चलते हैं। 'राख और पाटल' का पूर्वार्ध 'शोक गीतों' का हृदय-वेधी संकलन है। उत्तरार्ध ( पाटल-अंश ) शृंगार और रोमान की गम्भीर अनुभूतियों से सम्पृक्त तथा शिल्प-सज्जा की ताजगी से मन को डुबो देने वाले सहज-विकसित गीतों का संग्रह है। 'पंखुड़ियाँ' का अंश में सुन्दर, मनोरम, सुशिल्पित और मार्मिक मुक्तकों का संकलन है। 'राख' मृत्यु के शोकावसाद की सघनता, 'पाटल' रूप-सौंदर्य के उल्लास के प्रतीक के रूप में गृहीत हुआ है। 'पंखुड़ियां' रंगीय एवं भाव-सुरभित मुक्तकों की प्रतीकता को व्यक्त करती हैं। इस रचना में भाव, कल्पना और शिल्प का विचित्र सामंजस्य हुआ है। छायावादोत्तर गीतकारों में, किसी में भाव, किसी में कल्पना और किसी में शिल्प की प्रधानता है और किसी न किसी अन्य तत्व की सन्तुलित मात्रा का अभाव भी अनुभव होता है। कुछ गीतकार अपनी वैचारिकता में असन्तुलित हो उठे हैं। प्रो० क्षेम के गीतों में भाव, विचार, कल्पना और कला-शिल्प का अद्भुत और विरल सन्तुलन आश्चर्य-चकित कर देता है। उनके गीतों में चमत्कृत कर देने वाले विशेषण-विशेष्यों के अतिरिक्त विशिष्ट भंगिमायुक्त क्रियाओं का भी

सुन्दर मणिकांचन-संयोग हुआ है। हिन्दी विभक्तियों के द्वारा सद्य:-अर्थ-प्रदायक नव-शब्दों के निर्माण का उनका शिल्प-कौशल, अपने समकालीनों में अद्वितीय है। एक-एक विशेषण और संबोधन में समूचे बंध, अन्तरा और वाक्य-विधान को आपाद-मस्तक प्रकाशित-ध्वनित कर देने की विलक्षण क्षमता इन गीतों में चार-चाँद लगा देती है। जब कि गीत में एक तुकान्त क्रम का विधान चकितकारी बन जाता है। बीच-बीच में आये अन्तरानुप्रास और आन्तर तुक-विधान भाव की गहराई को सघन और प्रच्छादक बना देते हैं।

जैसा ऊपर संकेत किया गया है, प्रो०. क्षेम के गीतों में एक सहज विकास हुआ है। गीतकार ने बाहर के दबाओं और प्रभावों का अपनी अन्तःक्षमता से सामना किया है, वे उस पर अनियंत्रित रूप में हावी नहीं हो सके हैं। नये सामाजिक परिवर्तनों और सांस्कृतिक राजनीतिक चापों से प्रेरणा भले ही ली गई हो, पर वह आरोपित कभी भी नहीं रही है। सन् १९४८–'५० के आसपास लिखे गये 'नीलम, ज्योति और संघर्ष' के 'संघर्ष' खण्ड में कुछ गीत ऐसे भी हैं, जिन्हें 'नव-गीत' विधा का अग्रजन्मा कहा जा सकता है। 'चाह के चकोरे, मत रो कि रात काली है गोरी उजियाली का चन्दा अभी आयेगा'—जैसे गीतों में जीवन के खुरदुरे यथार्थ को भी गीतायित करने का प्रयास किया गया है। उस समय के उन गीतों की भाषा-भंगिमा के खुरदुरेपन को देखकर, 'नवगीत' के आज के प्रमुख कवि डा० शम्भूनाथ सिंह जैसे लोग भी तब उसे गीत के उपयुक्त भाषा कहने में हिचकते थे, किन्तु आगे चलकर उसी दिशा-पथ पर नवगीतों का जन्म हुआ। 'नवगीत' के दोनों प्रमुख तत्व प्रो० क्षेम के तत्कालीन गीतों में उभर कर प्रकट हो रहे थे। 'खुरदुरा यथार्थ' और 'लोक-स्पर्शात्मक कथ्य' जो आज नवगीतों को सामान्य गीतों से विलग करते दिखलाई पड़ रहे हैं, प्रो० क्षेम के 'नीलम ज्योति और संघर्ष' के गीतों में सहजतया प्रतिफलित हुए हैं। न केवल 'मटियारे', 'निंदियारे' जैसे लोक-भाषा के आधार पर प्रस्फुटित शब्दरूप और नव-विशेषण, वरन् लोक-जीवन की सरसता और आम जिन्दगी की निष्ठापूर्ण प्रतिबद्धता भी उनमें स्पष्टतः प्रतिच्छायित है। प्रायः लोगों ने सहज-सामान्य और परम्परा में विकसित गीत रूप को झटके और प्रतिक्रिया की तीव्रता में तोड़कर नव-गीतों को अपनाया है, वरन् कुछ लोगों ने तो रोमानीपन के नाम पर प्रेम-सौन्दर्य और माधुर्यमयी अनुभूतियों का प्रतिशोधपूर्वक तिरस्कार भी किया है। ऐसी दशा में उनके गीतकार के व्यक्तित्व की

विकास-यात्रा में स्पष्टतः एक अजोड़ अन्तराल भी आ गया है। प्रो० क्षेम के गीतों और तथाकथित नव-गीतों में ऐसा कोई साहसिक झटका या अन्तराल नहीं आया है। 'धर्मयुग' में प्रकाशित उनके 'महानगर-बोध' और वर्तमान टूटन की गम्भीर अनुभूतियों की संवेदक पंक्तियाँ प्रमाणास्वरूप ली जा सकती हैं—

(१) 'घबराई सुबह और बौराई शाम,
एक पत्र मेरा भी ले जाना डाकिये, छूट गई पुरुवा के नाम।'

(२) 'रोष-भरी आँधियाँ बहें जहाँ, पाँखुरी तुम्हें दुलार लूँ कहाँ।'

(३) 'खींच गया कोई चादर पैताने से, फिसल गयी फिर नींद आज सिरहाने से।'

(४) 'दृष्टि कहीं झुरमुट में बहक गयी, एक कली चंपा की महँक गयी।

प्रो० क्षेम के इन नव-गीतों में आयातित आधुनिकता और फैशनी यंत्र-ग्रस्तता ( अप्रकाशित 'एक पत्र, पुरुवा के नाम' संग्रह से ) का प्रदर्शन न होकर, वह मानवीय तत्व सदैव वर्तमान रहा है जो यथार्थ को नकारता नहीं, किन्तु उनसे टूट जाने की नियति को न स्वीकार कर, जीवन और परिवेश को जीवन्तता से अपनाने का स्वाभिमानी चेतन संघर्ष और साहसिकता की भरपूर शक्ति निहित है : गीतकार को ग्राम-जीवन की गहरी अनुभूति है, नगरीयता का उसे प्रत्यक्ष झेला अनुभव भी है, अतएव इन दोनों पक्षों में से उसे किसी को भी उधार नहीं लेना पड़ा है। सारी रचनायें सबल आत्म-संघर्ष और जीवन्त व्यक्तित्व की अन्तःक्षमता से ओत-प्रोत हैं। यदि साहित्य और काव्य एक जीवन्त और विकसित व्यक्तित्व की चेतनात्मक प्रतिक्रिया और मानव-साहस एवं मानवीयता के योग-क्षेम की सांस्कृतिक प्रक्रिया है तो प्रो० क्षेम का काव्य साहित्य इस दृष्टि से समूचे छायावादोत्तर गीत-विकास के इतिहास में एक बेजोड़ उपलब्धि है, जहाँ न यथार्थ की अस्वीकृति है और न आत्म-विस्मारक यांत्रिकता का व्यामोह। ये गीत मानववादिता और मानवीयता की निष्ठा से भरी सप्राण एवं सही स्वच्छन्दतः उपलब्धि है।

## शम्भूनाथ सिंह

डा० शम्भूनाथ सिंह में रूप एवं प्रेम-सुख के लिए 'बच्चन' की-सी मरण-कामी दुर्दान्त प्यास की ज्वालाओं का अतुष्ट हाहाकार, निराशा का

कुहांधकार और भोग की एकान्त लालसा की चटकार नहीं मिलेगी। 'बच्चन' ने छायावादी अतिवायवीयता एवं आकाशीय पलायन से विद्रोह तो किया, पर उनके विद्रोह में जवानी की उन्मत्त निरंकुशता और असफलताओं के साथ भयावह नैराश्य की भ्रान्त पुकार भी चीखती सुनाई पड़ती है। 'बच्चन' का विद्रोह जड़ीभूत रूढ़ि-चट्टानों पर सर पटकती हुई भोगतृषित जवानी का विद्रोह है, इसीलिए उसमें धूम-धुंध की मार्ग-रोधी कुज्झटिका भी स्पष्ट है। डा० शम्भूनाथ सिंह में भी रूप की लालसा, सुख-भोग की तृषा एवं प्रेम की पुकार है, पर यह तृषा और पुकार कल्पनाओं के रमणीय चित्रों, प्रकृति के मोहक रूपों एवं आसक्ति-अनासक्ति के बीच एक जीवन-वाही प्रवृत्ति की प्रेरणाओं से संपोषित होकर जहाँ एक ओर पाठकों को छायावाद के अस्पष्ट अनुभूतिलोक से उतार कर जानी-पहचानी भाव-भूमि पर ला खड़ा कर देती है; वहीं अत्यन्त सुपरिचित जीवन-संपर्कों एवं समाज-सम्बन्धों को भी भाव-कल्पना की आन्तरिक फुहारों से रंगीन एवं रस-मय बना देती है। 'रूप-रश्मि' के कवि ने 'छायालोक' में आकर छायावाद की 'छाया' में छिपे 'आलोक' को प्रसारित एवं प्रसाधित किया है। इस गीत-संग्रह में 'पास' और 'दूर' तथा 'आकाश' और 'धरती' दोनों ही जीवनछोरों को अपने कल्पना-पाश एवं अनुभूति-आभोग में सन्तुलित किया गया है। 'प्राण तुम दूर भी, प्राण तुम पास भी' प्रतीक वाले गीत में नारी के माध्यम से जीवन के इन्हीं दो छोरों का समालिंगन किया गया है। 'समय की शिला' प्रतीक वाला गीत कवि की तत्कालीन मनोभूमि का पूर्ण प्रतिनिधि गीत माना जाना चाहिए।

डा० शम्भूनाथ सिंह के गीतों की विशेषताओं में कल्पना की रंगीन सचित्रता, अनुभूति-ऐन्द्रियता एवं भाषा का सहज तत्समता प्रमुख है। श्री सिंह में कल्पना का एक सरस एवं चित्रात्मक प्रवाह विद्यमान है। यह कल्पना गीतों में भाव एवं अनुभूति की ऊष्मता से विरहित होकर सक्रिय नहीं हुई है, उसे भावों एवं अनुभूतियों का समर्थन प्राप्त होता है। यह कल्पना छोटे-बड़े रंगीन चित्रों में प्रस्फुरित होती चलती है और प्रकृति के रूप-संसार में जाकर वहाँ से मधु-मक्षिका की भाँति सुन्दर-सुन्दर दृश्यों, घटितियों एवं रमणीय-दशाओं का चयन कर गीतों में उन्हें नगीनों-सा जड़ती रहती है। इन चित्रों में रूप, रस, गन्ध, वर्ण एवं स्पर्श की तन्मात्राओं का रमणीय संगुम्फन होता है। नीचे की पंक्ति में दिन एवं रात को किस प्रकार कुछ चुनी दशाओं में आकलित किया गया है—

'दिन थे प्रणयहास, निशि प्यार के पाश !'

—( 'छायालोक' )

निम्न प्रकृति-चित्र कवि की सौन्दर्य-सर्जिनी कल्पना का सुन्दर उदाहरण है—

"गगन ने प्रणय-चित्र खींचे नयन में,
उतरती हुई उर्वशी देख घन में,
अचल किन्तु चल चित्र थे हो न पाये,
कि सहसा बुझी रूप की ज्योति छन में।"

( समय की शिला, 'छायालोक' )

डा० शम्भुनाथ जी के गीतों की दूसरी विशेषता है ऐन्द्रिय अनुभूति। उनकी चेतना में ऐन्द्रियता की अनुभूति बड़ी सजग है। रूप, रस, गन्ध, घ्राण आदि से सम्बन्धित इन्द्रियों से वे अपने चतुर्दिक् जगत् की अनुभूति रखते हैं। उनकी कल्पना उनकी ऐन्द्रिय अनुभूतियों के इसी भण्डार से उपादान लेकर गीतों में उत्तेजक एवं प्रभावक चित्रों की सुन्दर योजना करती है। यह ऐन्द्रियता ही उनकी अभिव्यक्ति को इतनी चित्रात्मकता प्रदान कर सकी है। 'पुरवैया धीरे बहो' जैसे गीत उनकी ऐन्द्रिय चित्रात्मकता के प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। 'मैं वह खण्डहर जिसके माथे पर अधियाली साँझ की उतर गयी' जैसी पंक्तियाँ आँखों के सामने छाए निराशा-भार को खण्डहर पर उतरी सायं अधियाली का प्रभावक चित्र साकार अनुभूत-प्रत्यक्ष कर देता है। शम्भुनाथ सिंह में दृष्टिचेतना एवं गन्ध-चेतना से सम्बन्धित चित्र प्रधानतर है।

भाषा की सहज-सरस तत्समता इनके गीतों की तीसरी प्रमुख विशेषता है। उर्दू के शब्दों का आत्यन्तिक अभाव एवं भाव-सम्पृक्त तथा कल्पना-तरल पदावली का चयन इनके गीतकार को 'बच्चन' के अभिधा-प्रधान एवं चित्रविहीन भाव-योजना से सर्वथा भिन्न स्थिति प्रदान कर देती है। 'बच्चन' की भाषा उर्दू के शब्दों का बाहुल्य रखती है। डाक्टर सिंह की भाषा चित्रात्मक, लाक्षणिक एवं रस-मसृण है। तत्समता के साथ क्लिष्टता का सर्वथा अभाव है। अप्रस्तुत-विधानों एवं बिम्ब-योजनाओं में कवि नवीनताओं एवं मौलिकताओं की वीथियों में गया है। उपमान घिसे-पिटे न होकर अनुभूति के मर्मोद्घाटन की दृष्टि से चुने गये हैं।

श्री शम्भुनाथ सिंह ने 'बच्चन' जी के काव्य में आए मानववादका अधिक स्वस्थ, प्रकृतिस्थ एवं कलात्मक रूप में ग्रहण किया है। बच्चन' का मानव एक ऐसा व्यक्ति है, जो भूखा है, प्यासा है, जिसे समाज से घोर असन्तोष है, क्योंकि समाज के वृद्धजनों को उसकी जवानी अखरती है, उसका स्पष्ट-वाद और सहजग्रहण चुभता है। शम्भूनाथ सिंह के मानव के सामने वैसी प्रतिरोधी दीवारें नहीं हैं अथवा वह उन दीवारों के प्रति उतने तीखे रूप में प्रतिक्रियमाण नहीं हैं। इसी से श्री सिंह समाज पर व्यंग्य नहीं कसते, वरन् अपने प्रीति-प्रवण-भाव को सुव्यवस्थित एवं परस्पर सुनियोजित करने के प्रति अधिक सजग दिखलाई पड़ते हैं। 'बच्चन' का प्रणयी सशंक, निराशावादी है; अतः एक त्राण कुंज के निरन्तर शोध में संलग्न दिखलाई पड़ता है, पर शम्भुनाथ सिंह का प्रेमी प्राप्त को ही अधिक प्राप्य और सुन्दरतर बनाने को समुत्सुक है। कदाचित् इसीलिए उनका प्रेमी प्यास को मधुरतर बनाता और भूख को परिशोधित करता दिखलाई पड़ता है।

श्री शम्भूनाथ सिंह की गीतों में अटूट आस्था है, किन्तु साथ ही वे गीतों को ही मात्र काव्य विधा मानने वालों में नहीं हैं; वे चतुर्दश-पदियों एवं मुक्त-वृत्तों में अन्य प्रकार की अगीतात्मक अनुभूतियों को बाँधने की उपयोगिता को स्वीकार करते हैं, जिसे उन्होंने साप्ताहिक 'हिन्दुस्तान' के फरवरी के एक अंक में मुक्त रूप से स्वीकार किया है। ये ध्वनियों और लयों के निरन्तर खोजी और सफल प्रयोक्ता हैं।

प्रकृति के मनोरम दृश्यों की ओर सहज आकर्षण का होना स्वच्छन्दतावादी कवियों का प्रधान गुण रहा है। शम्भुनाथ सिंह जी मुख्यतः प्रेम और रूप के रससिद्ध गायक रहे हैं, फिर भी प्राकृतिक सौन्दर्य के प्रति सहज आकर्षण जहाँ कहीं भी उनकी कविताओं में स्पष्ट होकर उभड़ा है, वहीं हमें गीतों की बजती धुन में प्रकृति की सजीव सुषमा झाँकती हुई दिखलाई पड़ती है। प्रिया की टेर और प्रकृति के सम्मोहन के बीच चित्रित कवि का अन्तर्द्वन्द्व द्रष्टव्य है—

**टेर रही प्रिया, तुम कहाँ?**
**किसकी यह छाँह**
**और किसके ये गीत रे?**
**बरगद की छाँह**

और चैता के गीत रे?
सिहर रहा जिया, तुम कहाँ?
टेर रही प्रिया तुम कहाँ?
किसके ये काँटे हैं
किसके ये पात रे?
बैरी के काँटे हैं
केले के पात रे।
बिहर रहा हिया, तुम कहाँ?
टेर रही पिया, तुम कहाँ?

(टेर, माध्यम मैं)

काव्य-शिल्प को लेकर इधर जो नवीन प्रयोग किये गये हैं, शंभुनाथ सिंह जी भी उसकी चपेट में आये हैं, पर उनका कवि मन की गहराइयों में न जाने किस स्मृति चिंतन में खोया रहता है कि उसके लिए प्रकृति के नयनाभिराम दृश्य 'अवान्तर' हैं। कवि ने अपने आस-पास प्रकृति के जिस सौन्दर्य को देखा है, उसके प्रति अपना पूर्ण आकर्षण व्यक्त करते हुए ऐसे वातावरण की सृष्टि की है जिसमें एक अद्भुत वेदना है, टीस है और कुतूहल है। कवि को जो कुछ कहना है, वह उसे नहीं कह पाता, पर प्रकृति के माध्यम से निर्मित वातावरण सब कुछ कह देता है। प्रकृति को आलम्बन रूप में चित्रित करते हुए कवि ने जिस मानसिक जगत् को शक्तिमत्ता का परिचय एक ही स्थल पर पाठकों को कराया है, वह स्तुत्य है—

ये सभी अवान्तर हैं............
चम्पे के वन में
ऊँचे भीटों वाला वह पद्म-सर,
दुपहर में झींगुर की तीखी आवाजें
जल पाँखी की डुबकियाँ
धूप में नहाती
जल परियों की क्रीड़ाएँ
और

अनासक्त द्रष्टा दो रीती-रीती आँखें,
ये सभी अवान्तर हैं!
घाटी की चोटी में
गुँथे हुए मेघों के फूल
जल के आवर्तों से घिरी
शिलाखण्डों की नौकाएँ,
पीछे से दबे पाँव आ
सहसा आँख मूँदती नटखट पुरवाई,
झरने के पूछे हुए प्रश्न
और
निरुत्तर अनाहत यायावर मन,
ये सभी अवान्तर हैं।
(अवान्तरता)

शम्भुनाथ सिंह की इस प्रकार की रचनाओं में कलात्मकता के दर्शन तो होते ही हैं, साथ ही साथ सांकेतिकता का जो सफल निर्वाह पाया जाता है, उससे एक ऐसे रोमानी वातावरण की सृष्टि हुई है कि जिससे अपने टूटते संस्कारों के साथ पाठक एक अजब ताजगी एवं उत्फुल्लता का अनुभव करने लग जाता है—

बीत गये मन वे दिन बीत गये!
रंगों के क्षण अनगिन बीत गए!
फूलों की हथकड़ियाँ टूट गइ,
कोसों पीछे बन की राहों पर—
चन्दन की गन्ध कहीं छूट गई!
वह बूझी अनबूझी बात गई,
वे गाये—अनगाए गीत गए!

× × ×

दीख रही है कोई राह नहीं,
इस उजड़ी बेगानी बस्ती में—
रहने की अब कोई चाह नहीं ?
पथ के पहिचाने पद हार गए।
पद के अनजाने पथ जीत गए।
( बीत गए मन ! )

इस प्रकार शम्भुनाथ सिंह की कविताओं में स्वच्छन्दतावादी काव्यधारा में हुए परिवर्तनों का क्रम भी देखा जा सकता है।

## श्यामनन्दन किशोर

डा० श्यामनन्दन किशोर उत्तर बिहार के प्रसिद्ध गीतकार हैं। नेपाली, जानकीवल्लभ शास्त्री, आरसी प्रसाद सिंह और राजेन्द्र प्रसाद सिंह जैसे गीतकारों की परम्परा को डा० किशोर ने प्रसिद्धि के शिखर तक पहुँचाया है। 'जवानी और जमाना' शीर्षक कविता से डा० किशोर ने कवि सम्मेलनों में ख्याति अर्जित की। इसी कविता में कवि के संघर्ष और अन्तर्विरोध मूर्त हुए थे। 'जमाना शिथिल नसों का खून, जवानी—ताकत है भरपूर' जैसी पंक्तियों से स्पष्ट हो गया था कि कवि के द्वन्द्व समकालीन जीवनमूल्यों से जुड़े हुए हैं। अपने गीतों के माध्यम से कवि ने समकालीनता और सम-सामयिकता के मिथ को तोड़ने का प्रयत्न किया था।

डा० किशोर मुख्यतः प्रेम और मानवीय भावनाओं के कवि हैं। अपनी संवेदना में वे डा० रामकुमार वर्मा की गीत पद्धति से जुड़े हुए हैं। वस्तुतः बहुत दूर तक डा० किशोर छायावादी ही हैं लेकिन अपनी मौलिक प्रतिभा, गीतात्मकता, भाषाविषयक सरलता और नयेपन के कारण ये छाया-वादोत्तर गीतकारों तक पहुँचते हैं। छायावादोत्तर गीतकारों में एक तरह का व्यक्तिवाद अतिरंजना की सीमा तक पाया जाता है। डा० किशोर व्यक्तिवाद की अतिरंजना से मुक्त होते हुए बृहत्तर मानवीय अनुभूतियों का सृजन कर लेते हैं। उनकी प्रवृत्ति निर्बन्ध से प्रबन्ध की ओर जाती है। इसीलिए वे उद्दाम यौवन की निर्बन्धता को संत संवेदना तक ले जाने में सफल होते दिखाई पड़ते हैं। 'सूरज नया पुरानी धरती' में गीत और लय की अपनी पुरानी जमीन को उन्होंने नवोन्मेष की प्रतिभा और दृष्टि से बदल लिया है।

'शेफालिका', 'विभावरी', 'जवानी और जमाना', 'कमल, बन्दूक और सूरजमुखी' तथा 'ज्वारभाटा' में उनकी गीतात्मकता के अनेक आयाम निर्मित हुए हैं—

**'जिन्दगी तो सफर है मगर रात का' से**

१. सब किसीको विपद ढेर का ढेर है
अश्रु का मुस्कराना कि अन्धेर है
आज दुनिया की महफिल में जो सुन रहे,
जिन्दगी है गजल, दर्द तो शेर है।

२. वाद्य यंत्र न दृष्टि-पथ पर हों
मधुर झंकार लगती और भी
विरह में मधुवन सरीखे दीखते ज्यों
हैं क्षणिक सहवास वाले ठौर भी!

३. पत्थर जल पर तर जाता है
दंश सर्प का झड़ जाता है,
किन्तु डँसा जो गया अमृत से
उसके विष को कौन उतारे!
कैसे हाल लिखूँ अपना रे!

४. वह भी क्या कवि नहीं नचाती
शब्द-शब्द को, जिसकी तड़पन,
वह भी क्या छवि, जिस पर होता
नहीं मुग्ध नयनों का नर्तन!

तरुण जीवन की मोहानुभूतियाँ धीरे-धीरे इन संग्रहों की रचनाओं में विशद क्षितिज प्राप्त करती चली गई हैं। यह विशदता कवि के निरन्तर पक्व होने के क्रम से बँधी है। वे धीरे-धीरे अपनी दुनिया से बड़ी दुनिया में आते गये हैं। उनके सम्बोधनों की प्रिया अपनी से आगे बढ़कर सबकी होती चली गई है। वे बटोरने सहेजने की रागात्मकता को वितरित करने की महिमा देने में सफल होते गये हैं। इसी स्वर पर उनकी रचना

सार्थक और सोद्देश्य हो पायी है। उनके कवि व्यक्तित्व की सफलता का रहस्य भी यही है। उनकी काव्य-यात्रा में वैयक्तिकता का सामाजिकता तक जो विकास हुआ है उसे उनके शब्दों में ही लक्ष्य किया जा सकता है :—

यह दूरी का राज कि लगता
मिलते धरती और गगन हैं
क्षितिज अधर पर लगता जैसे—
मिलते दो-दो प्राण मगन हैं

**यह दुर्भाग्य जगत क्या समझे, अपना ही घर बना प्रवास**
**कौन समझता है दुनिया में कितना महँगा है उल्लास ॥**

इस रचना में विराट् क्षितिज को मिलन की भूमिका में उदात्तीकृत किया गया है। अपना घर प्रवास बनाकर ही महँगा उल्लास प्राप्त किया जा सकता है। वस्तुतः यह एक प्रकार का संतानुभूति है।

डा० किशोर प्रतिभाशाली और भाग्यशाली कवि हैं। अपने जीवन में ही उन्होंने अपनी रचना का मूल्य प्राप्त कर लिया है। उत्तर बिहार में पोद्दार रामावतार अरुण के बाद 'पद्मश्री' का राजसम्मान उन्हें ही मिला है। वे गीत से प्रबन्ध की ओर बढ़ने वाले कवि हैं। आजकल 'मारुतिनन्दन' महाकाव्य की रचना में संलग्न हैं। डा० किशोर आलोचक, वक्ता और पदस्थ अध्यापक तथा सम्प्रति बिहार विश्वविद्यालय में हिन्दी विभाग के अध्यक्ष हैं।

●

# न रुकने वाला प्रवाह

सुविधा की दृष्टि से मैंने शीर्षकों के अन्तर्गत हिन्दी काव्य की स्वच्छन्द धारा को व्याख्यायित करने का प्रयत्न किया है, पर इसमें जो कभी न रुकने वाला प्रवाह देखने को मिला है उससे तो यह स्पष्ट होता है कि इसके विकास की संभावनाएँ अभी बनी हुई हैं। न जाने कितने कवि आज भी इसकी समृद्धि में लगे हुए हैं जिनका उल्लेख स्थान एवं समयाभाव के कारण प्रस्तुत पुस्तक में नहीं किया जा सका।

छायावादोत्तर मानवतावादी गीत-धारा के साथ ही श्री जानकी-वल्लभ शास्त्री और कुछ बाद हंसकुमार तिवारी की भी रचनाएँ सामने आईं। ये कवि भी गीतात्मक ही हैं, यद्यपि उन्होंने स्वतन्त्र प्रगीत और विषय-परक रचनाएँ ही की हैं। श्री गिरिजाकुमार माथुर ने शुद्ध गीत और मुक्तक दोनों ही प्रकार की कविताएँ लिखी हैं। प्रयोग एवं बौद्धिकता से मुक्त 'माथुर' जी के आरंभिक गीतों की सबसे बड़ी विशेषता उनकी संगीतात्मकता है। विश्वनाथ लाल 'शैदा' के कवि में प्रतिभा का अद्भुत समन्वय हुआ है। हिन्दी काव्य में जिस 'हालावाद' का एक बार बड़ा शोर उठा था और उसके नाम पर नग्न स्थूलता का चित्रण चल पड़ा था, उस ओर भी 'शैदा जी' की दृष्टि गई थी, पर वे अपने स्वभाव एवं दार्शनिक विचारों के कारण प्रवाह में आकर भी प्रबन्ध काव्यों की रचना की ओर लौट गए।

गिरधर गोपाल, विजयदेव नारायण शाही, रमानाथ अवस्थी, वीरेन्द्र-मिश्र, धर्मवीरभारती, नीरज, अरुण और किशोर का उल्लेख इसी क्रम में किया जाता है। नीरज के रोमानी गीतों ने इधर लोगों को अपनी ओर काफी आकर्षित किया है। समसामयिक गीतकारों में 'नीरज' में अपेक्षाकृत स्थूल ऐहिकता और नग्नता अधिक है, पर भावों में इतनी स्पष्टता है कि श्रोता अथवा पाठक तत्काल कवि के अभिप्रेत भावों तक पहुँच जाता है। रूप और प्यार का गायक कवि भावों में डूबता अवश्य है, पर भावी आशंका की डोर उसे ऊपर से थामे रहती है—

रूप की इस काँपती लौ के तले
यह हमारा प्यार कितने दिन चलेगा ?

( बादर बरस गयो )

और वह अपनी रूप गर्विता प्रियतमा को सचेत करने लग जाता है—

मत करो प्रिय ! रूप का अभिमान
कब्र है धरती, कफन है आसमान।

( बादर बरस गयो )

जिन कविताओं में उद्बोधन का स्वर प्रधान हो गया है 'नीरज' प्रगति की ओर आस्थावान दिखलाई पड़ने लग जाते हैं—

रुके न जब तक साँस, न पथ पर रुकना थके बटोही !

( बादर बरस गयो )

रूप और वंशी के गायक **रवीन्द्र 'भ्रमर'** की सुरीली तान जड़-चेतन को आन्दोलित करती हुई 'सारे गाँव के जग जाने' का अन्देशा पैदा करती है। जब उनके गीतों में 'हरि सिंगार के फूल' झरने लगते हैं तो केवल बयार के ही अंग नहीं सिहरते बल्कि औरों के भी सिहरने लग जाते हैं। जब वे यह कहने लग जाते हैं—

हेरतीं कस्तूरी का फूल, हिरना-आँखें बड़ी-बड़ी।
चतुर्दिक व्याप रही मधुगंध, कसा मन छलनाओं के छंद,
दंश का कहीं न कुछ आभास, बस जहर चढ़ता घड़ी-घड़ी !

( रवीन्द्र भ्रमर के गीत )

तो केवल उससे समाज में व्याप्त विषमता का ही अर्थ नहीं लेना चाहिए बल्कि उसका अर्थ काव्य-विधा से भी है क्योंकि हम देखते हैं कि उनके गीतों का स्वर स्थिर भी नहीं हो पाया था कि वे प्रयोगों की चपेट में आ गये ।

उदयशंकर श्रीवास्तव कविता को जिन्दगी के लिए आमंत्रित करते हैं—

जिन्दगी,
बेहया, बेशर्म जिन्दगी !
घृणा की कालौंच में
लिपटी हुई, लूट कर फिर लूट से
चिपकी हुई, बौरायी जिन्दगी
कुत्सा की सहेली, पाप की पहेली,
बदसूरत, मैली जिन्दगी ! इधर आ—
ताड़-सा हाथ उठाये मैं एक उम्मीदवार.........
आ !
मुझे जिये जा !!

माध्यम ( वर्ष ५ : अंक २ )

प्रबन्ध काव्य की क्षमता रखने वाले कवि भी स्वच्छन्दतावादी काव्य-धारा के प्रभाव से अपने को बचा नहीं सके हैं। 'छत्रसाल' महाकाव्य के प्रणेता लालधर त्रिपाठी 'प्रवासी' इसी श्रेणी के कवि हैं। उनके 'शाद्वल' नामक कविता संग्रह में स्वच्छन्दतावादी काव्य के सुन्दर उदाहरण भरे पड़े हैं। 'प्रवासी' जी जब रूढ़िग्रस्त समाज से निराश होते हैं तो उस पर एक उपेक्षा भरी दृष्टि डालते हुए अपने निश्चय एवं आत्मविश्वास को ही व्यक्त करते हैं—

तुम चलो लीक से अपने,
मैं वन वन फिरूँ अकेला,
पागलपन का सौदा है,
पागलपन का है मेला !

( निवेदन )

'अमर अभिलाषा' शीर्षक में लिखी हुई कविता में 'प्रवासी-जी' ने जीवन की व्याख्या की है और 'अन्तर्वेदना' में वे कविवर 'पंत' की रहस्यात्मकता का अनुगमन करते जान पड़ते हैं पर लौकिकता के भाव उनमें स्पष्ट हैं। इसी प्रकार 'समाधि की घास' से भी 'प्रवासी जी' के हृदय की कोई छिपी हुई विषम वेदना प्रकट होने के लिये मार्ग ढूँढ़ती जान पड़ती है।

स्वच्छन्दतावाद की दृष्टि से विचार करने पर कुछ ऐसे कवि भी उसकी सीमा में आ जाते हैं जिन्हें हिन्दी की आलोचना परम्परा में विभिन्न वादों की सीमा रेखा में बाँध दिया गया है। गीतों का ढाँचा न होने पर भी 'अज्ञेय' जी की कुछ रचनाओं का भावताप और आंतरिक संगीतात्मकता बड़ी संवेदनीय और गीतात्मक है। व्यक्तिवादिता और अप्रस्तुतों तथा प्रतीकों की नवीनता के आग्रह ने अवश्य ही 'अज्ञेय' जी की गीतात्मकता को एक निश्चित स्वरूप ग्रहण करने में बाधा पहुँचाई है, फिर भी 'अज्ञेय'जी के समान परिष्कृत व्यक्ति-चेतना और वेदनापूर्ण संवेदनीयता आधुनिक युग के बहुत कम कवियों में पाई जाती है। श्री केदारनाथ अग्रवाल की स्वच्छन्द गीतात्मकता प्रगतिवाद के अखाड़े में भी सूख नहीं सकी—

"माँझी न बजाओ बंशी।
मेरा मन डोलता॥"

जैसे गीत उनकी भावस्नात सहज उन्मेषशीलता के पुष्ट प्रमाण हैं। त्रिलोचन शास्त्री, शमशेर बहादुर सिंह, भवानीप्रसाद मिश्र व धर्मवीर-भारती प्रयोग और प्रगति के बिल्लों से न भड़कने वाले आलोचकों को निकट जाने पर स्वच्छन्दतावाद से दूर न मिलेंगे।

'भारती' की आरम्भिक रचनाओं में एक सुकोमल कल्पना और भाषा की उर्दू भरी मिठास मुख्य है। शमशेर बहादुर की रचनाओं में भावों की प्रगाढ़ आन्तरिकता होती है। भवानीप्रसाद मिश्र में अभिव्यक्ति की अनुपम सरलता है, यद्यपि तुकों का मोह कहीं-कहीं खटकता है। 'महामानव' के लेखक ठाकुर प्रसाद सिंह 'अग्रदूत' एवं रामदरश मिश्र की रचनाओं में लोक-गीतों के स्पर्श सरलता और भावुकता को बढ़ाने वाले हैं। श्री रूपनारायण-त्रिपाठी के 'धरती के स्वर', 'माटी की मुस्कान' में तो बदले किन्तु कवि की सरल भावुकता गीतों में मौलिक चिन्तन के साथ उतरी है। इनकी रचनाओं में अधिकतर जन-जीवन की आन्तरिक मनोव्यथा मुखरित हुई है। इसमें सन्देह नहीं कि इस प्रकार इन्होंने परिपाटी के निर्वाह में मौलिक मोड़

प्रस्तुत किया है। कवि को यदि विश्वास का सहारा मिल जाय तो वह असम्भव को सम्भव कर दिखाने का दम भर सकता है—

मैं नया मीत लाया तुम्हारे लिये
हाँ, नया गीत लाया तुम्हारे लिये।
साथियों चीर कर रात की कालिमा
मैं सुबह जीत लाया तुम्हारे लिये।
—रूपनारायण त्रिपाठी ( माटी की मुस्कान )

बिहार के केदारनाथ मिश्र 'प्रभात', मोहनलाल महतो 'वियोगी' की आधुनिकतम रचनाएँ जहाँ स्वच्छन्दतावाद के द्वितीय उत्थान में पली हैं वहाँ उन पर नवीन वातावरण की चेतना भी स्पष्टतः प्रतिफलित हुई है।

श्री महेन्द्र शंकर जो पहले 'अधीर बी० ए०' के नाम से लिखते थे एक सुलझे भावों के गीतकार हैं, जिनमें ताज़गी और नवीनता एक साथ मिल जायगी। इनके गीतों में बिम्बचित्रों की स्वस्थता और स्पष्टता, लोकगीतों की धुनों और भावभूमियों के संस्पर्श मिल जायँगे जिससे उनमें सरसता, लयात्मकता और भावसंप्रेषणीयता का सुन्दर संयोग हुआ है।

जीवन की अनुभूतियों के आधार पर लिखे मुक्तकों में मानवीय भावों को जो सहज अभिव्यक्ति महेन्द्र शंकर जी ने दी है उससे उनकी सूक्ष्म दृष्टि एवं निःसंकोच स्वच्छन्द अभिव्यक्ति का परिचय मिल जाता है जो कवि के यश को स्थिरता प्रदान करने के लिये पर्याप्त हैं :

देखा है मंजिल से राह शुरू होती है,
पहले संकोच से ही चाह शुरू होती है।
पार जाना है तो मँझधार आजमा लेना
दोस्त, किनारे से ही थाह शुरू होती है।
( महेन्द्र शंकर अधीर )

श्री चन्द्रदेव सिंह रोमानी धरातल के एक सक्षम कवि हैं। पिछले वर्षों में इनकी कई पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं जिनमें 'स्नेह-सुरभि', 'साँसों के फूल' की भाषा छायावादी प्रभाव से मंडित तो है लेकिन इनकी भाव-भूमि सर्वथा यथार्थवादी है। इनकी कविताओं में विरह-मिलन के मार्मिक प्रसंगों की अनुभूतियों का सहज चित्रण सुन्दर बन पड़ा है।

इस सन्दर्भ में 'अनगाया सावन' उल्लेख्य है :

अनगाया बीत गया सावन इस बर्ष भी।
अनचाहे खिड़की से झाँकना पड़ा रह-रह
पानी के पन्नों पर नन्हा सा नाम एक
लिखना पड़ा रह-रह
बाँचना पड़ा रह-रह
उतरे बादल मेरे आँगन इस वर्ष भी।

× × ×

पलकों पर बिजली धर होठों पर इन्द्रधनुष
आँचल में बाँधे दो भरे-भरे से लोचन
और भी घिरे क्या कहीं ये घन, इस वर्ष भी ?

श्री दिवाकर 'उद्गार' के प्रकाशन के साथ सामने आये। उन्होंने दिग्भ्रांत-भौतिकता के प्रारम्भिक ज्वारों की अनुभूति पाकर शुरू में विद्रोह के स्वर में गाया—

कठिन राह है किंतु विश्वास अपना,
बढ़े हैं चरण तो बढ़े ही रहेंगे।

इसके साथ ही विश्व-चेतना के प्रति सजग रहते हुए सदैव उन्होंने अपने को विश्व में देखने का अभ्यास भी किया है। 'संसार हमारा है' रचना इस प्रवृत्ति का प्रतिनिधित्व करती है।

'अर्चना के गीत' नामक संग्रह में कुछ ऐसी कविताएँ संग्रहीत हैं जिनमें कवि **शिवसहाय पाठक** की व्यक्तिगत अनुभूतियाँ मुखरित हुई हैं। भावों का वेग जब बढ़ जाता है तब कवि को वाणी नहीं मिलती और जिज्ञासुओं को एक इशारे से बतला देता है कि वे प्रकृति के गतिमान तत्वों से उसके मन की थाह लगा लें :

मेरे मन की बात हर लहर से पूछो,
मेरे तन की बात किनारों से पूछो।
उनके उत्तर से भी सन्तोष न होता हो,
तो मेरे हिय की बात सितारों से पूछो।

इसी प्रकार 'बादलों के पार से···' तथा 'सर्जन-गीत' नामक कविताओं में कवि का विश्वास और उसकी मान्यताएँ मुखर हो उठी हैं।

चन्द्रबली राय 'नवल' के प्यार की राह अनोखी है, जिनमें :

प्यार के पथ पर मूकवाणी रही
प्राण जलते रहे, दृग पिघलते गये।

× × ×

इसलिये शून्य पथ पर, जगत के चरण
लड़खड़ाते रहे, किन्तु चलते गये।

( प्राण-परिमल )

विद्याधर 'मंजु' की 'युगों तक तोड़ न पाऊँ' कविता में भी स्वच्छन्दतावादी काव्य के तत्व मिलते हैं और भूलेश्वर 'पंथी' के रोमानी गीतों के संग्रह 'विपंची' में भी इस काव्य धारा का सफल निर्वाह हुआ है।

हिन्दी कविता का जो बहुमुखी विकास हुआ है, उससे कुछ लोगों को मूल्यांकन में कठिनाई हो सकती है क्योंकि एक ही कवि में एकाधिक प्रवृत्तियों के दर्शन भी हो जाते हैं। डॉ० महेन्द्र भटनागर और डॉ० वचनदेव कुमार का नाम इस सन्दर्भ में लिया जा सकता है। डॉ० वचनदेव कुमार के 'ईहामृग' और 'ओ अजन्मा सुनो' दोनों संग्रहों में इस प्रवृत्ति के उदाहरण मिलते हैं।

**श्याम सिंह शशि ने** सामाजिक विसंगतियों को कविता के माध्यम से अभिव्यंजित कर अनुभूत्यात्मक संचेतना का यथार्थ परिचय दिया है। उन्होंने कविता के माध्यम से जीवन की असंगतियों को नंगा कर सुप्त जन-मानस को आकर्षित करना चाहा है। 'लहू का फूल' कविता-संग्रह में सैन्य-जीवन की खासी संवेदना को शैल्पिक शब्दों में ऐंठने का सफल प्रयास किया गया है। कवि ने जीवन में पीड़ा और व्यथा के बहुत बड़े भाग को स्वीकार करने के साथ ही उसमें छिपे करोड़ों असहायों ( जनता ) की आग को भी पहचाना है। जहन पर तमाचा मारने वाले गहरे अनुभव को पकड़ने की कोशिश ही उनकी काव्य-साधना है। उन्होंने काव्य-संग्रह 'शिलानगर में' सामाजिक जीवन में व्याप्त असन्तोष एवं दर्द को पहचानने का सशक्त परन्तु वैचारिक धरातल प्रदान किया है।

हर एक तरफ से हर किस्म के साँप ने इतना डसा है।
नाग काले का जहर भी अब असर करता नहीं है ।।

यहाँ साँप परिस्थिति-वैविध्य का प्रतीक है। कवि ने नये प्रयोगों के माध्यम से बिखरे खयालों को स्वर प्रदान किया है। 'महानगर में कठफोड़वा' आदि कविताएँ नये प्रयोग और मूल्य की धधकती कड़ियाँ हैं। 'शिलानगर' महानगर और वैज्ञानिक सभ्यता का प्रतीक है जिसके लिए बेरोजगारी, मिलावट, भ्रष्टाचार, गरीबी, दुःख आदि अनजाने तथ्य नहीं है। 'शिला-नगर' फिर भी पत्थर का पत्थर ही बना हुआ है किन्तु कवि की चेतना दर्द से बोझिल होने के बाद भी जाग्रत है—

मुझे अब भीड़ में खोया मामूली मनुज ही रहने दो।
मुझे कुछ और दिन जी लेने दो।

कवि ने 'होरी हँस पड़ा' कविता के माध्यम से आम आदमी को प्रतीकित किया है।

**केदारनाथ कोमल**—की वैयक्तिक संवेदना सामाजिक संवेदना की गरमाहट है। कवि ने 'चौराहे पर' कविता संग्रह में व्यापक परिवेश को आत्मसात् करना चाहा है। जन-जीवन के प्रति अचूक निष्ठा कवि की कविता का फार्मूला है। कवि ने 'लोग' कविता में परिवर्तित परिवेश के रंगमंच पर अभिनय करते व्यक्तियों को इस प्रकार मूर्तित किया है, यथा—

आँखों में आँसू की तरह अटके हुए लोग।
दुखों की आग में सुलगते हुए।
वक्त की भट्टी में, इस्पात की तरह पिघलते हुए लोग !

इन्होंने 'दीवारें' कविता के माध्यम से अवरुद्ध और ह्रासशील युग का नक्शा भी उतारा है। उनकी 'आस्था', 'बेनाम सा दर्द', और 'पत्थर की मूर्ति' कविता में तीव्र संवेदना एवं कसमसाहट है। उनका 'कोहरे से निकलते हुए' नामक दूसरा कविता-संग्रह १९७५ में प्रकाशित हुआ है। इस कविता-संग्रह में कवि ने यांत्रिक स्थितियों में हर किस्म के बदलते संदर्भों का मार्मिक विवेचन प्रस्तुत किया है। यथा 'प्यार' कविता का एक चित्र द्रष्टव्य है—

अब जमाने के साथ, प्यार भी बदल गया है।
और उसने साँप का रूप धारण कर लिया है।
इसलिए। प्यार से डर!'

महानगर की मशीनरी जिन्दगी के कारण समाज में जटिलता एवं विद्रूपता को बढ़ावा मिला है। विज्ञान की भाग दौड़ में मानव जीवन का शान्ति एवं सुव्यवस्था में हलचल पैदा हुई है। कवि ने 'कोहरे' को वैज्ञानिक जीवन-विधान का प्रतीक माना है। कवि ने उपमानों के प्रयोग में जिस मँजाव एवं तराश का अनुभव उपस्थित किया है, वह सशक्त बन पड़ा है। जैसे-'दही की टिकिया सा चाँद', महँगाई। निम्नवर्गीय क्लर्क की राशन के लिए—'रोती लुगाई', आदि उन्होंने 'सवालिया निशान' कविता के आँकड़ों से विसंगतियों को जब्त किया है। उन्होंने परिवेश के अंधेरे के बीच आदमी को आदमी के रूप में परखने की तमीज प्रदान की है।

विश्वनाथ प्रसाद तिवारी ने 'चीजों को देखकर' नामक प्रथम कविता-संग्रह में बदलते संदर्भों में मूल्यों को टटोलने का प्रयत्न किया है। उनका दूसरा कविता-संग्रह 'साथ चलते हुए' सन् १९७: में प्रकाशित हुआ है, जिसमें कवि ने खौफ़नाक परिस्थितियों में जीने वाले आदमी को उपस्थित किया है। कवि ने बंगला और वियतनाम जैसे उभरते जनतांत्रिक देशों के व्याज से मानव मूल्यों को आत्मसात् करने का प्रयास किया है। कवि ने मानवीय पीड़ा को कविता में उतारा है। उन्होंने जीवन की मार्मिकता को विद्रोही ताकतों के खिलाफ प्रस्तुत किया है। कवि ने 'लिखने का 'अर्थ' कविता में प्रेमचन्द, निराला, मुक्तिबोध, राजकमल, धूमिल को इंगित कर सामाजिक अन्याय को दबोचने का साहस प्रकट किया है। उनकी कल की लड़ाई के लिए कविता में शोषकों से जूझने चुनौती दी गयी है यथा—

…पीड़ा से मुक्ति के लिए, सहनी ही होगी पीड़ा
लड़ाई से मुक्ति के लिए

कवि का काव्य-मूल्य अन्तर्राष्ट्रीय मानवता का धधकता दृष्टिकोण है।

इस प्रकार आधुनिक हिन्दी कविता की स्वच्छन्द धारा अनेक भंगिमाओं में आगे बढ़ रही है।

●